प्रमाण- पत्र

(Certificate from Supervisor)

प्रमाणित किया जाता है कि **सुश्री निधि जैन** ने **"अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म जीव सम्बन्ध : एक समीक्षात्मक अध्ययन (आभासवाद, अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद के विशेष सन्दर्भ में)"** विषय पर मेरे निर्देशन एवं मार्गदर्शन में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम. फिल./पी.एच.डी. हेतु न्यूनतम मानक प्रक्रिया) विनिमय 2016 में वर्णित दिशा-निर्देशों की अनुपालना करते हुए शोध कार्य पूर्ण किया है। यह इनका मौलिक कार्य है। यह शोध प्रबंध संस्कृत विषय में विद्यावारिधि (Doctor of Philosophy) उपाधि हेतु वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा को प्रेषित किया जा रहा है।

दिनांक

शोध-निर्देशक

डॉ कपिल गौतम

संस्कृत विभाग

वर्धमान महावीर खला विश्वविद्यालय

कोटा – 324021 (राजस्थान)

शोधार्थी द्वारा घोषणा प्रमाण-पत्र

(Declaration by the Researcher)

यह प्रमाणित किया जाता है कि मेरे द्वारा संस्कृत में विद्यावारिधि (Doctor of Philosophy) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध जिसका विषय **"अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म जीव सम्बन्ध : एक समीक्षात्मक अध्ययन (आभासवाद, अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद के विशेष सन्दर्भ में)"** है। यह मेरे व्यक्तिगत अनुसंधान पर आधारित मौलिक कार्य है तथा उक्त शोध कार्य सहायक आचार्य **डॉ कपिल गौतम** के निर्देशन में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम. फिल./पी.एच.डी. हेतु न्यूनतम मानक प्रक्रिया) विनिमय-2016 में वर्णित दिशा-निर्देशों की अनुपालना करते हुए शोध कार्य पूर्ण किया गया है।
मेरी व्यक्तिगत जानकारी में इस विषय पर कोई शोध कार्य नहीं किया गया है।

दिनांक

शोधच्छात्रा

निधि जैन

(संस्कृत विभाग)

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय

कोटा- 324021 (राजस्थान)

कोर्स वर्क पूर्णता प्रमाण पत्र

(Coursework Completion Certificate)

यह प्रमाणित किया जाता है कि **सुश्री निधि जैन**, संस्कृत विषय, मानविकी और समाज विज्ञान विद्यापीठ, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा-324021 की शोधच्छात्रा ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम.फिल./पी.एच.डी. हेतु न्यूनतम मानक प्रक्रिया) नियामक 2016 के अनुसार विद्यावारिधि (Doctor of Philosophy) उपाधि हेतु कोर्स वर्क (coursework) को पूर्ण कर लिया है।

दिनांक

निदेशक

शोध

वर्धमान महावीर खला विश्वविद्यालय

कोटा – 324021 (राजस्थान)

पूर्व – प्रस्तुतीकरण प्रमाण पत्र

(Pre-Submission Completion Certificate)

यह प्रमाणित किया जाता है **सुश्री निधि जैन**, संस्कृत विषय, मानविकी और समाज विज्ञान विद्यापीठ, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा-324021 की शोधार्थी ने पूर्व प्रस्तुत सेमिनार की आवश्यकता को संतोषजनक रूप से पूरा कर लिया है, जो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम.फिल./पी.एच.डी. हेतु न्यूनतम मानक प्रक्रिया) नियामक 2016 के अनुसार विद्यावारिधि (Doctor of Philosophy) कार्यक्रम का एक हिस्सा है।

दिनांक

निदेशक

शोध

वर्धमान महावीर खला विश्वविद्यालय

कोटा – 324021 (राजस्थान)

Plagiarism Report of The Thesis

From: **Research Deptt., VMOU, Kota** <research@vmou.ac.in>

Date: Fri, Jun 9, 2023 at 12:18 PM

Subject: शोध नकल जांच के बाद शोध ग्रन्थ जमा करवाने बाबत।

To: NIDHI JAIN 9823 <nidhisan19@vmou.ac.in>

Cc: Kapil Gautam <kgautam@vmou.ac.in>

इस ई-मेल के साथ आप द्वारा प्रस्तुत अध्यायों की शोध नकल जांच की रिपोर्ट जो कि 08 प्रतिशत आई है, को संलग्न कर आपको निर्देशित किया जाता है कि आप अपना शोध ग्रन्थ विश्वविद्यालय अध्यादेश में वर्णित नियमानुसार शोध ग्रन्थ सब्मिशन शुल्क रूपये 10,000/- चालान के साथ बैंक में जमा करवाने के उरान्त इस विभाग द्वारा पूर्व में जारी पत्रांक 1721-1722 दिनांक 19.04.2023 के अनुसार शोध विभाग में चालान की प्रति के साथ शोध ग्रन्थ जमा करवा सकती है।

yours sincerely

----SD-----

Director

Research, VMOU, Kota

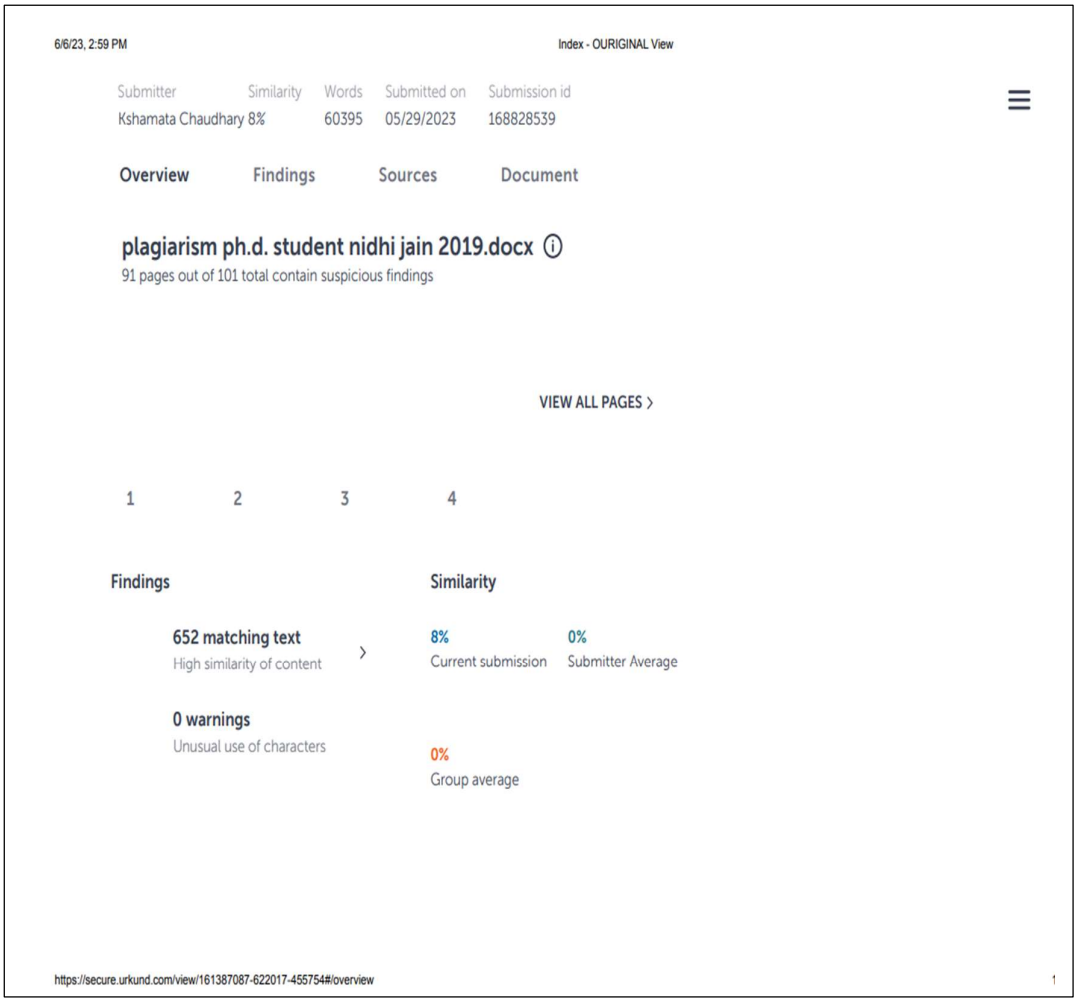

कार्तज्ञम्

भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए विघ्न विनाशक चिंतामणी पार्श्वनाथ भगवान तथा अनेकान्तमय द्वादशांग जिनवाणी माँ को नमन करती हुँ। जैन धर्म के अनुयायि प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ तथा वर्तमान शासन नायक महावीर भगवान को वाणी एवं अर्थ की प्रतिपत्ति हेतु प्रणाम करती हुँ।

मेरे जीवन के आदर्श तथा पथप्रदर्शक, विकट परिस्थितियों में मेरा सम्बल बनने वाले मेरे शोध निर्देशक डॉ कपिल गौतम सर का में आभार प्रकट करती हूं जिनकी कृपा से क्लिष्ट शोध कार्य भी अक्लिष्ट हो गया। जिनके निर्देशन में मुझे यह शोध कार्य पूर्ण करने का अवसर प्राप्त हुआ। आपका मधुर व्यवहार, अनुपम सहयोग, कुशल व विद्वत्तापूर्ण मार्गदर्शन एवं अपनत्व भाव के फलस्वरूप ही यह शोध कार्य संपन्न हो पाया है अतः में गुरु जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हुँ।

पारिवारिक और सामाजिक शिक्षा को संस्कार के रूप में प्रदान करने वाले माता-पिता श्री मुकेश कुमार जैन तथा श्रीमती अंजना जैन जो मेरे मानव जीवन के आदर्श हैं, दोनो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन में मेरी वाणी समर्थ नहीं है।

मेरे गुरु एवं शोधनिर्देशक डॉ. कपिल गौतम सर ने शोधकाल में मुझे ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद्भाष्य वार्तिक, भामती टीका तथा विवरण टीका का अध्ययन कराया। सदैव एक आदर्श शिक्षक, निर्देशक एवं अध्येता के रूप में मेरे लिये प्रेरणा का स्रोत बने रहने वाले में गुरु जी के लिये प्रतिपद कृतज्ञता ज्ञापित करती हुँ।

शोध कार्य को नित नई ऊर्जा एवं दिशा देने में वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा के पूर्व कुलपति प्रो. रतन लाल गोदारा तथा वर्तमान कुलपति प्रो. कैलाश सोडाणी द्वारा विश्वविद्यालय में हमें उपलब्ध करवाए गए बेहतर शोध वातावरण एवं मार्गदर्शन के लिए उनका कोटिशः आभार व्यक्त करती हूं।

शोध कार्य की रूपरेखा तैयार करने और सम्बंधित पहलुओं पर उचित मार्ग दर्शन प्रदान करने के लिए निदेशक शोध डॉ. क्षमता चौधरी मैम , डॉ. सुबोध कुमार, प्रो. बी. अरूण कुमार, डॉ. अनिल

कुमार जैन, डॉ. आलोक चौहान, डॉ.कीर्ति सिंह, डॉ. अखिलेश कुमार और समस्त विद्वतजनों का मैं आभार प्रकट करती हूँ।

इसी कड़ी में विश्वविद्यालय में कार्यरत शोध विभाग से सुरेश सैनी जी के बहुपयोगी सहयोग के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ एवं सभी साथी शोधार्थी के असीम सहयोग का सहृदयपूर्वक आभार प्रकट करती हूँ।

मेरे परिवार के सभी सदस्य निखिल, अंकिता दीदी, दीक्षा, अर्पित सबका मेरे शोध कार्य को पूर्णता प्रदान करने मे अहम् सहयोग रहा। मेरे जीवन कें सु:ख दु:ख के साथी अक्षय जो मुझे सदैव आगे बढने मे सहयोग और हिम्मत प्रदान करते है और जिन लोगों ने भी मेरे शोध कार्य को पूर्ण करने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से सहयोग प्रदान किया है उन सभी का में सहृदयपूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित करती हुँ।

दिनांक

निधि जैन

शोधच्छात्रा

(संस्कृत विभाग)

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय

कोटा- 324021 (राजस्थान)

प्राक्कथन

प्रत्येक प्राणी कार्य करते समय जिस विचार शक्ति का उपयोग करता इसे विवेक कहते है और यही विवेक स्वाभाविक विचार शक्ति होनें से 'दर्शन' शब्द से अभिनिहित हुआ है। प्राचीन काल से ही भारतीय परम्परा में दर्शन का अत्यन्त महत्त्व रहा है **"दृश्यते अनेन इति दर्शनम्"**। अर्थात् दर्शन शब्द दृश् धातु के ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है देखना।[1] यहाँ देखने से तात्पर्य जानने से है। इसी भारतीय दार्शनक चिन्तन परम्परा में षड् आस्तिक दर्शन सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक,मीमांसा-वेदान्त तथा नास्तिक दर्शन जैन-बौद्ध और चार्वाक् दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ।

आस्तिक दर्शनों में वेदान्त तथा वेदान्त में भी भगवान् शंकराचार्य प्रतिष्ठापित अद्वैत वेदान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। श्रुतिस्मृति-युक्तिरूप उपनिषद्-गीता ब्रह्मसूत्र के भाष्य ग्रन्थों और अन्य प्रकरण ग्रन्थों के माध्यम से अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में शंकराचार्य ने स्थान-स्थान पर घटाकाश तथा सूर्य-चंद्रादि प्रतिबिम्ब के दृष्टान्तों और अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास की शब्दावलियों का ग्रहण किया है। उनका मानना है कि जिस प्रकार वह्नि से उठते हुये वह्नि के विकार रूप विस्फ़ुलिंग न तो वह्नि से अत्यन्त भिन्न है, क्योकिं वे भी वह्नि रुप ही है और न ही उससे अत्यन्त अभिन्न, क्योंकि ऐसा मानने पर उनकी पस्पर व्यावृत्ति नहीं हो सकेगी, उसी प्रकार ब्रह्मविकार जीवात्माएँ भी न तो ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न हैं और न ही अत्यन्त अभिन्न। इन दृष्टान्तों और शब्दावलियों के वैविध्य के फलस्वरूप शंकर परवर्ती वाचस्पति मिश्र, पद्मपादाचार्य तथा सुरेश्वराचार्य प्रभृति अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा विविध प्रस्थान प्रतिष्ठापित किये गये। इन्हें क्रमशः आभासवाद, अवच्छेदवाद और

[1] डॉ आनन्द प्रकाश त्रिपाठी, २००६, भारतीय दर्शन, , मैसर्स यूनिवर्सिटी बुक हाउस प्रा.लि. , जयपुर , , पृष्ठ ०२.

प्रतिबिम्बवाद कहा जाता है प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में आचार्य सुरेश्वर द्वारा प्रतिष्ठापित आभास प्रस्थान, भामती तथा विवरण प्रस्थानों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अवच्छेद आदि पक्षों से आभास पक्ष के अन्तर के स्पष्टीकरण के लिए भामती तथा विवरण प्रस्थानों के मूलभूत सिद्धान्तों का ज्ञान अपरिहार्य है, अतएव अन्य अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा अभिमत यथास्थान इन प्रस्थानों के मुख्य सिद्धान्तों का भी उल्लेख कर दिया गया है।

विषयानुक्रमणिका

विवरण	पृष्ठ सं.
कार्तज्ञम्	**VI-VII**
प्राक्कथन	**VIII-IX**
विषयानुक्रमणिका	**X-XIV**
अध्याय - १ अद्वैत वेदान्त दर्शन की दार्शनिक पृष्ठभूमि	**1**
१.१ शंकर पूर्व अद्वैतमत	2
१.२. अद्वैतवाद के विभिन्न स्वरूप	5
१.२.१ शून्याद्वैतवाद	6
१.२.२ वैयाकरणों का शब्दाद्वैतवाद	8
१.२.३ शैवों का शिवाद्वैतवाद	11
१.२.४ शाक्त्यद्वैतवाद	13
१.२.५ विज्ञानाद्वैतवाद	13
१.३. मण्डन और सुरेश्वर की मित्रता तथा भामती प्रस्थान और विवरण प्रस्थान के उद्भव पर इनके विचारों का प्रभाव	15
अध्याय - २ आचार्य सुरेश्वर, वाचस्पति मिश्र एवं प्रकाशात्मयति का व्यक्तित्व एवं कृतित्व	21
२.१. आचार्य सुरेश्वर का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व	22
२.२. वाचस्पति मिश्र का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व	23
२.३. प्रकाशात्मयति का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व	25
अध्याय - ३ अद्वैत वेदान्त के त्रिविध प्रस्थानों का विकास	**27**
३.१. शङ्कर- पूर्व-वेदान्त	30
३.२. वार्तिक प्रस्थान का सामान्य परिचय	33

३.३. भामती प्रस्थान का सामान्य परिचय	34
३.४. विवरणप्रस्थान का सामान्य परिचय	36
३.५. भामती प्रस्थान तथा विवरणप्रस्थान के मुख्य भेद	39
३.६. अद्वैत वेदान्त में वाद	40
३.७. प्रकरण/प्रारम्भिक प्रस्थान	40
अध्याय - ४ अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म जीव सम्बन्ध (आभासवाद, अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद के विशेष सन्दर्भ में)	42
४.१. शंकराचार्यसम्मत ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध	43
४.१.१ ब्रह्म और जीव का पारस्परिक सम्बन्ध	49
४.२. आभासवाद	52
४.२.१. सुरेश्वराचार्य प्रतिष्ठापित आभासवाद एवं आभास की शब्दावली	54
४.२.२. आभास स्वरूप	55
४.२.३. आभास के विभिन्न नामों का उल्लेख	56
४.२.४.चिदाभास की द्विविधरूपता	57
४.२.४.१. कारणाभास	58
४.२.४.२. कार्याभास	59
४.२.५. कारणाभास की चिदज्ञानोभयजन्यता का स्पष्टीकरण	59
४.२.६. कारणाभास तथा कार्याभास का संबंध एवं अन्तर	60
४.२.७. आभास की उपयोगिता:	60
४.२.७.१. अनात्मवस्तु सिद्धि आभास निबंधन है	60
४.२.७.२. आभास कारणता का एक तत्त्व है	62
४.२.७.३. आभास की सहायता से आत्मा का विषय प्रकाशन	63
४.२.८. जगत्कारणता- विचार	63
४.२.९. अविद्या	67
४.२.९.१. अविद्या का स्वरूप	69
४.२.९.२. अविद्या-माया-भेद- निरास	71
४.२.९.३. अविद्या द्वैविध्य प्रतिपादक मतद्वय	73
४.२.९.३.१. प्रथम मत का खंडन	73
४.२.९.३.२. द्वितीय मत तथा खंडन	73

४.२.९.४. अविद्या का आश्रय तथा विषय	74
४.२.९.५. ब्रह्म तथा अविद्या का सम्बन्ध	76
४.२.१०. आभास और ब्रह्म का सम्बन्ध	77
४.२.११. आभास और अज्ञान का सम्बन्ध	78
४.२.१२. अज्ञान और आभास का अन्तर	78
४.२.१३. ब्रह्म के भूयोभवन में दृष्टान्त तथा आभास की अपेक्षा	79
४.२.१४. आभास पदार्थों की विविधरूपता	80
४.२.१४.१. ईश्वर	81
४.२.१४.२.साक्षी अन्तर्यामी	82
४.२.१४.३. जीव	83
४.२.१४.३.१ जीवैक्यवाद तथा कल्पित नाना जीववाद:--	84
४.२.१५. परमात्मा की त्रिविध -रूपता	86
४.२.१५.१. ईश्वर	86
४.२.१५.२. सूत्रात्मा	86
४.२.१५.३. विराट्	87
४.२.१६. त्रिविधावस्था तथा जीवात्मा का त्रिविध भेद	88
४.२.१६.१. सुषुप्ति अवस्था तथा प्राज्ञ	88
४.२.१६.२ स्वप्नावस्था तथा तैजस	91
४.२.१६.३.जाग्रत अवस्था तथा विश्व	93
४.२.१६.३.१. अवस्थाभिमानी ईश्वरादि की आभासरूपता	94
४.२.१७. सृष्टि क्रम	94
४.२.१७.१. सृष्टि क्रम अर्थात् सृष्टि की त्रिविध अवस्था	96
४.२.१७.१.१. अव्याकृतावस्था	96
४.२.१७.१.२. व्याकृत-सूक्ष्मावस्था	97
४.२.१७.१.३. व्यक्त स्थूलावस्था	98
४.२.१७.२ पंचीकरण का स्वरूप	99
४.२.१७.३. पंचीकृत भूत तथा सृष्टि की स्थूलावस्था	100
४.२.१७.४. सृष्टि की आभास रूपता	100
४.२.१७.५.सृष्टि में ब्रह्म का आभासाख्य प्रवेश	102
४.२.१८. बन्धस्वरूप	103
४.२.१९. बन्ध हेतु	104
४.२.२०. मरणस्वरूप विमर्श तथा देहान्तरप्राप्ति का विचार	105
४.२.२०.१. मरणोन्मुख जीव की दशा	105

४.२.२०.२. जीव के देहान्तर-गमन में हेतु	107
४.२.२१. बन्धन- निवृत्ति के उपाय-	110
४.२.२२. कर्मों को उपयोगिता के विषय में अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास प्रस्थान	116
४.२.२३. कर्म के द्वारा मोक्षसिद्धान्त	117
२.२.२३.१. कर्म के द्वारा मोक्ष सिद्धांत का खंडन	117
४.२.२४. विधियों का ब्रह्मज्ञान में अनुपयोग	120
४.२.२५. उपसना विधि	124
४.२.२५.१. उपासना में अपूर्व विधि का खंडन-	126
४.२.२५.२. शंकर सम्मत उपासना में नियमविधि का समर्थन	126
४.२.२६. सुरेश्वर मत का भाष्यकार के मत के साथ सामंजस्य	127
४.२.२७. श्रवण-मनन और निदिध्यासन	127
४.२.२७.१. श्रवण-मनन और निदिध्यासन का सम्बन्ध	130
४.२.२७.२. श्रवणादि में विधि-विचार	131
४.२.२८. ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद	133
४.२.२९. प्रथम मत	133
४.२.३०. द्वितीय मत	134
४.३. अवच्छेदवाद	139
४.३.१. शांकर ग्रन्थों में अवच्छेद की शब्दावली	140
४.३.१.१. ब्रह्म से अपरिच्छिन्न	140
४.३.१.२. काल से अपरिच्छिन्न	141
४.३.१.३. वस्तु से अपरिच्छिन्न	141
४.३.१.४. देश से अपरिच्छिन्न	142
४.३.२. ब्रह्म का पारमार्थिक और व्यावहारिक द्विविध रूप	142
४.३.२.१. पर ब्रह्म	142
४.३.२.२. अपर ब्रह्म	142
४.३.३. निरुपाधिक तथा सोपाधिक ब्रह्म का सम्बन्ध	143
४.३.४. अविद्या स्वरूप तथा नामान्तर	144
४.३.५. अविद्या का कार्य	146
४.३.६. अविद्या तथा कल्पित आत्मपरिच्छेद	146
४.३.७. ब्रह्म का ईश्वरत्व , सर्वज्ञत्व तथा जगत्कारणत्व	147
४.३.८. जीव- मुख्यत, एकत्व तथा औपचारिकत, नानात्व	148
४.३.९. जीवपरिमाण विचार	149
४.३.१०. ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध	150

४.३.११. जगत् तथा उसका भेद	151
४.३.१२. जगत्कारणत्व	151
४.३.१३. दृष्टि सृष्टिवादात्मक जगत् का स्वरूप	152
४.३.१४. ज्ञान और मोक्ष	153
४.३.१४.१. ज्ञान	153
४.३.१४.२. मोक्ष	155
४.३.१५. अवच्छेदवाद का स्वरूप	155
४.३.१६. अवच्छेदवाद में प्रदर्शित दोषों पर समीक्षात्मक विचार	158
४.४. प्रतिबिम्बवाद	**161**
४.४.१. शांकर ग्रन्थों में प्रतिबिम्ब की शब्दावली	162
४.४.२. बिम्भूत अद्वैत से प्रतिबिम्बात्मक द्वैत का प्रतिभास	162
४.४.३. जीव	163
४.४.३.१. सत्त्वप्रधान बुद्धि प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है	163
४.४.३.२. अथवा बुद्धिगत चित्प्रतिबिम्ब जीव है	163
४.४.४. जीव की चित्त-प्रतिबिम्बात्मकता में तर्क	163
४.४.५. उपाधि का प्रभाव प्रतिबिम्ब पर न कि बिम्ब पर	164
४.४.६. प्रतिबिम्ब की बिम्बरूपता	165
४.४.७. प्रतिबिम्ब जीव का विषय प्रकाशकत्व	165
४.४.८. जीव की विविध अवस्थाएँ	166
४.४.९. बिम्ब-प्रतिबिम्बाभेद के द्वारा मोक्षोपपादन	167
४.४.१०. प्रतिबिम्बवाद का स्वरूप	168
४.४.१०.१. विवरणकार प्रकाशात्मयति के अनुसार	169
४.४.१०.२. प्रतिबिम्बवाद का विस्तृत स्वरुप	169
उपसंहार	**181**
परिशिष्ट	**204**
चित्रवीथि – १. आभासवाद	205
चित्रवीथि – २. अवच्छेदवाद	206
चित्रवीथि – ३. प्रतिबिम्बवाद	207
सदर्भ ग्रन्थ सूची	**208**
शोध पत्र	**217**
संगोष्ठी प्रमाण पत्र	**232**

अध्याय १

अद्वैत वेदान्त दर्शन की दार्शनिक पृष्ठभूमि

अध्याय १
अद्वैत वेदान्त दर्शन की दार्शनिक पृष्ठभूमि

१.१ शंकर पूर्व अद्वैतमत

अद्वैत मत भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित है। कर्मकाण्ड प्रधान वैदिक संहिताओं में अद्वैतमत के प्रकाशन का विशेष अवसर न रहने पर भी यत्र-तत्र उसका आभास दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में अद्वैतवाद के मूल तत्व उपलब्ध होते हैं। सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था के संबंध में यह कहा गया है कि **'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्'** अर्थात् उस समय न तो सत् था और न ही असत्[2], **'नासीद्रजो नो व्योमा परो यत'** अर्थात् न प्रकाश था और न अन्धकार, न आकाश था और न आकाश से परे विद्यमान द्युलोक[3], **'न मृत्युरासीदमृतं न तर्ही न राज्या अन आसीत् प्रकेतः'** अर्थात् न मृत्यु थी और न ही अमरत्व था। उस समय दिन और रात्रि का कोई भेद भी नहीं था[4]। **'तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम्'** अर्थात् सब कुछ तम से आच्छादित होने के कारण गूढ या अविविक्त था[5]। यह कोई नहीं बता सकता कि यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि **'तुच्छत्रेनाभ्यपिहितं यदासीत्'** अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान तम के लिए यहाँ 'तुच्छ' शब्द का प्रयोग किया गया है[6]। इसी प्रकार ऋग्वेद के 'वागाम्भूणि' सूक्त में यह कहा गया है कि **'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः'** अर्थात् वरुण, इन्द्र, अग्नि, रुद्र, आदित्य, मित्र, सोम, त्वष्टा, पूषन् आदि देवों को धारण करने वाली शक्ति एक ही है[7]। वही समस्त ब्रह्माण्ड का धारण एवं पोषण कर रही है। यह शक्ति सर्वत्र विराजमान है। यह केवल इन लोकों में ही परिमित नहीं अपितु इनसे परे वर्तमान भी है। पुरुष सूक्त में भी विराट् पुरुष से ही समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का वर्णन उपलब्ध होता है। **'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्'** अर्थात् यहाँ समस्त ब्रह्माण्ड को विराट् पुरुष का शरीर माना गया है। जो कुछ भी है या हो चुका है, या भविष्य में होने वाला है, वह सब कुछ पुरुष ही है।[8] **'पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'** अर्थात् यह समस्त ब्रह्माण्ड उसका एक चतुर्थांश मात्र है, उसके तीन पाद अमर लोक में है,[9] मृत्युलोक से उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

---

[2] ऋग्वेद १०।१२९।१

[3] ऋग्वेद १०।१२९।१

[4] ऋग्वेद, मण्डल २

[5] ऋग्वेद, ३

[6] ऋग्वेद, ३

[7] ऋग्वेद १०।१२५।१

[8] ऋग्वेद १०।९०।२

[9] ऋग्वेद १०।९०।३

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४ वें सूक्त में इन्द्र, वरुण,अग्नि, मित्र, यम,मातरिश्वन् इत्यादि अलग-अलग नामों से एक परमेश्वर का ही वर्णन माना गया है। ऋग्वेद के वामदेव सूक्त में भी अद्वैतमत का आभास है ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने "शास्त्रदृष्यपदेशो वामदेवत्" (ब्रह्म सूत्र १।१।३०) इस सूत्र में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। इसी तरह यजुर्वेद के बत्तीसवें अध्याय में अग्नि, वायु, आदित्य, जल, प्रजापति, ब्रह्म इन सबको एक ही कहा गया है अर्थात् '**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः**'[10] । इस प्रकार देखा गया कि भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत वैदिक संहिताओं में भी यत्र-तत्र अद्वैतवाद के मूल तत्त्व विद्यमान हैं। वेदों के अन्तिम भाग रूप उपनिषद् साहित्य में तो अद्वैतवाद की समर्थक श्रुतियों का बाहुल्य ही है 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१९), 'इदं सर्व यदयमात्मा' (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।६), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दग्योपनिषद् ३।१४।१), 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दग्योपनिषद् ६।२।१), 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मुंडकोपनिषद् २।२।११), 'तत्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दग्योपनिषद् ६।८।७) इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट रूप से अद्वैतमत का समर्थन एवं प्रतिपादन कर रही हैं। महाभारत आदि ग्रन्थों में भी अलग-अलग मतों के साथ अद्वैतमत का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। योगवासिष्ठ में भी अद्वैतमत का प्रतिपादन हुआ है।

वेदान्त के प्राचीन आचार्यों में भी कुछ-कुछ ही अद्वैतमत को स्वीकार करते थे। वेदान्तशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में भर्तृप्रपंच, भर्तृहरि, भारुचि, ब्रह्मदत्त, ब्रह्मनन्दी, टंक, उपवर्ष, बोधायन, द्रविड़ाचार्य आदि अनेक वेदान्ताचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है। इनमें से कई विद्वान अद्वैतमत के समर्थक थे। इनमें से किसी ने ब्रह्मसूत्र और गीता दोनों उपनिषदों पर भी किसी-किसी ने भाष्य लिखा था और किसी ने गीता के ऊपर भाष्य की रचना की थी। भर्तृप्रपंच ने कठोपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् पर भाष्य लिखे थे। ये ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे। दार्शनिक दृष्टि से इनका मत द्वैताद्वैत, भेदाभेद, अनेकान्त आदि नामों से प्रसिद्ध है। इनके मत में परमार्थ सत्ता एक भी है और अनेक भी। ब्रह्मरूप में वह एक है, अपितु जगत् रुप में अनेक है। अद्वैत के समान द्वैत भी सत्य है। कार्य-कारण कल्पित नहीं अपितु वास्तविक है। इस मत में द्वैतभाव के सत्य होने से कर्मकांड को भी प्रमाण माना जाता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञानकर्मसमुच्चय को ही सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। भर्तृमित्र का उल्लेख न्यायमंजरी में तथा यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में किया गया है। इससे सूचित होता है कि ये भी अद्वैत के आचार्य रहे होंगे। यामुनाचार्य के ग्रन्थ में भर्तृहरि का नाम भी उल्लिखित है। इनका वाक्यपदीय व्याकरण विषयक ग्रन्थ होने पर भी दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण है। जिसमें अद्वैतमत का प्रतिपादन किया गया है। किसी किसी आचार्य का तो यहाँ तक कहना है कि भर्तृहरि के शब्दब्रह्मवाद का अवलम्बन करके ही मंडन मिश्र ने 'ब्रह्मसिद्धि' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह, अविमुक्तात्मरचित इष्टसिद्धि तथा जयन्तकृत न्यायमंजरी में भी शब्दाद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है। उत्पल तथा सोमानन्द के कथन

[10] यजुर्वेद ३२।१

से यह ज्ञात होता है कि भर्तृहरि तथा उनके अनुयायी पश्यन्तो वाक् को ही शब्दब्रह्म मानते थे। इनके मत में पश्यन्ती ही परावाक् है और यहीं समस्त जगत् का नियामक है तथा अन्तर्यामी चित् तत्त्व से अभिन्न है।

शंकराचार्य के पूर्व ब्रह्मदत्त नामक एक प्रसिद्ध वेदान्ती हुए थे, ये भी अद्वैतवादी थे परन्तु अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर इनका शंकराचार्य से मतभेद है। इनके मत में जीव अनित्य है और एकमात्र ब्रह्म ही नित्य है। जीव तथा जगत् दोनों ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। इनके मत में उपनिषदों का तात्पर्य "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों में न होकर "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि नियोगसूचक वाक्यों में ही है। ये अज्ञान की निवृत्ति भावनाजन्य ज्ञान से मानते हैं, शाब्दज्ञान से नहीं। औपनिषद ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी मोक्ष की प्राप्ति के लिये जीवनपर्यन्त भावना का अभ्यास करना आवश्यक है। "तत्वमसि" इत्यादि महावाक्यों के श्रवण मात्र से आत्म स्वरूप विषयक अखण्डाकार वृत्ति उदित नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द में तादृश शक्ति नहीं है। निदिध्यासन या प्रसंख्यान में ही ऐसी शक्ति है। ब्रह्मदत्त ज्ञानकर्म समुच्चयवादी थे । इनके मतानुसार जीवन पर्यन्त कर्म आवश्यक है। ये शंकराचार्य के जीवन्मुक्ति के सिद्धांत के समर्थक नहीं हैं। शंकराचार्य के मत में जीवन्मुक्त को कर्मों की आवश्यकता नहीं है जबकि ब्रह्मदत्त के मत में जीवन पर्यन्त कर्म आवश्यक है। शंकराचार्य के मत में मोक्ष दृष्टफल है, जबकि ब्रह्मदत्त के मत में वह अदृष्ट फल है।

शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में कहीं-कहीं उपवर्ष नामक एक प्राचीन वृत्तिकार के मत का भी उल्लेख किया है। इस वृत्तिकार ने दोनों ही मीमांसा शास्त्रों पर वृत्तिग्रन्थ लिखे थे शंकराचार्य के पहले सुन्दर पाण्डेय नामक आचार्य ने एक कारिकाबद्ध वार्तिक की रचना की थी। शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में (ब्रह्म सूत्र १-१-४) इनके तीन श्लोकों को उद्धृत किया है। मधुसूदन सरस्वती ने संक्षेपशारीरक टीका (३-२१७) में ब्रह्मनन्दी के मत उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि ये भी अद्वैतवाद के आचार्य रहे होंगे। ब्रह्मसूत्र पर बोधायन की भी एक वृत्ति थी। रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में इस वृत्ति से अनेक वाक्यों को उद्धृत किया है। रामानुज कृत वेदार्थ संग्रह में भारुचि, टंक, बोधायन, गुहदेव, कपर्दिक तथा द्रविड़ाचार्य इन छह वेदान्ताचार्यों का उल्लेख मिलता है। रामानुजाचार्य ने इन सब आचार्यों का नाम आदरपूर्वक लिया है। इससे यह सूचित होता है कि इन आचार्यों का मतानुसार रामानुज की विचारधारा के अनुकूल रहा होगा।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र में भी अनेक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया गया है। विभिन्न रंगों में सूत्रकार ने काशकृत्स्न, आश्मरथ्य, औडुलोमि, काष्णाजिनि, बादरि, जैमिनी आदि अनेक आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। इन्होंने विज्ञानात्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न पर आश्मरथ्य, औडुलोमि तथा काशकृत्स्न के मतभेद का उल्लेख किया है। आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे। इनके मत में विज्ञानात्मा और परमात्मा में कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद। जिस प्रकार वह्नि से उठते हुये

वह्नि के विकार रूप विस्फुलिंग न तो वह्नि से अत्यन्त भिन्न है, क्योकिं वे भी वह्नि रुप ही है और न ही उससे अत्यन्त अभिन्न, क्योंकि ऐसा मानने पर उनकी पस्पर व्यावृत्ति नहीं हो सकेगी, उसी प्रकार ब्रह्मविकार जीवात्माएँ भी न तो ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न हैं और न ही अत्यन्त अभिन्न। यदि इन्हें ब्रह्म से भिन्न माना जाय तो उनके चिद्रूपत्व के अभाव की प्रसक्ति होगी और यदि उन्हें ब्रह्म से अत्यन्त अभिन्न माना जाय तो इनकी परस्पर व्यावृत्ति नहीं हो सकेगी। औडुलोमि ने अवस्था के भेद से जीवात्मा और परमात्मा में भेद और अभेद दोनों को ही संगत माना है। किन्तु **'तस्मात्कथंचिद्भेदो जीवानामभेदश्च'** इसलिये जीवात्मा और परमात्मा में कथचित् भेद और कथंचित् अभेद के पक्ष को ही आश्मरथ्य ने स्वीकार किया है।[11] इनके मत में संसारा अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा में भेद है, किन्तु मुक्तिदशा में इनमें अभेद है। **'भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽप्यभेद उक्तः' अर्थात्** अभेद के आधार पर भेदकाल में भी अभेद का व्यवहार किया जाता है।[12] परन्तु इसके विपरीत काशकृत्स्न आचार्य के मत में जीवात्मा और परमात्मा में पारमार्थिक दृष्टि से अभेद है। **'काशकृत्स्नस्याचार्यस्य विकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्'** अर्थात् इनके मत में जीव न तो परमेश्वर से भिन्न है और न ही उसका विकार अपितु वह अविकृत परमेश्वर ही है[13]। शंकराचार्य ने काशकृत्स्न के मन को ही श्रुत्यनुसारी एवं उपादेय माना है। **'आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतम् तथापि प्रतिज्ञा सिद्धेरिति सापेक्षत्वानिधानात्कार्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते भिक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थास्तरापेक्षी भेदोदो गम्यते। तत्र कानी मनुसारीति गम्यते'।** इन संबंध में उनका कथन है कि यद्यपि आश्मरथ्य को भी जीव और परमात्मा का अनयत्व अभिप्रेत है. तथापि "प्रतिज्ञासिद्धे" इससे सापेक्षत्व का अभिधान होने से इनके बीच कुछ कार्यकारण भाव की भी प्रतीति होती है। अवस्था अनुसार भेद और के अभेद दोनों को संगत माना गया है। किन्तु हम सब में काशकृत्स्न ही का मत मानने योग्य है कि वह 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रतिपिपादयिषित अर्थ के अनुकूल है।[14] शंकराचार्य के इस कथन से यह सूचित होता है कि आचार्य काशकृत्स्न अद्वैतवादी विचारक रहे होंगे।

१.२. अद्वैतवाद के विभिन्न स्वरूप

अद्वैतवाद की मूल विचार भारतीय चिन्तनधारा में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है। प्राचीन बौद्ध साहित्य में भी अद्वैतवाद को मान्यता प्रदान की गई थी शून्यवादी तथा विज्ञानवादी बौद्ध अद्वैतवाद के

[11] भामती, १।४।२०

[12] भामती, १।४।२१

[13] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।४।२२

[14] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।४।२२

समर्थक थे। माध्यमिक सम्प्रदाय में एकमात्र शून्य की तथा योगाचार सम्प्रदाय में एकमात्र विज्ञान की ही सत्ता मानी गई है। इस प्रकार माध्यमिक मत में शुपात को तथा योगाचार मत में विज्ञानाद्वैत को स्वीकार किया गया है। इसी कारण बुद्ध के अनेक नामों में से एक नाम अद्वयवादी भी था बौद्ध विचारकों के अतिरिक्त वैयाकरण, शाक्त तथा आदि भी किसी न किसी रूप में अद्वैतवाद को स्वीकार करते थे। वैयाकरणों का शब्दाद्वैत, शैवों का शिवाद्वैत तथा शाक्तों का शाक्त्यद्वैत अत्यन्त प्रसिद्ध ही हैं। यहाँ संक्षेप में अद्वैतवाद की इन प्रमुख विचारधाराओं का उल्लेख प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे कि इसकी पृष्ठभूमि में शंकराचार्य के अद्वैतवाद का मूल्यांकन समुचित रूप से किया जा सके।

१.२.१. शून्याद्वैतवाद

नागार्जुन तथा उनके अनुयायी आर्यदेव आदि आचार्यो ने प्रज्ञापारमिता आदि शास्त्रों के आधार पर शून्यवाद का प्रचार प्रसार किया। इनके मत में सत्, असत्, सदसत् तथा सदसद्विलक्षण इन चार कोटियों से विनिर्मुक्त, निर्विकल्पक, निष्प्रपंच, आकाश के समान निर्लेप एवं असंग तत्त्व ही शून्यपदवाच्य है। यह शून्य अभाव से भिन्न है क्योंकि अभाव की कल्पना सापेक्ष है, जबकि शुभ्य निरपेक्ष परमतत्त्व का सूचक है। यह अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, अनुच्छेद, अशाश्वत इत्यादि विशेषणों से वर्णित किया जाता है। यहीं पारमार्थिक सत्य है। सत्य का एक दूसरा स्वरूप भी है। वह बुद्धि या संवृति नाम से कहा गया है। बुद्धिमान ही विकल्पात्मक है और विकल्प अवस्तुग्राही होने के कारण अविद्यात्मक है। बुद्धि के द्वारा पारमार्थिक सत्य का ग्रहण संभव नहीं है। संवृति को अविद्या, मोह, विपर्यास आदि नामों से भी कहा जाता है। माध्यमिक सम्प्रदाय में अविद्या या संवृति के दो कार्य माने जाते हैं- (१) वस्तु के रूप में आवरण तथा (२) असत् पदार्थ का आरोपण। संवृति भी दो प्रकार की मानी गयी है -- (१) तथ्य संवृति तथा (२) मिथ्या संवृति। प्रतीत्यसमुत्पन्न घट पट आदि वस्तुओं का स्वरूप जब अदृष्ट इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होता है तब वह लौकिक दृष्टि से सत्य माना जाता है। यही तथ्य संवृति है किन्तु इसके विपरीत माया, मरीचिका, प्रतिबिम्ब आदि दुष्ट इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होने से लौकिक दृष्टि से भी मिथ्या कहे जाते हैं। यही मिथ्या संवृति है तथ्य संवृति का स्वरूप लौकिक दृष्टि से अविलय अर्थात् सत्य ही है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से यह सत्य नहीं है।

शून्यवाद के अनुसार चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य ही परमार्थ तत्त्व है। नागार्जुन ने 'माध्यमिककारिका' में गति, इन्द्रिय, स्कन्ध, धातु, दुःख, संसर्ग, स्वभाव, कर्म, बंध, मोक्ष, काल, आत्मा आदि की पाण्डित्यपूर्ण परीक्षा करते हुये इन सबकी असत्यता प्रदर्शित की है। वे कहते हैं कि जगत् के भावों की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती। '**स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः। उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाक्वचन केचन**' - भाव न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं और न परतः, न दोनों से और न

अहेतु से ।[15] यदि यह माना जाय कि पदार्थ स्वतः उत्पन्न होते हैं, तो ऐसी दशा में उत्पत्ति व्यर्थ हो जायगी जो पदार्थ विद्यमान हैं, उनकी उत्पत्ति का प्रयोजन क्या होगा ? यह भी नहीं माना जा सकता कि पदार्थ अपने से भिन्न कारण से (परत:) उत्पन्न होते हैं, क्योंकि ऐसी अवस्था में किसी पदार्थ में किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति का प्रसंग होगा। पूर्वोक्त दोनों पक्षों में दोष होने से इनका समुच्चय भी नहीं माना जा सकता। यह भी नहीं माना जा सकता कि हेतु के बिना ही कार्य उत्पन्न होता है। कार्यकारण का सिद्धान्त माननीय है, अन्यथा सम पदार्थ सब पदार्थों से उत्पन्न होने लगे । अतः जगत् के भावों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार नागार्जुन ने अपनी सूक्ष्म तर्क पद्धति के आधार पर जगत् की समस्त व्यावहारिक धाराओं की असत्यता को प्रदर्शित करते हुए एकमात्र 'शून्य' को ही परमार्थ तत्त्व सिद्ध किया है। यह शून्य अभाव से नितान्त भिन्न है, क्योंकि अभाव की कल्पना सापेक्ष कल्पना है, परन्तु यह शून्य निरपेक्ष परमतत्त्व का सूचक है। वह मनोवाणी से अगोचर होने के कारण नितरां अनिर्वचनीय है। उस परमतत्व को सूचित करने के लिए ही 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। वेदान्त में अनिर्वचनीय का प्रयोग 'सदसदविलक्षण' के लिए किया गया है, परन्तु बौद्धदर्शन में इसका प्रयोग 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व' के लिए हुआ है। यह अनिर्वचनीय शून्य ही माध्यमिक मत में एकमात्र परमार्थ तत्त्व है । यह समस्त नानात्मक प्रपंच इसी शून्य का ही विवर्त माना जाता है। इस प्रकार माध्यमिक बौद्ध शून्याद्वैतवाद के समर्थक है।

शून्यवाद के इस संक्षिप्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि माध्यमिकों के शून्याद्वैत तथा शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैत में अनेक समानतायें हैं। इसी कारण बहुत से आलोचक शंकराचार्य तथा उनके भी पूर्ववर्ती आचार्य गौडपाद के सिद्धांतों पर माध्यमिकों की विचारधारा का प्रभाव स्वीकार करते हैं। **'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च'** इत्यादि पौराणिक वचन भी इसी मत के समर्थक हैं। इस मत के अनुयायियों का यह कथन है कि गौडपाद कारिका के समीक्षण से यह ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ भाषा तथा भाव की दृष्टि से आद्यन्त माध्यमिक दर्शन के विचारों से प्रभावित है। **'अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः'** । इसमें आत्मा को सत्, असत्, सदसदुभयात्मक तथा सदसद्विलक्षण इन चारों कोटियों से विनिर्मुक्त माना गया ।[16] - **'न सन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् । चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः' ।।** गौडपाद से बहुत पहले नागार्जुन ने भी शून्य को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त माना था [17]। अतएव इन आलोचकों के मत में शून्यवादी बौद्धों का शून्य तत्व तथा गौडपाद का आत्मतत्व प्रायः एक ही प्रकार का है। इसलिये इन्होंने शांकर मत को बौद्ध शून्यवाद का औपनिषद संस्करण मात्र स्वीकार किया है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उपर्युक्त मत सर्वथा असंगत एवं अयुक्तियुक्त सिद्ध होता है। शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में बौद्धों के

[15] माण्डुकोपनिषद् कारिका

[16] गौडपाद कारिका।

[17] माण्डुकोपनिषद् कारिका।

शून्यवाद का प्रबल युक्तियों के आधार पर खंडन किया है। है कि आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है। इसके संबंध में किसी प्रकार की शंका नहीं की जा सकती। किसी भी पुरुष को अपने अस्तित्व के संबंध में सन्देह नहीं होता। **सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति** अर्थात् सभी अपने अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।[18] संसार की अन्य वस्तुओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी को भले ही संदेह हो किन्तु अपने अस्तित्व के संबंध में किसी को नहीं होता। संदेह ही संदेह करने वाले की सत्ता को सिद्ध कर देता है। इस प्रकार शंकराचार्य ने आत्मा की सत्ता को स्वयंसिद्ध स्वीकार किया है। **शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते** अर्थात् शून्यवाद के संबंध में उनका यह मत है कि यह मत सभी प्रमाणों से प्रतिषिद्ध है, अतएव इसके निराकरण के लिए विशेष प्रयास अनावश्यक है।[19]

१.२.२ वैयाकरणों का शब्दाद्वैतवाद

शब्दाद्वैतवाद का ही दूसरा नाम स्फोटवाद या प्रणववाद है। इनके अनुसार शब्द ही विश्व का कारण है। भगवती श्रुति कहती है **'वागवे विश्वा भुवनानि जज्ञे। वाच इत्सर्वममृतं मर्त्य च'** अर्थात् वाणी से ही समस्त भुवन उत्पन्न हुए और वाणी से ही मर्त्य तथा अमर्त्य सबकी उत्पत्ति हुई।

'सभूरितिव्याहरत्स भूमिमसृजत' अर्थात् तैत्तिरीय ब्राह्मण में भूः भुवः स्वः इन तीन महाव्याहृतियों से ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा लोक की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है।[20]**'नाम रूपं च भूतानां कर्मणाम् च प्रवर्तनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥'** अर्थात् मनुस्मृति में कहा गया है कि महेश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में पदार्थों के नाम, रूप आदि की रचना वेद के शब्दों से ही की थी [21]। **'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदी वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृतयः ॥'** अर्थात् स्वयंभू ने सृष्टि के आरम्भ में अनादिनिधन, नित्य, सनातन वेदवाणी को प्रकट किया जिससे कि मनुष्य के सारे व्यवहार चल सकें।[22] इस प्रकार श्रुति तथा स्मृति दोनों के द्वारा शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन होता है। पाणिनि ने भी **"तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्"** (१।२।५३) इस सूत्र में शब्द व्यवहार को अनादि एवं सनातन माना है। कात्यायन के वार्तिक "सिद्ध शब्दार्थ सम्बन्धे" में शब्दाद्वैतवाद का संकेत है स्फोट का सबसे पहले प्रयोग पतंजलि के महाभाष्य में किया गया है। परन्तु भर्तृहरि ही सर्वप्रथम विचारक थे। जिन्होंने शब्दाद्वैतवाद या स्फोटवाद की एक शास्त्रीय रूप प्रदान किया। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "वाक्यपदीय" में शब्दाद्वैत का व्यापक रूप से प्रतिपादन

---

[18] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।१।१

[19] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।३१

[20] तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।४।२

[21] मनस्मृति १।२१

[22] मनस्मृति

किया है। वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में वह कहते हैं कि अक्षर, अविनाशी, अनादिनिधन, सर्वव्यापक शब्द तत्व ही विवर्त द्वारा अनेकविध पदार्थों के रूप में प्रकट होता है, जिससे कि जगत् के सारे व्यवहार सिद्ध होते हैं।[23] भर्तृहरि के बाद भर्तृमित्र ने अपने "सिद्धि" नामक ग्रन्थ में वर्ण व्यतिरिक्त स्फोट की सिद्धि के द्वारा शब्दाद्वैतवाद का समर्थन किया है। इसके बाद इस सिद्धान्त का विशदरूप से विवेचन पुण्यराज और कैयट के भाष्यों में तथा नागेश के उद्योत में उपलब्ध होता है। शब्दाद्वैत के प्रबल समर्थक नागेश है। उन्होंने अपनी "मंजूषा" मे इस सिद्धान्त का सर्वाङ्गीण प्रतिपादन किया है।

व्याकरण मतानुसार परावाक् व्यवहारोन्मुख होने पर पश्यन्ती वाक् कहलाती है। अक्षर और शब्द ब्रह्म इसी के नामान्तर है। यह चैतन्य स्वरूप है। यह अखण्ड, अभिन्न, अद्वय परमतत्त्व कहा गया है। इसमें ग्राह्य तथा ग्राहक का भेद प्रतीत नहीं होता। इसमें देशगत तथा कालगत क्रम का आभास भी नहीं है। इसीलिये इसे अक्रमा या प्रतिसंहृतका के नाम से पुकारा जाता है। पश्यन्ती वाक् ही ब्रह्मार्थवासना के प्रभाव से घट, पट आदि पदार्थों के रूप में विवर्तभाव को प्राप्त होकर इन्द्रियगोचर वसती है। वस्तुतस्तु वाचक शब्द से पृथग्भूत वाच्य अर्थ की सत्ता है ही नहीं।[24] वाच्य वाचक विभाग पारमार्थिक नहीं, अपितु विवर्ततेऽयं भावेन प्रक्रिया जगती यतः ॥[25]

भारतीय संस्कृति और सामाजिक पण्डित गोपीनाथ कविराज काल्पनिक है। परन्तु काल्पनिक या अविद्याजन्य होने पर भी ज्ञान के उपाय के रूप में इसका ग्रहण करना ही पड़ता है। ज्ञानमात्र ही वागात्मक है, अतः परावाक् या शब्दब्रह्म ही परमार्थ तत्त्व है। इसलिए व्याकरण मत में शब्दब्रह्म को ही परमार्थतत्त्व माना गया है तथा जगत् के समस्त पदार्थों को शब्दब्रह्म का ही विवर्त स्वीकार किया गया है। शब्दब्रह्म को निराकार, देशकालादि परिच्छेद से शून्य अक्रम एवं अनवच्छिन्न माना गया है। यही वैयाकरणों का स्फोटरूप अद्वैततत्त्व है।

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के दहराधिकरणभाष्य में शब्दाद्वैतवाद का खण्डन किया है वे शब्द से सृष्ट्युत्पत्ति के सिद्धान्त को समीचीन नहीं मानते। उन्होंने स्फोटवाद का खण्डन करते हुए यह प्रदर्शित किया है कि शब्द से संसार की उत्पत्ति का सिद्धान्त माननीय नहीं है। वे कहते हैं कि **'वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतेः संभवात्स्फोटकल्पनानार्थिका'** अर्थात् वर्णों से ही अर्थप्रतीति के संभव होने से वर्णव्यतिरिक्त स्फोट की कल्पना अनर्थक है।[26] वर्ण उत्पत्ति विनाशशील नही है, क्योंकि वर्णविषयक प्रत्यभिज्ञान अनुभवसिद्ध है। इस प्रत्यभिज्ञान को ज्वालादि के समान सादृश्यमूलक नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका प्रमाणान्तर से बाध अनुपपन्न है। इस प्रत्यभिज्ञान को आकृतिविषयक भी नहीं माना जा सकता,

---

[23] ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १

[24] भारतीय संस्कृति और साधना—म०म०पं० गोपीनाथ कविराज।

[25] ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १

[26] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।३।२८

क्योंकि यहाँ वर्णव्यक्ति का ही प्रत्यभिज्ञान होता है, आकृति का नहीं । यदि प्रत्युच्चारण में गवादि व्यक्तियों के समान अन्य वर्ण व्यक्तियों की प्रतीति होती तो इस प्रत्यभिज्ञान को आकृतिविषयक माना जा सकता था। किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है। अतएव वर्णविषयक प्रत्यभिमान को व्यक्तिविषयक ही मानना होगा आकृतिविषयक नहीं। यहाँ पर यह शंका होती है कि देवदत्त और यज्ञदत्त की ध्वनियों के श्रवणमात्र से वर्णगत भेद की प्रतीति होती है, अतः अनुभवसिद्ध वर्णभेद को क्यों न माना जाय ? इस शंका के समाधान में शंकराचार्य का कथन है कि '**अभिव्यंजक चित्र्यनिमित्तोऽयं वर्णविषयो विचित्रः प्रत्ययो न स्वरूपनिमित्तः**' अर्थात् वर्णगत वैचित्र्य का कारण वर्णगतस्वरूपभेद न होकर वर्णाभिव्यंजक कारण में भेद ही है ।[27] एक ही वर्ण अभिव्यंजक कारण के भेद से नाना रूपों में उपलब्ध होता है जैसे एक ही वर्ण अभिव्यंजक निमित्त के भेद से उदात्त, अनुदान, स्वरित, सानुनासिक इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार से सुनाई पड़ता है । वर्णगत उदात्तादि भेद ध्वनि निबन्धन है, स्वरूप निबन्धन नहीं । अतएव वर्णों की उत्पत्तिविनाशशील एवं अनित्य नहीं मानी जा सकती । इसलिये अर्थावबोध के निमित्त वर्णव्यतिरिक्त स्कोट की कल्पना व्यर्थ है। इस पर स्फोटवाद की ओर से यह कहा जा सकता है कि **'एकैकवर्णग्रहणोत्तरकाला हीयमेका बुद्धिर्गोरिति समस्तवर्ण विषयामान्तरविषया'** अर्थात् वर्णों को नित्य मानने पर भी एकैकवर्णग्रहणोत्तरकालीन पदगत एकत्वबुद्धि के ग्रहण के लिये स्फोट की कल्पना करनी ही पड़ेगी, अन्यथा "गो" इस पद में एकत्वबुद्धि की व्याख्या कैसे की जा सकेगी ? इस आक्षेप के समाधान में शंकराचार्य का कथन है कि यह एकत्वबुद्धि समस्त वर्णविषयक ही है अर्थान्तरविषयक (स्फोटविषयक) नहीं ।[28] क्योंकि इस बुद्धि में भी गकारादि वर्णों की ही अनुवृत्ति होती है अन्य की नहीं । यदि "गो" इस बुद्धि का विषय गकारादि से भिन्न होता तो दकारादि के समान गकारादि की भी इससे व्यावृत्ति होती । वरन् ऐसा होता नहीं है। अतः यह मानना होगा कि वह एकत्वबुद्धि (पदबुद्धि) वर्णसमुदायकविषयक ही है, अर्थान्तरविषयक (स्फोटविषयक) नहीं । अनेक वर्णों में एकत्व बुद्धि वन, सेना, पंक्ति आदि के समान उपपन्न है जैसे क्रमानुरोधिनी पिप्पीलिकाओं में ही पंक्ति-बुद्धि होती है वैसे ही क्रमबद्ध वर्णों में ही बुद्धि होती है, अन्यत्र नहीं । अतः वर्णों के समान होने पर भी क्रम विशेष के कारण राजा-जारा, कले-पिक इत्यादि पदों में भेद हो जाता है। अतएव बुद्धि के लिये वर्णातिरिक्त कारणान्तर की कल्पना सर्वथा अनर्थक है। वर्णों का अर्थावबोधकत्व दृष्ट है। '**स्फोटवादिनस्त दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च**' अर्थात् इसलिये अर्थबोध के निमित्त दृष्ट कारण का परित्याग कर अदृष्ट कारणान्तर (स्फोट) की कल्पना को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता ।[29] इस प्रकार

---

[27] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।३।२८

[28] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।३।२८

[29] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।३।२८

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरणभाष्य में प्रबल युक्तियों के आधार पर स्फोटवाद का खण्डन करते हुये शब्दाद्वैतवाद की अप्रामाणिकता को प्रदर्शित किया है।

१.२.३ शैवों का शिवाद्वैतवाद

काश्मीर देश में प्रचलित आगम को प्रत्यभिज्ञास्पन्द यात्रिक दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। शैवागम में अद्वैतवाद का प्रतिपादन है। किन्तु यह अद्वैतवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न है। शैवागम में आत्मा का परम रूप चिदानन्द धन, स्वातन्त्र्य सार तथा परम शिवात्मक है। आगमविदों के मत से सांख्य के पुरुष तथा वेदान्त के ब्रह्म में भी आत्मा के यथास्वरूप का प्रकाशन नहीं होता क्योंकि सांख्यमत में पुरुष बहुसंख्यक है तथा वेदान्त का ब्रह्म विमर्शहीन है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन पूर्णतया अद्वैतवादी है इसका दूसरा नाम 'ईश्वराद्वयवाद' भी है। इसके मतानुसार एक परमेश्वर ही परमार्थतत्व है। अज्ञान,माया तथा जगत् आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक अर्थात् स्वेच्छा परिगृहीत रूप हैं। नट के समान परमेश्वर अपनी इच्छा मात्र से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करते हैं। अज्ञान उनकी स्वातन्त्रयशक्ति का विजृम्भणमात्र है। परमेश्वर तथा जगत् के पारस्परिक संबंध को अभिनवगुप्त ने दर्पणबिम्बवत् बतलाया है। जैसे निर्मल दर्पण में ग्राम, नगर, वृक्ष आदि पदार्थ प्रतिबिम्बित होने पर उससे अभिन्न होने पर भी भिन्नवत् प्रतीत होते हैं तथा ग्राम-नगर आदि पदार्थ परस्पर भी अलग-अलग प्रतीत होते हैं. जैसे ही पूर्ण संविद्रूप परमेश्वर में प्रतिविस्थित यह विश्व उससे अभिन्न होने पर भी घट पटादिरूप से भासित होता है। लोक में प्रतिबिम्ब की सत्ता बिम्ब पर अवलम्बित होती है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण बिम्ब के बिना ही जगद्रूप प्रतिबिम्ब उदित होता है। अतः द्वैतभावना कल्पित है। आभास के सिद्धान्त को मानने के कारण प्रत्यभिज्ञा दर्शन के दार्शनिक दृष्टिकोण को 'आभासवाद' के नाम से पुकारा जाता है। प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी में जड़ चेतन सभी पदार्थों को आभास रूप कहा गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ये असत्य एवं मिथ्या हैं चिन्मयी शक्ति का स्फुरण होने के कारण जगत् को असत्य नहीं माना जा सकता। जगत् को न तो शिव का परिणाम माना जा सकता है और न ही उसका विवर्त। शिव के अपरिणामी होने के कारण उसका परिणाम नहीं हो सकता। शिव के प्रकाश स्वरूप होने के कारण उसके प्रकाश का तिरोधान भी संभव नहीं। अतः जगत् न तो शिव का परिणाम हो सकता है और न विवर्त। परिणामवाद में एक वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में परिणाम माना जाता है। विवर्तवाद के अनुसार वस्तु का परिणाम तो नहीं होता, परन्तु वह अपने स्वरूप के तिरोधान के कारण अन्य रूप में अवभासित होती है। शैवागम में न तो सांख्य के परिणामवाद को माना जाता है और न ही वेदान्त के विवर्तवाद को। इस प्रकार जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में स्वातन्त्र्यवाद को ही स्वीकार किया जाता है जिसके अनुसार यह जगत् शिव की स्वातन्त्र्यशक्ति का स्फुरण मात्र है। परमेश्वर के हृदय में विश्व सृष्टि

की कामना के उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं - एक शिव रूप तथा दूसरा शक्ति रूप। शिव प्रकाश रूप है तथा शक्ति विमर्शरूपणी है। विमर्श का अर्थ है पूर्ण एवं अकृत्रिम 'अहम्' की स्फुर्ति। यह स्फुर्ति सृष्टिकाल में विश्वाकार, स्थितिकाल में विश्वप्रकाश तथा संहारकाल में विश्वसंहरण रूप से होती है। इसी चित्, चैतन्य, हृदय, महासत्ता, परावाक्, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, सार, स्पन्द आदि अनेक संज्ञाए है। शिव में चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण होता है। शक्ति के बिना शिव शव के समान है। शिव तथा शक्ति का सम्बन्ध नित्य है। शिव न तो शक्ति से विरहित रह सकते हैं और न शक्ति शिव से। इसी शिव-शक्ति के आन्तर निमेष को "सदाशिव" तथा वह उन्मेष को "ईश्वर" कहते है। सदाशिव दशा में अचलरूप शिव में किंचित् चलनात्मक रूप स्फुरित होता है। प्रमा का अहमंश इदमंश को आच्छादित कर देता है। अतः जगत् का अव्यक्त रूप से भान होता है। सत्ता का आरम्भ यहीं से होता है। इसी से इसका नाम सदाख्य तत्त्व है। विकासोन्मुख ज्ञान की अगली अवस्था को ईश्वर तत्व कहते हैं। यहां 'अहम्' इदम् (जगत्) को स्पष्ट रूप से किन्तु आत्मा से अभिन्न रूप से अनुभव करता है। पिछले विमर्श में "अहम्' की प्रधानता किन्तु इस विमर्श में "इदम्' की प्रधानता रहती है। पंचतत्व को विद्या या सद् विद्या कहते हैं। ज्ञान की दशा में "अहम्' तथा "इदम्' का पूर्ण सामानाधिकरण्य रहता है एवं दोनों की समान रूप से प्रधानता रहती है। इस प्रकार शिवतत्व में "अहमिदम्' विमर्श तथा ईश्वरतस्व में "इदमहम्' विमर्श होता है। इनमें से प्रत्येक स्थल में प्रथम पद की प्रधानता रहती है। इसके बाद माया शक्ति का कार्य आरम्भ होता है जो "अहम्' और "इदम्' इन दोनों को भिन्न - भिन्न कर देती है। अहम् हो जाता है पुरुष और इदमंश हो जाता है प्रकृति परन्तु शिव को पुरुष रूप में जाने के लिए माया पाँच उपाधियों की सृष्टि करती है ये हैं- कला, बिया, राग, काल तथा नियति। इन उपाधियों का परिभाषित नाम 'कञ्चुक' (शक्ति को परिच्छिन्न करने वाला आवरण) है। सर्वकर्तृत्व शक्ति को संकुचित करने वाला तत्त्व 'कला' है जिसके कारण जीव की ऋतू स्वशक्ति संकुचित हो जाती है। सर्वज्ञता का संकोच करने वाला तत्त्व 'विद्या' है जिसके कारण हो जाता है। नित्यतृप्ति गुण को संकुचित करने वाला तत्त्व 'राग' है जिसके कारण जीव विषयों से अनुराग करने लगता है और परिणामतः उसका नित्यतृप्तत्व संकुचित हो जाता है। नित्यत्व का संकुचित करने वाला तत्त्व 'काल' है जिसके कारण देहादिकों से संबद्ध होकर जीव अपने को अनित्य समझने लगता है। इसी प्रकार 'नियति' जीव की स्वातंत्र्य शक्ति को संकुचित कर देती है। इन्हीं माया जनित कंचुकों से आवृत्त जीव पुरुष कहलाता है इदमंश रूप प्रकृति से महदादि पृथ्वीपर्यन्त तत्त्व सांख्यरीति से उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मवाद तथा ईश्वराद्वयवाद में भेद शंकराचार्य के बाद आदि भाषाओं के द्वारा प्रतिपादित ईश्वराद्वयवाद में पर्याप्त अन्तर है। ईश्वराद्वयवाद में अज्ञान या माया की प्रवृत्ति को आकस्मिक नहीं माना जाता। इसे आत्मा का स्वातंत्र्यमूलक रूप माना जाता है। जैसे पुरुष जान बूझकर नाना प्रकार का अभिनय करता है, ठीक वैसे ही परमेश्वर भी अपनी इच्छा से नाना प्रकार की भूमिकाओं को ग्रहण करता है। यह अपने स्वरूप को प्रकट करने या ढँकने में स्वतंत्र है। जिस समय वह अपने स्वरूप को ढँक लेता है उस समय भी उसका आवरणहीन

रूप विद्यमान रहता है। अज्ञान या माया परमेश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति का विजृम्भणमात्र है। संसार की सृष्टि करने में लीलापरायण परमेश्वर की लीला ही मुख्य कारण है। किन्तु इसके विपरीत शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्म विशुद्ध साक्षिस्वरूप है, उसमें कर्तृत्व नहीं है। यह विश्वलीणं हैं। कर्तृत्वादि धर्म मायाजन्य होने के कारण मिथ्या है। ईश्वराद्वयवाद में ज्ञान और भक्ति दोनों को मुक्ति का साधन माना गया है। यह न तो शुद्ध ज्ञान-मार्ग को ही ठीक मानता है और न ही ज्ञान-विहीन भक्ति मार्ग को किन्तु शंकराचार्य ने एकमात्र ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना है। इनके मतबन्धन का कारण अविद्या है। अतः विद्या के उदय से अविद्या के दूर होते ही जीव मुक्त हो जाता है। जीव परमार्थतः मुक्त ही है। अविद्या के कारण ही वह अपने को वृद्ध समझ रहा है। जिस क्षण उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है। इसलिये मुक्ति के लिये किसी कर्म की अपेक्षा नहीं है। शङ्कराचार्य के मत में भक्ति भी मोक्ष का साधन नहीं है। भक्ति के लिए भावना आवश्यक है। भक्त और भगवान् के भेद को माने बिना भक्ति की व्याख्या संभव नहीं। अतः अद्वैत की चरमावस्था में भक्ति का कोई स्थान नहीं है।

१.२.४ शाक्त्यद्वैतवाद

शैव दर्शन के समान शाक्तदर्शन (त्रिपुरादर्शन) भी दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवाद का समर्थक है। छत्तीस तत्वों से परे एक तत्वातीत पदार्थ है जो विश्व में विस्तृत होने पर भी विश्व से पृथक है। अतएव वह एक साथ विश्वात्मक भी है और विश्वोत्तीर्ण भी। सदाशिव से लेकल क्षितिपर्यन्त चौंतीस तत्व विश्व कहलाता है। जिस तत्व का यह विश्व उन्मेषमात्र है वह तत्त्व 'शक्ति' है। शक्ति के साथ शिव सदा मिले रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव है और शिव ही बहस होने पर शक्ति है अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख दोनों भाव सनातन है। शिवतत्त्व में शक्तिभाव गौण और शिव भाव प्रधान है जबकि शक्ति तत्त्व में शिव भाव गौण और शक्ति भाव प्रधान है। तत्त्वातीत दशा में न शक्ति, शिव की प्रधानता है और न शक्ति की, प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। वहीं शिव-शक्ति का सामरस्य है। इस सामरस्य को शैव लोग परम शिव के नाम से पुकारते हैं, परन्तु शाक्तलोक पराशक्ति के नाम से। शाक्त मत में शिव पराशक्ति से उत्पन्न होकर जगत का उन्मीलन करते हैं। शैव दर्शन के समान शाक्तदर्शन में भी भक्ति को मुक्ति का प्रमुख साधन स्वीकार किया गया है।

१.२.५ विज्ञानाद्वैतवाद

शंकराचार्य के पहले सर्वास्तिवाद के समान विज्ञानवाद भी अत्यन्त प्रसिद्ध था। यह योगाचार सम्प्रदाय का सिद्धान्त है। यद्यपि लंकावतार सूत्र आदि ग्रन्थों में भी विज्ञानवाद का प्रतिपादन किया गया था तथापि दार्शनिक क्षेत्र में विज्ञानवाद की प्रतिष्ठा और मैत्रेयनाथ तथा असंग, वसुबन्धु और इनके

अनुयायियों के प्रयत्न से हुई थी। मैत्रेयनाथ तथा असंग के अनन्तर वसुबन्धु ने विज्ञानवाद के इतिहास में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था। अपने बड़े भाई असंग के प्रभाव से वसुबन्धु वैभाषिक मत को छोड़कर विज्ञानवादी बन गये थे। वसुबन्धु ने योगाचार मत में दीक्षित होने पर बीस और तीस कारिकाओं में 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' लिखी। इसे विंशिका और त्रिंशिका के नाम से डा० सिलेवा लेवी ने पेरिस से प्रकाशित किया है। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' का नितान्त प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। वसुबन्धु के शिष्यों में आचार्य स्थिरमति, विमुक्तसेन, गुणप्रभ तथा दिङ्नाग ने अत्यधिक क्रांति प्राप्त की वो स्थिरमति ने अपने गुरु द्वारा रचित त्रिंशिका महायान सूत्रांलकारवृत्ति और मध्यान्त विभागसूत्र के ऊपर टीका लिखी गई थी। विमुक्त सेन प्रज्ञापारमिता के विशेषज्ञ थे गुणप्रभ ने विनय में विशेषज्ञता प्राप्त की थी। परन्तु वसुबन्धु के शिष्यों में दिङ्नाग ही सर्वश्रेष्ठ थे। ये शास्त्रार्थ में अत्यन्त थे। इन्होंने प्रमाण की विशेषरूप से परीक्षा की। उनके प्रमाण समुच्चय आलम्बन परीक्षा, त्रिकाल परीक्षा, नयद्वार, नयमुख, नयप्रवेश आदि ग्रन्थ शंकराचार्य के समय में प्रतिष्ठित ग्रन्थों में गिने जाते थे। प्रमाणसमुच्चय में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की परीक्षा की गई है। स्वलक्षण तथा सामान्यलक्षण रुप द्विविध प्रमेयों के ग्रहण के निमित्त प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण को स्वीकार किया गया है। अर्थक्रियासमर्थ वस्तु स्वलक्षण है। इससे जो भिन्न है वह सामान्यलक्षण है। दिङ्नाग के मत कल्पनासंसृष्ट एवं नामजात्यादियुक्त ज्ञान परोक्ष है तथा कल्पनाहीन ज्ञान प्रत्यक्ष है। दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन हुए। ईश्वरसेन के शिष्य धर्मकीर्त्ति अत्यन्त कुशाग्रमति थे। प्रमाणवार्त्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु सम्बन्धपरीक्षा आदि इनके प्रधान ग्रन्थ हैं।

विज्ञानवाद के मतानुसार विज्ञान ही एकमात्र सत्य है। यह उपचारसमन्वित नानात्मक संसार मनोविजृम्भणमात्र है। संसार दो प्रकार के उपचार अनुभूत होते हैं - (१) आत्मोपचार तथा (२) धर्मोपचार। जीव,जन्तु,मनुष्य ये सब आत्मोपचार हैं। स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान ये सब धर्मोपचार हैं। ये दोनों प्रकार के उपचार विज्ञान के ही परिणाम हैं। विज्ञान के बाहर स्वतंत्र रूप से इनकी सत्ता नहीं है। विशेष परिकल्पितस्वभाव वाला होने के कारण अवास्तविक है परन्तु विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से नितान्त सत्य है। इस प्रकार विज्ञानवाद के अनुसार एकमात्र विज्ञान की ही सत्ता को स्वीकार किया गया है।

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य के तर्कपाद में विज्ञानवाद का प्रबल युक्तियों के द्वारा खंडन किया गया है।[30] कहते हैं कि **'उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थ स्तम्भ: कुड्यं घट: पट इति। न चोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति।'** जबकि हमें घट, पट, स्तम्भ, कुड्य आदि बाह्य पदार्थों की उपलब्धि स्पष्टरूप से होती है, हम इन उपलभ्यमान पदार्थों का अभाव कैसे मान सकते हैं ?[31]

[30] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।२८

[31] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।२८

घटादि पदार्थ हमें उपलब्धि के विषय के रूप में ही उपलब्ध होते हैं। **'न हि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभते'** अर्थात् उपलब्धि को ही कोई पुरुष घटादि पदार्थ के रूप में उपलब्ध नहीं करता है।[32] अतएव विज्ञान (उपलब्धि) के अतिरिक्त विज्ञेय की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। किं च यदि विज्ञान के अतिरिक्त विज्ञेय की सत्ता न मानी जाय तो विज्ञान के भेद की व्याख्या नहीं की जा सकती है। विज्ञेय पदार्थ के भेद के कारण ही विज्ञान में भेद संभव है। घटज्ञान, पटज्ञान इत्यादि में ज्ञान के विशेषणरूप घट और पट के भेद के कारण ही ज्ञान में भेद होता है। अतएव ज्ञान तथा ज्ञान के विषय में भेद को मानना आवश्यक है। विज्ञान से पृथक् विज्ञेय की सत्ता को स्वीकार किये बिना विज्ञान के भेद की समुचित व्याख्या संभव नहीं है। इसी प्रकार विज्ञान से व्यतिरिक्त स्वयंसिद्ध साक्षी की सत्ता का भी आलाप नहीं किया जा सकता। विज्ञान उत्पत्तिविनाशशील क्षणिक एवं माना है किन्तु इसके विपरीत विज्ञान का साक्षीभूत तस्य कूटस्थ, नित्य एवं अधिकारी है। अतएव विज्ञान से पृथक् नित्य, शुद्ध, साक्षिस्वरूप चैतन्य की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है - **साक्षिप्रत्ययोश्च स्वभावैषम्यादुपलब्धोपलभ्यभावोपपत्तेः।**[33] इस प्रकार शंकराचार्य ने प्रबल युक्तियों के आधार पर विज्ञानवाद खंडन किया है।

१.३ मण्डन और सुरेश्वर की भिन्नता तथा भामती प्रस्थान और विवरण प्रस्थान के उद्भव पर इनके विचारों का प्रभाव

वेदान्त दर्शन के इतिहास में आख्यान् प्रसिद्ध है कि सुरेश्वर का गृहस्थाश्रम का नाम मण्डन मिश्र था। सुरेश्वर पहले कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। ये एक कर्मवादी मीमांसक थे शंकराचार्य से शास्त्रार्थ में पराजित होने पर ये उनके शिष्य बन गये और तब उनका नाम सुरेश्वर पड़ा। इस आख्यान् के अनुसार मण्डन के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ सुरेश्वर द्वारा गृहस्थाश्रम में रचे गये थे। जैकोब ने भी 'नैष्कर्म्यसिद्धि' के द्वितीय संस्करण में मण्डन और सुरेश्वर की एकता को स्वीकार किया है। मण्डन और सुरेश्वर का यह अभेदवाद विद्यारण्य के शंकर दिग्विजय की पूर्वोक्त आख्यान् के आधार पर है। इसी कारण इतने दिनों तक यह मत पण्डित समाज में प्रामाणिक माना जाता रहा। किन्तु आजकल इस मत को प्रामाणिक नहीं माना जाता। महामहोपाध्याय कुप्पु स्वामी ने ब्रह्मसिद्धि की भूमिका में अनेक युक्तियों के आधार पर मण्डन और सुरेश्वर की भिन्नता को प्रदर्शित किया है। उनका कथन है कि मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में जो विचार प्रकट किये हैं वे सुरेश्वराचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के मौलिक सिद्धांतों के विरुद्ध हैं। अतएव मण्डन और सुरेश्वर को एक नहीं माना जा सकता। यद्यपि मण्डन और सुरेश्वर दोनों ही 'अद्वैतवाद' को स्वीकार

[32] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।२८

[33] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।२८

करते हैं, तथापि 'अद्वैत' के स्वरूप के सम्बन्ध में इनमें परस्पर मतभेद है। मण्डन 'भावाद्वैत' के समर्थक है, किन्तु सुरेश्वर ने भावाद्वैत का खण्डन किया है। मण्डन का 'भावाद्वैत' का सिद्धांत अद्वैत मत में उनकी अपनी विशेष देन है । इस मत के अनुसार ब्रह्म एकमात्र ही भावरूप है । प्रपंचाभाव तथा अविद्याध्वंसरूपी अभावात्मक वस्तुओं के कारण भावरूप ब्रह्म की अद्वितीयता में कोई व्याघात नहीं होता। मण्डन ने ब्रह्मसिद्धि के सिद्धिकाण्ड में भावाद्वैत का प्रतिपादन किया है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में प्रपंचाभाव की सत्यता का बड़ी दृढता से समर्थन किया है। जब हम प्रपंचाभाव और अविद्याध्वंस के सम्बन्ध में मण्डन और सुरेश्वर के विचारों की तुलना करते हैं तो दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। मधुसूदन सरस्वती ने वेदान्तकल्पलतिका में मण्डन और सुरेश्वर के इस वैमत्य को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया है। उनका कथन है कि सुरेश्वर ने बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक में मण्डन के भावाद्वैत का खण्डन किया है। सुरेश्वर का यह तर्क- 'नाभावनिष्ठोऽन्यत्रापि निषेध किमुताश्रये' मण्डन के प्रपंचस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते' इस तर्क के जो भावाद्वैत का मुख्य आधार है वह खण्डन के लिए प्रयुक्त हुआ है।[34]

मण्डन मिश्र ने 'स्फोटसिद्धि' में भर्तृहरि के स्फोटवाद का समर्थन किया है जबकि शंकराचार्य ने भर्तृहरि के स्फोटवाद का प्रबल खण्डन किया है। सुरेश्वर ने भी शंकराचार्य का अनुसरण करते हुए स्फोटवाद की अमान्यता को स्वीकार किया है।

ब्रह्मसिद्धि तथा विभ्रमविवेक नामक ग्रन्थों में मण्डन मिश्र ने भाट्टों के विपरीतख्याति या अन्यथाख्याति का समर्थन करते है, जबकि सुरेश्वर में स्पष्ट रूप से अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का समर्थन तथा अन्यथाख्यातिवाद का खण्डन किया है।
मण्डन ने दो प्रकार की अविद्या को स्वीकार किया है- (१) अग्रहण तथा (२) अन्यथाग्रहण।
अन्यथाग्रहण रूपी अविद्या को दूर करने में वे मनन की उपयोगिता को मानते हैं। भामतीकार भी अपने प्रथम श्लोक 'अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य' में दो प्रकार की अविद्या को स्वीकार करते है किन्तु सुरेश्वराचार्य ने अपने 'बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक' में मण्डन के अविद्या द्वैविध्य का खण्डन करते है।

मण्डन ने अविद्या के आश्रय तथा विषय में भेद माना है। उनके मतानुसार अविद्या का आश्रय जीव है जबकि इसका विषय ब्रह्म है। वाचस्पति ने भी अविद्या का आश्रय जीव को तथा अविद्या का विषय ब्रह्म को माना है। परन्तु सुरेश्वराचार्य अविद्या के आश्रय तथा विषय के भेद को स्वीकार नहीं करते। उनके मत में ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय तथा विषय दोनों है। इस प्रसंग में यह

[34] ब्रह्मसिद्धि - भूमिका महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी

उल्लेखनीय है कि मण्डन और सुरेश्वर का अविद्या के आश्रय तथा विषय के सम्बन्ध में यह मतभेद ही आगे चलकर अद्वैतवेदान्त में 'भामती प्रस्थान' तथा 'विवरण प्रस्थान' इन दो भिन्न-भिन्न स्थानों के रूप में आविर्भूत हुआ।

मण्डन मिश्र ने शाब्दज्ञान को सम्बन्धात्मक एवं परोक्षात्मक रुप से स्वीकार किया हैं। उनके मत में 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्यों से उत्पन्न ज्ञान ब्रह्मसाक्षात्कार को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। प्रसंख्यान के द्वारा शाब्दज्ञान की संबन्धात्मकता एवं परोक्षात्मकता के दूर होने पर ही ब्रह्मसाक्षात्कार संभव है। 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस उपनिषद् वाक्य को वे अपने पक्ष के समर्थन में प्रस्तुत करते हैं। वाचस्पति मिश्र भी ध्यान के द्वारा ही ब्रह्म साक्षात्कार को संभव मानते हैं। परन्तु इसके विपरीत सुरेश्वराचार्य ने मण्डन के प्रसंख्यानविषयक मत का तीव्र खण्डन भी किया है। नैष्कर्म्यसिद्धि तथा वार्त्तिक ग्रन्थों में उन्होंने ब्रह्मसाक्षात्कार को वेदान्तवाक्य ही स्वीकार किया है। उन्होंने मण्डन के उस मत का खण्डन किया है जिसके अनुसार शब्द से केवल परोक्षात्मक एवं सम्बन्धात्मक ज्ञान की ही उत्पत्ति होती है उनके मत में शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति संभव है। ज्ञान का अपरोक्षत्व या परोक्षत्व करणस्वभाव प्रयुक्त न होकर विषयस्वभावप्रयुक्त होता है। अपरोक्षस्य भाववस्तुविषयक शाब्द बोध भी अपरोक्ष ही होता है, परोक्ष नहीं। 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्य से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष ही है परोक्ष नहीं। सुरेश्वर ने अपने वार्तिक ग्रन्थों में मण्डन के उस मत की तीव्र आलोचना की है जिसके अनुसार शब्द से केवल परोक्ष ज्ञान ही संभव है। मधुसूदन सरस्वती ने भी 'वेदान्तकल्पलतिका' में मण्डन के समर्थकों को 'तार्किकों' से भयभीत होकर उनका उपहास किया है।

मण्डन मिश्र ने ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का समर्थन किया है जबकि शंकर तथा सुरेश्वर दोनों ही ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के विरोधी हैं। सुरेश्वर ने नैष्कर्म्यसिद्धि में प्रबल युक्तियों के आधार पर ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का खण्डन किया है।

जीवन्मुक्ति के प्रश्न पर भी मण्डन और सुरेश्वर में मतभेद है। मण्डन मिश्र जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते उनके अनुसार विदेहमुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। भगवद्गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ को वे सिद्ध (मुक्त) न मानकर साधकमात्र मानते हैं। ज्ञान से अज्ञान के दूर होते ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। बंधन का कारण देहादि नहीं, अपितु देहादि में अहंत्व की भावना ही है। इसलिये आत्मज्ञान के उदित होते ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। किन्तु अज्ञान के दूर हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होने तक देहादि अवस्थित रहते हैं। क्योंकि ज्ञान के द्वारा संचित कर्मों का ही क्षय होता है, प्रारब्ध कर्मों का नहीं। प्रारब्ध कर्मों का क्षय तो फलोपभोग से ही संभव है। प्रारब्ध कर्मों के फलोपभोग के लिये जीवन्मुक्त को अनेक नये-नये शरीर भी धारण करने पड़ते है। अपान्तरतम, वसिष्ठ, सनत्कुमार, दक्ष, नारद आदि जीवन्मुक्त पुरुषों को भी प्रारब्ध कर्मों के फलोपभोग के लिये नवीन शरीर धारण करने पड़े थे। किन्तु शरीर धारण करने पर भी मुक्ति में कोई अन्तर नहीं आने पाता। सुरेश्वर कहते हैं कि जीवन्मुक्त के लिये शरीर धारण करने या न करने में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि मनुष्य के बन्धन का कारण अविद्या

ही है; शरीर नहीं। इस प्रकार उन्होंने शंकर द्वारा प्रतिपादित जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का भलीभांति समर्थन किया है। किन्तु इसके विपरीत मण्डन मिश्र जीवन्मुक्ति के सिद्धांत को नहीं मानते।

शंकराचार्य के प्रति मण्डन और सुरेश्वर की भावनाओं में भी महान् अन्तर दीख पड़ता है। मण्डन मिश्र शंकराचार्य को एक प्रतिद्वन्दी विचारक के रूप में मानते हुए उनके सिद्धान्तों से स्थान-स्थान पर अपना मतभेद प्रतिपादित करते हैं। किन्तु इसके विपरीत सुरेश्वर शंकराचार्य को अपने परम आराध्य गुरु के रूप में मानते हैं और कहीं भी उनसे अपना मतभेद प्रदर्शित नहीं करते। मण्डन की ब्रह्मसिद्धि का आधार प्रस्थानत्रयी है, जबकि सुरेश्वर के सभी ग्रन्थ शंकराचार्य के भाष्यों पर ही आधारित हैं। मण्डन अपने सिद्धांत के समर्थन में शंकर को कहीं भी प्रमाण रूप से प्रस्तुत नहीं करते। मण्डन ने गौड़पाद को भी केवल एक बार ही उद्धृत किया है। ब्रह्मसिद्धि में गौडपाद की माण्डूक्य कारिका का केवल एक श्लोक उद्धृत किया गया है। अपने मत के समर्थन में मण्डन मिश्र भर्तृहरि का उद्धरण अधिक देते हैं। इसके विपरीत सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थों में शंकराचार्य के भाष्यग्रन्थों से स्थान-स्थान पर उद्धरण देते हुये अपने पक्ष का समर्थन किया है। शंकराचार्य के प्रति मण्डन और सुरेश्वर की भावनाओं का यह स्पष्ट अन्तर भी इस मत का समर्थक है कि ये दोनों अभिन्न व्यक्ति नहीं है।

'जीवन्मुक्तिगतो यदाह भगवान् सत्संप्रदायप्रभु: जीवाज्ञानवचस्तदीदृगुचितं पूर्वापरालोचनात्।

अन्यत्रापि तथा बहुश्रुतवच: पूर्वापराचांचना न्नेतव्यं परिह्यत्य मण्डनवचस्तद् ध्यन्यथाप्रस्थितम्।' -

सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेपशारीरक में मण्डन प्रस्थान को शंकरप्रस्थान से भिन्न बतलाया है।[35] संक्षेपशारीरक के टीकाकारों से भी प्रस्थान को शंकरप्रस्थान से भिन्न माना है जबकि सुरेश्वर को शंकर का अनुयायी बतलाया है।[36] प्रकाशात्मयति ने अपने पंचपादिकाविवरण और शब्द निर्णय नामक ग्रंथों में पद्मपाद तथा सुरेश्वर के विचारों का समर्थन करते है जबकि मण्डन मिश्र के विचारों की कटु आलोचना की है।[37] आनन्दबोध ने न्यायमकरन्द में अनेक स्थलों पर ब्रह्मसिद्धि को उद्धृत किया है। उन्होंने मण्डन के कुछ विचारों का समर्थन भी करते है किन्तु जहाँ उन्हें सुरेश्वर के विचार युक्तियुक्त

---

[35] संक्षेप शारीरक श्लोक १७४

[36] विश्ववेदकृत टीका सिद्धान्तदीप- मण्डनमिश्रस्य तु प्रस्थानान्तरत्वात्तदीयं वचो यथाश्रुतमेवास्तु (Govt, Ori, Mss Lib., Madras Ms. R No. 558 वेदानन्दकृत टीका संबन्धोक्ति-अयमेव न्यायो वार्तिकादिषु नेतव्यः परिहृत्य मण्डनवच:, तस्यान्यथाप्रस्थितत्वात् (Govt, Ori, Mss. Lib., Madras, Ms. R No. 2919

[37] पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ १०५ तथा शाब्दनिर्णय श्लोक ७१

प्रतीत हुए वहाँ मण्डन के विचारों की आलोचना की है।[38] चित्सुखाचार्य ने न्यायमकरन्द की टीका में मूल ग्रन्थ में उद्धृत सभी पंक्तियों का प्रसंग बतलाया है, किन्तु कहीं भी ब्रह्मसिद्धिकार मण्डन मिश्र तथा वार्तिककार सुरेश्वराचार्य की एकता का संकेत नहीं दिया। इसके विपरीत चित्सुखाचार्यरचित 'तत्त्वदीपिका' की टीका में प्रत्यक्स्वरूप ने मण्डन मिश्र को सुरेश्वर से भिन्न माना है।[39] आनन्दानुभव ने न्यायरत्नदीपावली में सुरेश्वर और मण्डन को भिन्न बतलाया है। आनन्दगिरि ने भी जिन्होंने कि न्यायरत्नदीपावली तथा सुरेश्वर के वार्तिकों पर टीका लिखी है, सुरेश्वर और मण्डन के भेद को स्वीकार किया है और यह कहा है कि सुरेश्वर ने मण्डन के प्रसंख्यानसम्बन्धी विचारों का खण्डन किया है। कल्पतरुकार अमलानन्द ने भी मण्डन और सुरेश्वर के भेद को स्वीकार किया है।[40] विद्यारण्य ने विवरणप्रमेयसंग्रह में सुरेश्वर को विश्वरूपाचार्य के नाम से उद्धृत किया है तथा मण्डन को ब्रह्मसिद्धिकार के साथ में उससे भिन्न व्यक्ति माना है।[41] अप्पयदीक्षित ने वार्तिककार और ब्रह्मसिद्धिकार को वार्त्तिक और ब्रह्मसिद्धि के लेखक के रूप में अलग-अलग माना है।[42] मधुसूदन सरस्वती और ब्रह्मानन्द सरस्वती भी मण्डन और सुरेश्वर की भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते है अद्वैतसिद्धि,अद्वैतरत्नलक्षण,लघुचन्द्रिका तथा गुरुचन्द्रिका में मण्डन के विचारों को जिस रूप में उपस्थित किया गया है, उससे भी इसी मत की पुष्टि होती है।[43] ज्ञानामृत ने सुरेश्वर की नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका विद्यासुरभि में मण्डन के प्रसंख्यान सम्बन्धी विचारों का खण्डन किया है और यह सिद्ध किया है कि शाब्दबोध ब्रह्मसाक्षात्कार में समर्थ है। इसी प्रसंग में ज्ञानामृत ने मण्डन को मीमांसक बतलाया है और कहा है कि ब्रह्मसिद्धि में मण्डन ने जिस अद्वैतसंप्रदाय का प्रवर्तन किया है वह सत्सम्प्रदाय नहीं अपितु सुरेश्वर का सम्प्रदाय ही शंकराचार्य के सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण सम्प्रदाय है।[44]

मंडन और सुरेश्वर के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मंडन और सुरेश्वर अभिन्न व्यक्ति नहीं है। ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। सुरेश्वर अपने गुरु शंकराचार्य के परम भक्त हैं और उन्होंने अपने ग्रन्थों में अपने गुरु के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का पूर्णरूप से समर्थन किया है। इसके विपरीत मण्डन में अनेक विषयों पर शंकराचार्य से अपना मतभेद प्रकट किया है। इन्होंने अपनी ब्रह्मसिद्धि में एक नई विचारधारा का प्रवर्तन किया है। मंडन द्वारा प्रवर्तित इस विचारधारा से भामतीकार वाचस्पति मिश्र अत्यधिक प्रभावित हुये। इन्होंने भामती में अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मंडन के विचारकों

---

[38] न्यायमकरन्द, पृष्ठ ३२३

[39] नयनप्रसादिनी टीका पृष्ठ ३३३ तथा ३४०

[40] वेदान्तकल्पतरु पृष्ठ ९२१

[41] विवरण प्रमेय संग्रह, पृष्ठ ९२ तथा २२४

[42] सिदान्तलेश्य संग्रह पृष्ठ ४१८ तथा ४९८

[43] अद्वैतसिद्धि पृष्ठ ३१८. अद्वैतरत्नरक्षण, पृष्ठ २१ लघुचन्द्रिका पृष्ठ ३२६, गुरुचन्द्रिका पृष्ठ ४८४

[44] Govt, Ori, Mss. Lib, Madras, Ms, R, No. 3354, Pp. 350-51

का समर्थन किया। परिणामस्वरूप अद्वैतवेदान्त में एक नये प्रस्थान का जन्म हुआ जो भामती की विचारसरणि का अनुसरण करने के कारण भामती प्रस्थान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार मंडन मिश्र के द्वारा प्रवर्तित विचारधारा ने भामतीप्रस्थान के उद्भव और विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके विपरीत पद्मपाद तथा सुरेश्वर के विचारों से प्रभावित होकर प्रकाशात्मयति ने एक दूसरी विचारधारा को जन्म दिया जो आगे चलकर पंचपादिकाविवरण के नाम पर विवरण प्रस्थान के नाम से विख्यात हुई।

अध्याय २

आचार्य सुरेश्वर, वाचस्पति मिश्र एवं प्रकाशात्मयति का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

अध्याय २

आचार्य सुरेश्वर, वाचस्पति मिश्र एवं प्रकाशात्मयति का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

२.१ आचार्य सुरेश्वर का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

आचार्य सुरेश्वर शंकराचार्य के चार प्रमुख शिष्यों (पद्मपादाचार्य, सुरेश्वराचार्य, हस्तामलकाचार्य तथा त्रोटकाचार्य) में से एक थे। 'संन्यासोत्पत्ति' में इनका नाम स्वरूपाचार्य[45] भी बताया गया है। विद्वानों की ऐतिहासिक गवेषणा ने मंडन एवं सुरेश्वर की एकता या विभिन्नता के स्थापन में सुरेश्वर के साथ केवल मंडन की ही नहीं प्रत्युत् विश्वरूप उम्ब्रेक तथा भवभूति नामधारी व्यक्तियों को भी एक सूत्र में ग्रथित कर दिया है तथा मंडन मिश्र एवं मंडन-इन-मंडनद्वय को संभावना भी व्यक्त की है।[1] मंडन और विश्वरूपादि सुरेश्वर हैं या सुरेश्वर से पृथक्-पृथक् हैं - इसका निर्णय ऐतिहासिक शोध से सम्बन्धित है, आभास प्रस्थान-विवेचक शोध-प्रबन्ध से नहीं। ब्रह्मसिद्धि अवच्छेद परक है और नैष्कर्म्यसिद्धि तथा वार्तिक आभासपरक है । अर्थात् **उक्तानुक्तदुरुक्तादि चिन्तायत्र प्रवर्तते । तं ग्रन्थंवार्तिकं प्राहुवार्तिकज्ञा मनीषिणः। तथा सुविष्यष्टार्थतो भाष्यं टीका नैवव्यपेक्षते ।**[46] आभासवादी आचार्यों ने ब्रह्मसिद्धि सम्मत मत का प्रपंचन और खंडन भी किया है[1]। भले ही ब्रह्म-सिद्धिकार मंडन तथा वार्तिक एवं नैष्कर्म्यसिद्धिकार सुरेश्वर एक ही व्यक्ति हों, पर दोनों के नाम से विश्रुत रचनाओं में कुछ मूलभूत सैद्धान्तिक अन्तर स्पष्ट लक्षित होते हैं अतः आभासवादी आचार्य सुरेश्वर के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं[47] के आधार पर आभासपक्ष का उपन्यास उचित होगा।

आचार्य सुरेश्वर का कर्तृत्व –

१) पञ्चीकरणवार्तिक - इस पर ज्ञानोत्तमाकृत चन्द्रिका चित्सुख की भावतत्त्वप्रकाशिका ज्ञानामृत की विद्यासुरभि।

२) नैष्कर्म्यसिद्धि मानसोल्लास - अखिलात्मा की नैष्कर्म्यसिद्धि विवरण तथा रामदत्तकृत सारार्थ प्रमुख है।

---

[45] शंकराचार्यस्य चत्वारी शिष्या || स्वरूपाचार्यः ॥१॥ पद्मपादाचार्यः ॥२॥ नरा त्रोटकाचार्यः ॥३॥ पृथ्वीधराचार्यः ॥४॥ संन्यासोत्पत्तिः पृष्ठ २ हस्तलिखित

पुस्तिका, संवत् १८६६।

[46] सुरेश्वर वार्तिक तथा टीका में कोई अन्तर नहीं करते, ऐसा इस वार्तिकांश (३|२|१२१) से ज्ञात होता है।

[47] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् (२) तैत्तिरीयोपनिषद्भावार्तिकम् (३) पंचीकरण वार्तिकम् (४) दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्तिकम् तथा (५) नैष्कर्म्यसिद्धिः

२.२ वाचस्पति मिश्र का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

वाचस्पति मिश्र का जन्म स्थान मिथिला की पावनधरा को माना है। वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित भामती टीका शांकर भाष्य पर लिखी गई है जो संस्कृत जगत् के सुप्रसिद्ध टीकाकार है एवं मंडन विरचित ब्रह्म सिद्धि पर तत्त्व समीक्षा नामक भाष्य भी वाचस्पति मिश्र द्वारा लिखित है। इनके द्वारा अनेक भाष्य भी लिखे गए। न्याय सूची निबन्ध के अनुसार उनका समय विक्रम संवत् के रूप में ८४० ई.प. माना गया। वाचस्पति मिश्र का जन्म स्थान पण्डित अम्बिका दत्त व्यास ने मिथिला बताया है। मिथिलातत्त्व विमर्श में विद्वान पण्डित परमेश्वर झा इनके गाँव का नाम "भामा" बताते हैं। इनकी श्रीमती जी का नाम भामती है इसी के आधार पर गाँव का नाम "भामा" माना है। इनके माता-पिता के सम्बन्ध में कहीं भी कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है। वाचस्पतिमिश्रकृत भामती शारीरकभाष्य की प्रमुख टीका है। इन्होंने "सामवत" नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार और नटी के संवाद से इस तथ्य को प्रस्तुत किया है –

"वाचस्पतिना तुल्यो वाचस्पतिपण्डितो यत्र।

जातः शास्त्रपयोधौ निष्णातो धीरधौरेयः" ॥ [48]

न्यायसूत्रोद्धार में *"वाचस्पतिमिश्रेण मिथिलेश्वरसूरिणा"* [49] लिखा है। इनके गुरु का नाम त्रिलोचन माना जाता है इसका उल्लेख इन्होंने न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका में प्रत्यक्ष लक्षण के विश्लेषण के क्रम में व्यवसाय पद की व्याख्या के करते हुए दिया है –

"त्रिलोचनगुरुनीतमार्गानुगमनोन्मुखैः।

यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमिदृशम्" ॥ [50]

वाचस्पति मिश्र ने अपने समय के विषय में संकेत न्यायसूचीनिबन्ध में दिया है –

---

[48] भारतीय साहित्य के निर्माता वाचस्पति मिश्र, राजेन्द्र प्रसाद दुबे, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, १९९८ , पृष्ठ १७ .

[49] भारतीय साहित्य के निर्माता वाचस्पति मिश्र, राजेन्द्र प्रसाद दुबे, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, १९९८ , पृष्ठ १७ .

[50] न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका उद्धृत - भारतीय साहित्य के निर्माता वाचस्पति मिश्र, राजेन्द्र प्रसाद दुबे, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, १९९८ , पृष्ठ १७

"न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।

श्रीवाचस्पति मिश्रेण वस्वंकवसुवत्सरे" ॥ [51]

ज्योतिषशास्त्र के *"अंकाना वामतो गतिः"* सिद्धान्त के अनुसार वसु = ८, अंक=९, वसु= ८ अर्थात् ८९८ शकाब्द या विक्रमाब्द है। यह समय शकाब्द या विक्रमाब्द है यह विवादित विषय है।

वाचस्पति मिश्र का कर्तृत्व

वाचस्पति मिश्र ने अनेक ग्रन्थ लिखें उन्होनें सांख्यकारिका, विधिविवेक,न्यायवार्त्तिक पर भी भाष्य लिखे है। वाचस्पति मिश्र की सबसे अन्तिम रचना भामती को माना गया है। भामती टीका के अन्त मे वे कहते है कि उन्होंने इस ग्रन्थ को महान् नृप के राज्य काल के समय लिखा।

भामती के अन्त में अपनी रचनाओं का परिचय दिया है -

यन्न्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वबिन्दुभिः।

यन्न्यायसांख्य योगानां वेदान्तानां निबन्धनैः [52]**॥**

१. न्यायकणिका - जो मण्डन मिश्र कृत विधिविवेक की टीका है।

२. तत्त्वसमीक्षा - सुरेश्वराचार्य की ब्रह्मसिद्धि की टीका है।

३. तत्त्वबिन्दु – भाट्टमत को आधार करके लिखा गया ग्रन्थ है। शाब्दबोध की मौलिक प्रक्रिया का प्रतिपादन किया है।

४. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका – उद्योतकर कृत न्यायवार्तिक की टीका है।

५. सांख्यतत्त्वकौमुदी- ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका की टीका है।

६. तत्त्ववैशारदी – महर्षि पतञ्जलि कृत योगसूत्र पर तत्त्वैशारदी टीका है।

७. भामती - आचार्य शंकर कृत शारीरकभाष्य की टीका है जो इनकी सबसे अन्तिम रचना है।

---

[51] न्यायसूचीनिबन्ध, समाप्ति श्लोक ४।

[52] भामती पृष्ठ १०२०।

विशेष – यहाँ श्लोक में उल्लेखित न्यायशब्द से वाचस्पति की न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका तथा न्यायसूचीनिबन्ध नामक ग्रन्थ दोनों ग्रहण करना चाहिए। यह न्यायदर्शन की प्रौढ कृति है जिसमें पाँच अध्याय तथा प्रत्येक अध्याय में दो-दो आन्हिक हैं।

भामती टीका : एक सामान्य परिचय

यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने षड्दर्शन पर टीका लिखी है परन्तु उनके विचारों की चरम पराकाष्टा भामती में देखने को मिलती है। भामती वाचस्पतिमिश्रकृत शारीरकभाष्य की प्रमुख टीका है वाचस्पति स्वयं आचार्य शंकर के प्रति आदर भाव प्रकट करते हुए लिखते हैं कि जिस प्रकार नालियों का जल गंगा के जलप्रवाह को प्राप्त कर पवित्र हो जाता है उसी प्रकार हमारी वाणी अपवित्र होने पर भी इस प्रसन्न और गम्भीर भाष्य (शारीरकभाष्य) को प्राप्त कर पवित्र हो जाएगी –

"नत्वा विशुद्धविज्ञानं शंकर करुणाकरम्।

भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं, तत्प्रणीतं विभज्यते॥

आचार्य्यकृतिनिवेशनमप्यवधृतं वचोऽस्मदादीनाम्।

रथ्योदकमिव गंगाप्रवाहपातः पवित्रयति[53]॥

२.३ प्रकाशात्मयति का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

प्रकाशात्मयति द्वारा १२०० ई. में रचित पंचपादिकाविवरण नामक टीका है। विवरण प्रस्थान के जनक पंचपादिकाविवरणकार स्वामी प्रकाशात्मयति है उन्होनें स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बवाद का समर्थन किया है। उनका मानना है कि प्रतिबिम्बवाद श्रुति, स्मृति तथा सूत्रों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है। उन्होंनें अपनी रचना पंचपादिकाविवरण के पृष्ठ २८९ में युक्तियों द्वारा भी प्रतिबिम्बवाद को प्रदर्शित करते है। इसी प्रकार विवरण प्रस्थान के अन्य विचारक भी प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार करते है।

पद्मपाद द्वारा रचित पंचपादिका शारीरक भाष्य की प्रमुख टीका है। पंचपादिका शब्द का आशय विस्तारार्थक "पंचि" धातु से निष्पन्न पंच शब्द का अर्थ है विस्तृत तथा ज्ञानापरपर्यायगत्यर्थक 'षद्लृ' धातु से निष्पन्न पाद शब्द का अर्थ ज्ञान बताया गया है। ऐसा ग्रन्थ जिसमें विस्तृत रूप से भाष्यार्थ

[53] भामती पृष्ठ ३।

का प्रतिपादन किया गया है। पंचपादिका नाम से ग्रन्थ को प्रथम पांच पादों तक ही सीमित मानना उचित् नही है। उन्होंने इस ग्रन्थ के भूमिका भाग में अनेक प्रमाणों के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा। पंचपादिका पर अनेक टीकाओं की रचना की गई है। आत्मस्वरूप द्वारा प्रबोध परिशोधिनी तथा विज्ञानात्मा ने तात्पर्यार्थद्योतिनी नामक टीकाओं की रचना की। सबसे प्रमुख प्रसिद्ध सर्वश्रेष्ठ टीका प्रकाशात्मयति की पंचपादिका टीका लिखी गई। पंचपादिका के गहन अर्थ को समझने व जानने के लिए , ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इन टीकाओं के समकालीन पंचपादिका विवरण पर चित्सुखाचार्य द्वारा रचित विवरणतात्पर्यदीपिका तथा नृसिंहाश्रमाचार्य कृत विवरण भाव प्रकाशिका नामक टीकाएँ श्री राम शास्त्री द्वारा मद्रास से प्रकाशित की गई है।

अध्याय ३
अद्वैत वेदान्त के त्रिविध प्रस्थानों का विकास

अध्याय- ३
अद्वैत वेदान्त के त्रिविध प्रस्थानों का विकास

अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के भाँति ही वेदान्त दर्शन का प्रभेदक विविध विचित्ररचना सम्पन्न इस जगत् के मूलान्वेषण में आरम्भवाद, सङ्घातवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद इत्यादि तत्व हैं। शङ्कर के शारीरक भाष्य पर वाचस्पति मिश्र की "भामती" के नाम से "भामती प्रस्थान", पद्मपाद की पञ्चपादिका-टीका के व्याख्याकार प्रकाशात्मयति का "पञ्चपादिका विवरण टीका" के नाम से "विवरण प्रस्थान", ब्रह्मसिद्धि की परम्परा से "वार्तिक प्रस्थान" तथा खण्डन-विधि द्वारा अद्वैत-स्थापन से "वाद प्रस्थान" का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त "प्रारम्भिक प्रस्थान" भी माना जाता है, जिसमें "प्रकरण-ग्रन्थ" की रचना हुई।

अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त, विकास तथा अध्ययन सुविधा की दृष्टि से इसको अधोलिखित रूप में विभाजन कर रेखाङ्कित कर सकते हैं :-

अद्वैत वेदान्त
शङ्कर-पूर्व-अद्वैत-वेदान्त
उपवर्ष
भर्तृमित्र
भर्तृहरि
ब्रह्मदत्त
गौडपाद
शङ्कर-प्रतिपादित अद्वैत-वेदान्त
आचार्य शङ्कर
शङ्करोत्तर-अद्वैत वेदान्त
विवरण-प्रस्थान
शङ्कर - शारीरकभाष्य
पद्मपाद - पञ्चपादिका
प्रकाशात्मयति - विवरण
स्वामी अमलानन्द- पञ्चपादिकाविवरण
नृसिंहाश्रम- वेदान्तरत्नकोष
आत्मस्वरूप- प्रबोधपरिशोधनी
विज्ञानात्म- तात्पर्यद्योतनी
सर्वज्ञ विश्वपुरट- ऋजुविवरण
चित्सुखाचार्य- तात्पर्यदीपिका
अधिकरण-प्रस्थान
भामती-प्रस्थान
शङ्कर - शारीरकभाष्य
वाचस्पतिमिश्र - भामती
अमलानन्द सरस्वती-वेदान्त कल्पतरु
लक्ष्मीनृसिंह- आभोग
अप्पयदीक्षित - परिमल
अखण्डानुभूति - ऋजुप्रकाशिका
अच्युतकृष्णतीर्थ- भामतीभावदीपिका
वल्लालसूरी - भामतीतिलक
वार्तिक-प्रस्थान
सुरेश्वराचार्य -बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्तिक,
पञ्चीकरण वार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि
विद्यारण्यस्वामी-बृहदारण्यकवार्तिकसार
मण्डनमिश्र- ईश्वरसिद्धि:
सर्वज्ञात्मुनि - संक्षेपशारीरक
चित्सुख - भावतत्त्वप्रकाशिका
विद्यामुनि- ज्ञानामृत
अखिलात्मा - नैष्कर्म्यसिद्धिविवरण
वाद-प्रस्थान/बाध-प्रस्थान
श्रीहर्ष- खण्डनखण्डखाद्य
चित्सुख- तत्त्वप्रदीपिका
मधुसूदनसरस्वती -अद्वैतसिद्धि
आनन्द-बोध- न्यायमकरन्द
अप्पयदीक्षित- मध्वमुखमर्दन,
रामानुजश्रुप्रकाशभृङ्ग

2

३.१. शङ्कर- पूर्व-वेदान्त

प्राचीन वेदान्त अर्थात् शङ्करपूर्व वेदान्त की सुदृढ़ परम्परा दृष्टिगत होती है। जैन दार्शनिक समन्तभद्र जो शंकरपूर्व थे, वे अपने ग्रन्थ आप्तमीमांसा में अद्वैतवाद का उल्लेख करते हैं -

अद्वैतकान्तपक्षे दृष्टो भेदो विरूध्यते ।
कारकाणां क्रिययोशच नैकं स्वस्मात् प्रजायते ॥[55]

बौद्ध दार्शनिक कमलशील ने भी तत्त्वसंग्रह की टीका में ''अद्वैतदर्शनावल्मिनश्च औपनिषदिका:'' कहकर अद्वैत वेदान्त का उल्लेख किया है।

बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में बादरायण, आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, बादरि, जैमिनी, कार्ष्णाजनि और काशकृत्स्न इन आठ वेदान्तियों का उल्लेख उनके नाम से किया है। कदाचित् इनमें से प्रत्येक ने अपने-अपने ब्रह्मसूत्र लिखे थे। किन्तु बादरायण के ब्रह्मसूत्र को छोड़कर अन्य अनुपलब्ध ही है । स्वयं शंकराचार्य ने अपने पूर्ववर्ती वेदान्तियों में सुन्दर पाण्ड्य, द्रविडाचार्य, उपवर्ष, भर्तृप्रपञ्च, गौडपाद तथा ब्रह्मदत्त के मतों का उद्धरण दिया है एवं मण्डन मिश्र उनके समकालीन माने जाते हैं । कतिपय परिचय अधोलिखितानुसार है -

उपवर्ष - वृत्तिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके वृत्ति का कुछ अंश मीमांसा-भाष्यकार शबर ने 1.1.5 के सूत्र-भाष्य में वृत्तिकार-ग्रन्थ के रूप में उद्धृत किया है। शंकराचार्य ने उन्हें वर्णवाद और स्फोटवाद के विरोधी का समर्थक माना है ।

भर्तृप्रपञ्च - यह एक प्रख्यात वेदान्ती थे । सम्भवतः उन्होंने बृहदारण्यकोपनिषद् पर भाष्य लिखा था जो सम्प्रति अनुपलब्ध है । शंकर, सुरेश्वर और आनन्द गिरि ने क्रमशः बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य, वार्तिक और टीका में इनके मतों का उल्लेख तथा खण्डन किया है । भर्तृप्रपञ्च सत् की आठ अवस्थाओं को मानते थे :-

1. अन्तर्यामी 2. साक्षी 3. अव्याकृत 4. सूत्रात्मा 5. विराट् 6. देवता 7. जाति और 8. पिण्ड ।

भर्तृमित्र - ने सम्भवतः बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर एक वृत्ति लिखी थी । मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि के चतुर्थ काण्ड में उनकी आलोचना की है । कुमारिल भर्तृमित्र की मीमांसा को लोकायतीकृतकर्ता कहा

---

[54]. अद्वैत-वेदान्त का प्रास्थानिक विकास, त्रिपुरारि कुमार ठाकुर, जाह्न्वी संस्कृत जर्नल, page no. 68-78.

[55] आप्तमीमांसा

है। ब्रह्मदत्त शङ्कर के पूर्व वेदान्ती थे जो जीवन्मुक्ति को नहीं मानते थे। इनके मत को भावाद्वैतवाद कहा जाता है। ये प्रपञ्चविलय के समर्थक और नियोगवादी थे जिनका खण्डन शंकर, मण्डन मिश्र तथा सुरेश्वराचार्य ने भी किया है।

गौडपाद - गौडपाद निर्विवाद रूप से अद्वैतवादी थे। मैक्स वालेसर नामक जर्मन विद्वान के सन्देह को आधुनिक विद्वानों ने सुतरां निराकरण किया है। इनकी रचना माण्डूक्यकारिका या आगमशास्त्र है जिसमें चार प्रकरण है:- (1) आगम (ii) वैतथ्य (ii) अद्वैत, और (iv) अलात्शान्ति। गौडपाद के जिन सिद्धान्तों का प्रभाव अद्वैतवेदान्त के परवर्ती चिन्तन पर विशेष रूप से पड़ा है उनमें प्रणवोपासना, आत्मवाद, अजातिवाद, मायावाद, अद्वैताविरोधवाद, मोक्षवाद इत्यादि प्रमुख है। इन्होंने सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों का खण्डन करते हुए अजातिवाद को स्थापित किया है –

भूतं न जायते किञ्चिद् अभूतं नैव जायते।
विवदन्त्यो द्वया ध्येवमजातिं ख्यापर्यात ते ||[56]

इनके अनुसार द्वयाभास भी मायिक जिसका कारण मन को माना है

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मन:।
तथा जाग्रद् द्वयाभासं स्पन्दते मायया मन:॥[57]

मण्डनमिश्र-

मण्डनमिश्र तथा सुरेश्वर इनकी भिन्नता अथवा अभिन्नता सर्वसम्मत नहीं है तथापि इनके अद्वैतवादिता सर्वसम्मत है। मण्डनमिश्र के तीन ग्रन्थ अद्वैतवाद सम्बन्धित है- ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि और विभ्रमविवेक ब्रह्मसिद्धि पर चित्सुख की अभिप्राय प्रकाशिका, शंखपाणि की ब्रह्मसिद्धि व्याख्या और आनन्दपूर्ण की भावशुद्धि नामक टीकाएँ है। ब्रह्मसिद्धि में चार काण्ड है ब्रह्म एवं तर्क, नियोग तथा सिद्धि। मण्डन मिश्र ने विशेष रूप से भेद का निराकरण प्रत्यक्ष विश्लेषण मोक्षवाद प्रपञ्चविलयवाद को स्थापित किया है।

मण्डन मिश्र ने भेद का निराकरण करते हुए ब्रह्मसिद्धि के तर्क काण्ड में सिद्ध किया है कि 'भेद न तो प्रत्यक्षगोचर है और न अनुमान गम्य। वह न तो उपमान से जाना जाता है और न पूर्ववत् से'।**"न भेदों वस्तुनो रूप तद्भाव प्रसङ्गत: । अरूपेण च भिन्नत्वं वस्तुनो नावकल्पते ।।** [58] तत्वतः

[56] माण्डूक्योपनिषद् ४/१४

[57] माण्डूक्योपनिषद् कारिका ३/२८

[58] ब्रह्मसिद्धान्त 2.5

वह किसी वस्तु का गुण भी नहीं है। भेद अभाव भी नहीं है क्योंकि बिना आश्रय के अभाव की प्रतीति नहीं होती है।

आचार्य शङ्कर

9वीं शताब्दी में केरल के कालडीनामक ग्राम में नम्बूदरीपाद ब्राह्मण कुल में एक ऐसी विलक्षण प्रतिभा का आविर्भाव हुआ जिसने आठ वर्ष की आयु में चारों वेदों का अध्ययन, बारह वर्ष की आयु में सर्ववित् सर्वज्ञ तथा सोलह वर्ष की उम्र में बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर शारीरक भाष्य लिखा। 32 वर्ष की अवस्था में अपनी इहलीला का पटाक्षेप करने वाले महान् दार्शनिक आचार्य शङ्कर को ईश्वर का एक विशेष अवतार समझ लेना सहज स्वाभाविक है। माधव का शङ्करदिग्विजय और आनन्दगिरि का शंकरविजय इनके जीवन चरित्र के प्रकाशक ग्रन्थ हैं। किन्तु इन सभी ग्रन्थों में ऐतिहासिक सामग्री और प्रसंशात्मक काव्य का इतना मिश्रण है कि शंकर का प्रामाणिक जीवनी लिखना एक समस्या हो गयी है।

संगठन शक्ति से बढ़कर चिन्तन-शक्ति और लेखन शक्ति के पुरोधा शंकर प्रथित अनेक ग्रन्थ प्रचलित है, तथापि प्रामाणिक रूप से शारीरकभाष्य, दशउपनिषद्भाष्य, भगवद्गीताभाष्य तथा उपदेशसाहस्त्री (केवल पद्यात्मक अंश) ही प्रायः मान्य है। आचार्य शङ्कर की समग्र रचनासृष्टि को तीन खण्डों में विभक्त कर सकते हैं। भाष्य, स्तोत्र और प्रकीर्ण ग्रन्थसमूह विवेकचूड़ामणि, दशश्लोकी, दृग्दृश्यविवेक, अपरोक्षानुभूति, सौन्दर्यलहरी, दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, कनकधारा, योगतारावली, आत्मबोध, पञ्चीकरण आदि ग्रन्थ भी शंकर रचित माने जाते हैं।

शंकर के चार प्रमुख शिष्यों में पद्मपाद, सुरेश्वर, त्रोटक और हस्तामलक माने जाते हैं। हस्तामलक के नाम से केवल उनका हस्तामलक स्तोत्र प्रसिद्ध है जिसमें 14 श्लोक हैं। इन पर शंकर की एक टीका भी है। इसमें गुरू-शिष्य संवाद के माध्यम से अद्वैत वेदान्त की स्थापना गयी है –

नाहं मनुष्यो न देवयक्षौ, न ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्यशुद्रा:।

न ब्रह्मचरी न गृही वनस्थो, भिक्षुश्च नाहं निजबोधरूप: ॥[59]

आचार्य त्रोटक या तोटक के नाम से श्रुतिसारसमुद्धरण प्रसिद्ध है, जिसमें 197 पद्य त्रोटक छन्द में बद्ध है। इस पर सच्चिदानन्द योगिन्द्र की तत्त्वदीपिका व्याख्या नामक त्रोटक वृत्ति है।

[59] हस्तामलक १३

आचार्य शङ्कर प्रणीत शारीरक भाष्य पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं जिनमें शङ्कर प्रवर्द्धित निर्गुण ब्रह्मवाद, आत्मवाद, मायावाद, सृष्टि-विद्या, ईश्वर और जीव, मोक्ष तथा मोक्षमार्ग सदृश सिद्धान्तों को ही प्रपुष्टित किया गया है।

शारीरक भाष्य पर प्रमुख टीका एवं टीकाकार

टीका	टीकाकार
1. पञ्चपादिका	1. पद्मपाद (केवल प्रथम चार सूत्र पर)
2. भामती	2. वाचस्पतिमिश्र
3. संक्षेपशारीरक	3. सर्वज्ञात्मुनि (पद्य)
4. न्यानिर्णय	4. आनन्दगिरि
5. रत्नप्रभा	5. गोविन्दानन्द यति
6. भाष्यभाव – प्रकाशिका	6. चित्सुखाचार्य
7. शारीरकन्यायरक्षामणि	7. अप्पयदीक्षित
8. ब्रह्मविद्याभरण	8. अद्वेतानन्द इत्यादि।

इन सभी भाष्य ग्रन्थों में प्रमुखतया आचार्य शंकर की लक्ष्यदृष्टि को ही लक्षित किया गया है।

३.२. वार्तिक प्रस्थान का सामान्य परिचय

इस प्रस्थान के संस्थापक शंकराचार्य के साक्षात् शिष्य सुरेश्वराचार्य हैं और इसका आधार ग्रन्थ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक है जिस पर आनन्दगिरि तथा विद्यारण्य स्वामी की टीका है। सुरेश्वराचार्य के अन्य ग्रन्थ भी इस प्रस्थान में आते हैं जिनमें पञ्चीकरणवार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, मानसोल्लास प्रमुख है। नैष्कर्म्यसिद्धि आचार्य सुरेश्वर की मौलिककृति है जिन पर ज्ञानोत्तमाकृत चन्द्रिका, चित्सुख की भावतत्त्वप्रकाशिका, ज्ञानामृत की विद्यासुरभि, अखिलात्मा की नैष्कर्म्यसिद्धि विवरण तथा रामदत्तकृत सारार्थ प्रमुख है। वार्तिक प्रस्थान का एक अन्य प्रधान ग्रन्थ सर्वज्ञात्मुनि रचित

'संक्षेपशारीरक' है। जिसको शारीरकभाष्यवार्तिक भी कहा जाता है। इस पद्यमय ग्रन्थ पर मधुसूदन सरस्वतीकृत संक्षेपशारीरकसार संग्रह, नृसिंहाश्रमकृत तत्त्वबोधनी, विश्ववेदकृत सिद्धान्तदीप, रामतीर्थकृत अन्वर्थप्रकाशिका इत्यादि प्रमुख है।

आचार्य सुरेश्वर का अद्वैतविषयक सिद्धान्त शंकर के सिद्धान्तों को एक ओर पुष्ट भी करता है तथा अनेकत्र स्थलों पर वैषम्य भी स्थापित करता है। औपाधिक भेद व्यवस्था में जहाँ पद्मपाद प्रतिबिम्बवाद का समर्थन करते हैं, वाचस्पतिमिश्र अवच्छेदवाद को पुष्ट करते हैं वहीं सुरेश्वराचार्य आभासवाद के प्रमुख समर्थक है-

आभिमुख्येन अहम् इत्यपरोक्षेपण भासते इत्याभासः।

प्रत्यक् चितोऽवमतो भासो नाम आभासः ॥[60]

भामती प्रस्थान में त्रिवृत् करण की मान्यता है जबकि वार्तिक प्रस्थान में पञ्चीकरण मान्य है। नैष्कर्म्यसिद्धि में सुरेश्वराचार्य ने कर्म फल चार प्रकार के बताये है:- (i) उत्पाद्य (ii) संस्कार्य (iii) विकार्य (iv) आप्य।

उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्य विकार्यं च क्रियाफलम् ।

न एवं मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधकम्[61] **॥**

३.३. भामती प्रस्थान का सामान्य परिचय

भामती प्रस्थान के उद्भावक आचार्य के रूप में वाचस्पति मिश्र माने जाते हैं सर्वतंत्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र का नाम भारतीय दर्शन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने के योग्य है। वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनों पर इनके पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। सांख्यकारिका पर सांख्य तत्त्वकौमुदी, योगसूत्र के पंतजलिभाष्य पर तत्त्ववैशारदी, न्यायवार्तिक पर न्याय वार्तिकतात्पर्यटीका तथा विधिविवेक पर न्यायकणिका इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ है। वेदान्तशास्त्र में भी इनके दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक है शंकराचार्य के शारीरक भाष्य पर भामती टीका तथा दूसरा है मंडन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि पर ब्रह्मतत्त्व समीक्षा | ब्रह्मतत्त्व समीक्षा अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। इस ग्रन्थ के उपलब्ध हो जाने पर वाचस्पति मिश्र के वेदान्त सम्बन्धी सिद्धान्तों पर और अधिक प्रकाश पड़ सकेगा। किन्तु जब तक यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो जाता तब तक हमें वाचस्पति के वेदान्त विषयक सिद्धान्तों

[60] बृह्दारण्यक भाष्य वार्तिक

[61] नैष्कर्म्यसिद्धि – १/१५३

को समझने के लिए उनकी भामती पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। आफ्रेट (Aufrecht) ने वाचस्पति के तत्वबिन्दु को भी वेदान्त विषयक ग्रन्थ माना है। किन्तु उनका यह विचार संगत नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थ में व्याकरण के स्फोटवाद का ही मुख्य रूप से प्रतिपादन है और वेदान्त से इसका सम्बन्ध विशेष नहीं है। अतएव वर्तमानकाल में एकमात्र भामती ही वाचस्पति मिश्र का वेदान्त विषयक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि है कि अपनी सहधर्मिणी 'भामती' के नाम को अमरत्व प्रदान करने के उद्देश्य से ही वाचस्पति मिश्र ने अपने इस ग्रन्थ का नाम 'भामती' रखा था। यह ग्रन्थ अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है तथा वाचस्पति मिश्र की सर्वतोगामिनी प्रतिभा के सर्वथा अनुरूप है। ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने न्यायकणिका, तत्त्वसमीक्षा, तत्वबिन्दु तथा न्याय, सांख्य व योग पर लिखे गये अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इससे सूचित होता है कि यह उनका अन्तिम ग्रन्थ रहा होगा। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि यह ग्रन्थ नृग राजा के शासन काल में लिखा गया था किन्तु ग्रन्थ में उल्लिखित राजा के सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है।

भामती वाचस्पति मिश्र की सर्वोत्तम कृति है। इसकी अपनी विशेषताएँ एवं मान्यताएँ है। इसकी विचारधारा एवं विचारपद्धति के अन्तर्गत यह ग्रन्थ भामती प्रस्थान के नाम से प्रसिद्ध है। भामती पर अनेक टीकाग्रन्थ लिखे गये। इनमें सबसे प्राचीन एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ है वेदान्तकल्पतरु जो अनुभवानन्द के शिष्य अमलानन्द (१२४७-१२६०) द्वारा रचित है। वेदान्तकल्पतरु पर अप्पयदीक्षित ने (१६०० ई० के लगभग) वेदान्तकल्पतरु परिमल नामक टीकाग्रन्थ की रचना की ? लक्ष्मी जी ने भी १७वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वेदान्तकल्पतरु पर आभोग नामक टीका लिखी। ये कोण्डभट्ट के पुत्र तथा रंगोजीभट्ट के पौत्र थे। आभोग पर वेदान्तकल्पतरुपरिमल के विचारों की छाप स्पष्टतया दृष्टिगत होती है। किन्तु इसके साथ ही अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर इनमें पर्याप्त मतभेद भी दीख पड़ता है। वैद्यनाथपथगुण्ड में भी वेदान्तकल्पतरुमंजरी नामक एक टीकाग्रन्थ की रचना की थी। वेदान्तकल्पतरु पर लिखी गई इन टीकाओं के अतिरिक्त भामती पर भी भामतीतिलक, भामतीविलास आदि अनेक ग्रंथों की रचना हुई। भामतीतिलक, भामती पर अल्लाल रचित टीका ग्रन्थ है। अल्लाल, नाम से दक्षिणात्य प्रतीत होते हैं। इनके पिता का नाम त्रिविक्रमाचार्य था। कल्पतरु के अतिरिक्तअमलानन्द ने शास्त्रदर्पण नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थ की भी रचना की थी। इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र के विभिन्न अधिकरणों के भावों को वाचस्पति के मतानुसार सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है। वाचस्पति के मत का प्रकाशन ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। चौदहवीं शताब्दी में आनन्दगिरि के शिष्य अखण्डानन्द (१३५० ईस्वी) ने भामती के ऊपर ऋजुप्रकाशिका नामक एक टीका की रचना की थी। पंचपादिका विवरण के ऊपर लिखा गया इनका तत्वदीपन नामक ग्रन्थ भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस प्रकार इन्होंने भामती और विवरण दोनों पर ही उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की थी। वाचस्पति मिश्र ने पद्मपाद की पञ्चपादिका और शंकर के सिद्धान्तों का कहीं-कहीं विरोध प्रकट करते है जिनका पुष्ट और स्पष्ट स्वरूप अमलनान्द ने प्रस्तुत किया है। शंकराचार्य के मत में स्व शक्ति से ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्त उपादन कारण माना

गया है लेकिन वाचस्पति मिश्र ने माना है कि जगत् का कारण स्वरुप ब्रह्म है तथा वह जीव के भ्रम का विषय है। - **स्वशक्त्या नटवट ब्रह्मकारणं शंकरोऽब्रवीत । जीवभ्रान्तिनिर्मितं तद् बसासे भामतीपति ॥**[62]

३.४. विवरणप्रस्थान का सामान्य परिचय

आचार्य पद्मपाद शंकराचार्य के साक्षात् और अन्यतम शिष्य थे। इनका पूर्वनाम सनन्दन और इनका जन्म दक्षिण के चोल देश में हुआ था। "भारतीय दर्शन के इतिहास" में डॉ. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने इनको शंकर का समकालीन माना हैं। शंकराचार्य के ब्रह्मलीन के बाद आचार्य पद्मपाद गोवर्धन मठ पुरी के शंकराचार्य पद अभिषिक्त हुए थे । पद्मपादाचार्य द्वारा रचित पंचपादिका के ऊपर प्रकाशात्मयति ने पंचपादिका विवरण नामक ग्रन्थ के आधार पर विवरणप्रस्थान का नामकरण हुआ । पंचपादिकाविवरण पंचपादिका पर लिखी गयी एक अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण टीका हैं। इसमें अनेक मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है । इस ग्रन्थ की अपनी विशेष विचारपद्धति है । इस पद्धति का अनुसरण करने वाले ग्रन्थ विवरण प्रस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं । पंचपादिका आजकल चतुःसूत्री पर्यन्त ही उपलब्ध है । वर्तमान में यह ग्रन्थ केवल चतुःसूत्री तक ही प्राप्त होता है लेकिन शङ्करदिग्विजय के अनुसार इसका शेष भाग भी था, जिसे 'वृत्ति' कहा जाता था -**"यत्पूर्वभाग: किल पन्चपादिका तच्छेषा वृत्तिरिति प्रथीयसी"।**[63] शंकरदिग्विजय में वर्णित कथा के अनुसार पञ्चपादिका का नाम 'वेदान्तडिण्डिम' था ।

किन्तु ग्रन्थ के अन्तः साक्ष्य से यह सूचित होता है कि यह ग्रन्थ मूल रूप में इसके आगे भी लिखा गया था । विभिन्न विषयों पर विचार करते समय यह बात बार-बार दुहराई गयी है कि इस विषय पर आगे विस्तार से विचार किया जायगा, अतः इस समय अधिक कहना अनावश्यक है । उदाहरणार्थ बौद्धों के क्रियाकारित्वरूप भय के सिद्धान्त के खण्डन के प्रसंग में पंचपादिका के प्रथम खण्ड में यह बात कही गयी है क्योंकि इस प्रश्न पर सुगत मत की परीक्षा के समय विशेष रूप से विचार किया जाना है, अतः यहाँ अधिक विचार अनावश्यक है । बौद्धमत की परीक्षा ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद (तक पाद) में की गयी है इससे यह स्पष्ट है कि पंचपादिका में कम से कम प्रथम छह पादों की

[62] कल्पतरु, पृष्ठ- ४७१

[63] पंचपादिका ७०-७१

टीका की गयी थी। अतएव ग्रन्थ के नाम के आधार पर कुछ विद्वानों का जो यह मत है कि इस ग्रन्थ में पाँच पादों की टीका होने से ग्रन्थ का नाम पंचपादिका रखा गया था यह मान्य प्रतीत नहीं होता। इस सम्बन्ध में मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियन्टल सीरीज में प्रकाशित पंचपादिका तथा पंचपादिका विवरण की भूमिका में श्रीराम शास्त्री का यह कथन है कि ग्रन्थ का नाम "पंचपादिका" संभवतः इसलिए रखा गया था कि इसमें शारीरक भाष्य की टीका पाँच पाद या भागों में विभक्त थी। टीका के पाँच भाग ये है- (१) पदच्छेद (२) पदार्थोक्ति (३) विग्रह (४) वाक्ययोजना तथा (५) आक्षेप का समाधान | इन पाँच भागों में विभक्त होने के कारण इस ग्रन्थ का नाम पंचपादिका पड़ा। ग्रन्थ के पाँच भागों को पद्मपादाचार्य ने 'पदादिवृन्तभारेण' इस श्लोक में प्रयुक्त पदादि पद के द्वारा सूचित किया है तत्वदीपनकार तथा ऋजुविवरणकार दोनों ने पदादि पद के द्वारा पूर्वोक्त पाँच भागों को ही सूचित माना है। पंचपादिका की टीका प्रबोधपरिशोधिनी में आत्मस्वरूप ने तथा तात्पर्यार्थद्योतिनी में विज्ञानात्मा ने भी पदादि पद के द्वारा उन्हीं पाँच भागों का प्रतिपादन माना है। अतएव पदच्छेदादिरूप व्याख्यान के पाँच भागों से युक्त होने के कारण ग्रन्थ का नाम पंचपादिका हो सकता है। यद्यपि व्याख्यान के उपर्युक्त पत्र भाग अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं तथापि योगरूढ़ि के द्वारा "पंचपादिका" यह नाम पद्मपादाचार्य द्वारा प्रणीत शारीरक भाष्य की टीका के लिए ही प्रसिद्ध है। पंचपादिका इस नाम के सम्बन्ध में श्रीराम शास्त्री ने एक दूसरी संभावना भी प्रदर्शित की है। वे कहते हैं कि विस्तारार्थक "पंचि" धातु से निष्पन्न पंच शब्द का अर्थ है विस्तृत तथा ज्ञानापरपर्यायगत्यर्थक 'षद्लृ' धातु से निष्पन्न। पाद शब्द का अर्थ है- ज्ञान। इस प्रकार पंचपादिका का अर्थ हुआ वह ग्रन्थ जिसमें विस्तार से भाष्यार्थ का प्रतिपादन किया गया है। अतएव "पंचपादिका" इस नाम के आधार पर ग्रन्थ को प्रथम पांच पादों तक ही सीमित मानना उचित नहीं है। उन्होंने ग्रन्थ के भूमिका भाग में अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि यह ग्रन्थ समग्र शारीरक भाष्य पर लिखा गया था। मद्रास की राजकीय हस्तलिखित ग्रंथशाला में देवनागरी लिपि में लिखा हुआ आज भी एक ग्रन्थ उपलब्ध है। जिसमें "ईक्षत्यधिकरण" के कुछ भाग तक पंचपादिका का व्याख्यान मिलता है। भामतीकार तथा कल्पतरुकार के समय पंचपादिका का चतुःसूत्री से आगे का भाग भी उपलब्ध था। भामती के वैश्वानराधिकरण (१।२।२६) तथा दहराधिकरण (१३,१७) में पंचपादिका कार के मत का खण्डन किया गया है, भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इन अधिकरणों में जिस मत का खण्डन किया है। यह पंचपादिकाकार का ही मत है, यह बात कल्पतरुकार ने स्पष्ट रूप से कही है। इससे यह स्पष्ट है कि भामतीकार तथा कल्पतरुकार दोनों ने ही पंचपादिकाकार का वैश्वानराधिकरण तथा दहराधिकरण का व्याख्यान देखा था। अतएव इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि पंचपादिका टीका चतुःसूत्री भाग के आगे भी लिखी गई थी। संभवत: यह ग्रन्थ सम्पूर्ण शारीरकभाष्य पर लिखा गया था।

पंचपादिका के ऊपर अनेक टीकाओं की रचना हुई। आत्मस्वरूप ने इस पर प्रबोधपरिशोधिनी तथा विज्ञानात्मा ने तात्पर्यार्थद्योतिनी नामक टीकाओं का रचना की। इन टीकाओं को पंचपादिका के

मूल भाग के सहित श्रीराम शास्त्री ने मद्रास से प्रकाशित किया है। पंचपादिका के गूढार्थ को समझने के लिये ये टीकाएँ अत्यन्त उपयोगी हैं। इन टीकाओं के अतिरिक्त विद्यासागर ने पंचपादिका टीका तथा अमलानन्द ने पंचपादिका दर्पण नामक ग्रन्थों की रचना की किन्तु पंचपादिका पर लिखी गई इन सभी टीकाओं से अधिक प्रसिद्ध टीका प्रकाशात्मयति (१२०० ई०) द्वारा रचित पंचपादिकाविवरण नामक टीका है। इसमें अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मौलिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं और एक नवीन विचारपद्धति का प्रवर्तन किया गया है। इस विचारपद्धति के अन्तर्गत ग्रन्थों को "विवरण प्रस्थान" के नाम से पुकारा जाता है। जनार्दन के पुत्र विष्णुभट्टोपाध्याय ने पंचपादिका विवरण पर ऋजुविवरण नामक टीका लिखी। एक जन श्रुति के अनुसार जनार्दन ही संन्यासाश्रम में आनन्दगिरि के नाम से विख्यात हुए थे। ये संभवतः गुजरात के रहने वाले थे और तेरहवीं शताब्दी के मध्य में हुए थे। अनन्तकृष्ण शास्त्री ने अपने नवटीकोपेत शांकर भाष्य में इस टीका को प्रकाशित किया है। पंचपादिकाविवरण पर चित्सुखाचार्य द्वारा रचित विवरणतात्पर्यदीपिका तथा नृसिंहाश्रमाचार्य कृत विवरणभाव प्रकाशिका नामक टीकाओं को श्रीराम शास्त्री ने पंचपादिका तथा पंचपादिका विवरण के साथ मद्रास से प्रकाशित किया है। आनन्दगिरि के शिष्य अखण्डानंद ने पंचपादिकाविवरण पर 'तत्त्वदीपन टीका' की रचना की। इसमें विवरण के गुढ़ार्थों को प्रकाशित किया गया है। विद्यारण्य ने पंचपादिकाविवरण में प्रतिपादित प्रमेयों को विवरणप्रमेयसंग्रह नामक ग्रन्थ में संग्रहीत किया है।

विवरण प्रस्थान के प्रमेयपक्ष के सम्यगवबोध के लिये यह ग्रन्थ नितांत उपादेय है। गोविन्दानन्द के शिष्य रामानन्द सरस्वती द्वारा रचित विवरणोपन्यास नामक ग्रन्थ भी विवरणमत को समझने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। गोविन्दानन्द ने भी शारीरक भाष्य की टीका 'रत्नप्रभा' में विवरण मत को ही स्वीकार किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त विद्यारण्य की पंचदशी, श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य, धर्मराजाध्वरीन्द्र की वेदान्तपरिभाषा आदि ग्रंथों में भी विवरण की विचार सरणि का ही अनुसरण किया गया है। विवरण टीका के बिना पंचपादिक की संक्षिप्त और सार गर्भित उक्तियों को हृदयंगम करना कठिन है। 'पञ्चपादिका' में जो वेदान्त सिद्धान्त बीजत्वेन वर्णित है, वही "विवरण" में बहुशाखामय सुदृढ़ एवं विशाल वृक्षत्वेन विकसित हुआ है।

'पञ्चपादिका' नौ वर्णकों में विभक्त है। वर्णक का अर्थ वर्णन या व्याख्या से है जिसमें प्रत्येक वर्णक में एक-एक दार्शनिक विषय की व्याख्या की गयी है। विवरण प्रस्थान के आचार्यों ने प्रमुख रूप से अध्यास, तमस-भावरूपत्व, अविद्या का स्वरूप तथा भावरूपत्व, ब्रह्म का स्वरूप और लक्षण, ब्रह्म की जगत्कारणता, जीव का स्वरूप, जगन्मिथ्या शब्दापरोक्षवाद और अविद्या निवृत्ति को ही उद्भावित किया है।

इस प्रकार विवरण प्रस्थान के प्रमुख ग्रन्थों का यही संक्षिप्त परिचय है।

३.५ भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान के मुख्य भेद

इन दोनों प्रस्थानों में प्रायः निम्न भेद किये जाते हैं :-

भामती- प्रस्थान	विवरण प्रस्थान
1. श्रवण में कोई विधि नहीं है।	1. श्रवण में नियम विधि है।
2. जीवाश्रित अविद्या का विषय ब्रह्म-जगत् का कारण है।	2. ईश्वर जगत् का कारण है।
3. जीव ब्रह्म का अवच्छेद है।	3. जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब है।
4. अविद्या का आश्रय जीव तथा विषय ब्रह्म है।	4. अविद्या का आश्रय और विषय दोनों ब्रह्म है।
5. मन एक इन्द्रिय है।	5. मन इन्द्रिय नहीं है।
6. श्रवण, मनन और निदिध्या सन से संस्कृत मन से आत्म-साक्षात्कार होता है। शब्द से केवल परोक्ष ज्ञान होता है।	6. महावाक्य से आत्मसाक्षात्कार होता है। शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है। यह मत शब्दपरोक्षवाद है।
7. अविद्या अनेक है। वह प्रति जीव भिन्न है।	7. अविद्या एक है।
8. जीव अनेक है।	8. जीव एक है।
9. ईश्वर अनेक है।	9. ईश्वर एक है। वह बिम्बभूत है।
10. ईश्वर कल्पित है	10. ईश्वर परम सत् है।
11. याग आदि कर्म विविदिषा के साधन है, ज्ञान के नहीं।	11. याग आदि कर्म ज्ञान के साधन है।
12. संन्यास में ज्ञान की अंगता अदृष्ट के द्वारा है।	12. संन्यास में ज्ञान की अंगता दृष्ट के द्वारा है।
13. दृष्टि सृष्टिवाद द्वारा जगत् की व्याख्या की जाती है।	13. सृष्टिदृष्टिवाद द्वारा जगत् की व्याख्या की जाती है।
14. त्रिवृत्करण प्रक्रिया मान्य है।	14. पंचीकरण प्रक्रिया मान्य है।
15. सभी श्रुतियाँ प्रत्यक्ष से बलवान् नहीं है किन्तु तात्पर्यवती श्रुति प्रत्यक्ष से बलवान् है। जो अन्य जो अन्य श्रुतियाँ वे अर्थवाद मात्र हैं।	15. तात्पर्यवती श्रुतियाँ भी प्रत्यक्ष से से बलवान् नहीं है। उनका अर्थ लक्षणा द्वारा ही किया जाता है।

३.६. अद्वैत वेदान्त में वाद

भामती प्रस्थान, विवरण प्रस्थान तथा वार्तिक प्रस्थान को मिलाकर अधिकरण प्रस्थान कहा जाता है, क्योंकि इनमें मुख्यतः अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। इसके विपरीत वाद-प्रस्थान में जहाँ एक और अद्वैतवाद के सभी पूर्ववर्ती प्रस्थानों का समन्वय किया गया है वहीं दूसरी और बाध नियम के बल पर अन्य मत खण्डन भी किया गया है, अत: इस प्रस्थान को बाध प्रस्थान भी कहा जाता है। इस प्रस्थान के मुख्य ग्रन्थ श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी की तत्त्वप्रदीपिका और मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि है जिसे भाषा, शैली और विचार की दृष्टि से कठिन होने के कारण 'कठिनत्रयी' भी कहा जाता है। इन प्रास्थानिक ग्रन्थों पर नव्य न्याय-भाषा-शैली का प्रभाव होने के कारण इसे नव्य वेदान्त भी कहा जाता है। खण्डनखण्डखाद्य की दार्शनिकता को यशोगाथा उन पर लिखित टीका से ही विदित होता है जिनमें परमानन्द कृत खण्डन-मण्डन,भवनाथकृत खण्डन मण्डन भवानाथकृत, रघुनाथशिरोमणिकृत दीक्षित, वर्धमानकृत प्रकाश,विधाभरणकृत विद्याभरणी,शंकरमिश्रकृत आनन्दवर्धन(शांकरी), पद्मनामकृत शिष्य हितैषणी, चित्सुख की भावदीपिका, रघुनाथ भट्टाचार्यकृत खण्डनभूषणमरिग इत्यादि प्रमुख है। खण्डनखण्डखाद्य पर उपलब्ध सभी टीकाओं को मुख्यतया त्रिधा विभक्त कर सकते हैं जिनमें (i) खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन कर न्यायदर्शन का मण्डन (ii) खण्डनखण्डखाद्य के युक्तियों का विकास (iii) न्यायदर्शन का अद्वैतवेदान्त की ओर विकास ।उक्त आचार्यों तथा उनके टीकाकारों के अतिरिक्त भी इस प्रस्थान के अन्तर्गत अनेक आचार्यों ने योगदान दिया है। जेसै-आनन्दबोधकृत न्यायमकरन्द, अप्पयदीक्षितकृत मध्वमुखमदर्न तथा रामानुज श्रृङ्गभृङ्ग,नृसिंहाश्रमकृत- भेदधिक्कार, अन्तकृष्णशास्त्रीकृत शतभूषणी इत्यादि।

३.७. प्रकरण/प्रारम्भिक प्रस्थान

तुलसीदास ने ज्ञानमार्ग (अद्वैत वेदान्त) के विषय में कहा है कि ज्ञानमार्ग समझने, साधने और कहने में कठिन है - **कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक ।**[64]

इस कठनाई को दूर करने के लिए अनेक अद्वैत वादियों ने सारसंग्रहभूत अनेक प्रकरण या आरम्भिक ग्रन्थ की रचना की, जिनके अध्ययन के अनन्तर शारीरक भाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अद्वैतसिद्धि चित्सुखी आदि ग्रन्थों को पढ़ने की परम्परा है। इन प्रकरण ग्रन्थों को प्रयोग की दृष्टि से द्विधा विभक्त कर सकते हैं। (i) मुमुक्षु की दृष्टि से - जिनमें स्वामी विद्यारण्य कृत तथा उनके गुरू भारतीयतीर्थकृत पञ्चदशी तथा महादेव सरस्वतीकृत तत्त्वानुसन्धान है तथा (ii)

64 रामचरितमानस उत्तर काण्ड, 8

जिज्ञासु की दृष्टि से जिनमें सदानन्दयतिकृत अद्वैत ब्रह्मसिद्धि, सदानन्दकृत वेदान्तसार तथा धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत वेदान्तपरिभाषा इत्यादि प्रमुख है।

उक्त विवरण से सिद्ध है कि अद्वैत वेदान्त मनीषियों के मध्य एक जीवन्त दर्शन है। उसमें नये-नये आयाम प्रत्येक शताब्दी की आवश्यकतानुसार जुड़ते चले जा रहे हैं। इस दर्शन ने एक प्रकार की तर्क प्रणाली विकसित की जिसे अद्वैत द्वन्द्वन्याय (खण्ड-विधि द्वारा अद्वैतवाद का विकास) कहा गया है। अपने पूर्ववत् आचार्यों के सिद्धान्तों का खण्डन व मण्डन एवं पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का स्वमतिक मण्डन ही प्रस्थानों के विकास का कारण रहा होगा इन प्रस्थानों के विकास में हमें एक प्रकार की खण्डन-मण्डन वा तर्क की परम्परा का ज्ञान होता है जिसके कसौटी पर ही प्रास्थानिकाचार्यों ने स्वमति को मूर्तिमान किया है। जेसै -

(1) उपनिषदों में यह नेति नेति की प्रक्रिया तथा इति इति (एतद् वैतत्) की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। अर्थात् इसके दो पक्ष है:- निषेध तथा अभिधान।

(ii) मण्डनमिश्र तथा शङ्कर ने इसमें अध्यारोप और अपवाद की प्रणाली जोड़ी। इससे अध्यारोपों की संख्या भी अनियत हो जाती है और इनके निराकरण की संख्या भी अनियत होती जाती है।

(iii) गौडपाद तथा शङ्कर ने इसमें चतुष्कोटिक तर्कप्रणाली जोड़ी जिसको उनके पूर्व माध्यमिकों ने विकास किया था।

(iv) श्रीहर्ष, चित्सुख और मधुसूदन सरस्वती ने इसमें प्रसंगानुसार की पद्धति जोडी। और किसी विषय का खण्डन करने के लिए उसके अर्थ को अनेक विकल्प बनाये और यह दिखाया कि कोई भी विकल्प सम्भव नहीं है। विकल्पों की संख्या प्रसंगानुसार या अनियत है।

(v) मधुसूदनोत्तर अद्वैतवेदान्तियों ने अन्वय-व्यतिरेकानुमान का भी प्रयोग किया और श्रुति, स्मृति तथा युक्ति से अद्वैतवाद को सिद्ध किया।

अध्याय 4
अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म जीव सम्बन्ध
(आभासवाद, अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद के विशेष सन्दर्भ में)

अध्याय 4

४.१. शंकराचार्यसम्मत ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध

शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के अभेद को स्वीकार किया है। उनके मत में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है वह परमार्थ: ब्रह्मरूप ही है। श्रुतियों में जीव को अज, नित्य और अविकारी कहकर अविकृत ब्रह्म को ही शरीर में जीवरूप में अवस्थित माना गया है। शंकराचार्य जीव और ब्रह्म के औपाधिक भेद को नहीं मानते। अन्तराधिकरण के अनवस्थिते रसभवाच्च नेतर: (ब्रह्म सूत्र १।२।२७) सूत्र पर भाष्य में शंकराचार्य का कथन है कि यद्यपि विज्ञानात्मा जीव परमात्मा से भिन्न ही है तथापि अविद्याकृत मातृत्व तथा भय के अध्यारोप के कारण उसमें अमृतत्त्व और अभयत्व की उत्पत्ति नहीं होती – **"यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन् मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृत्त्वाभयत्वे नोपपद्यते"।**

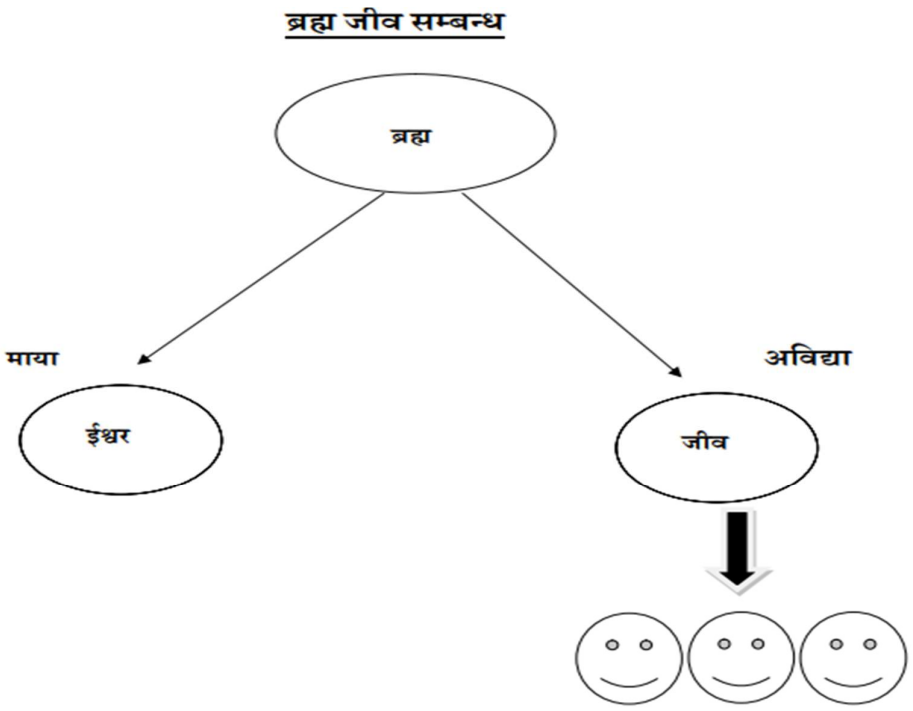

यहाँ भाष्यकार कहते है कि जब पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष, निरूपाधिक ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है तो कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व-दुःखित्व धर्मविशिष्ट जीव की व्याख्या किस प्रकार सम्भव हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर भाष्यकार ने जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद तथा औपाधिक भेद को प्रदर्शित करने के लिए शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास इन पदों का यथावसर प्रयोग किया है। कहीं उन्होनें जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध को घटाकाश और मठाकाश के दृष्टान्त से समझाया है, तो कहीं बिम्ब-प्रतिबिम्ब के भाव दृष्टान्त से और कहीं रज्जु सर्प के दृष्टान्त से सर्वप्रसिद्धाधिकरणभाष्य में शंकराचार्य कहते है कि परमात्मा ही देहेन्द्रियमनोबुद्धिरूप उपाधियों से परिच्छिद्यमान होता हुआ अज्ञानियों के द्वारा जीव रूप उपचरित होता है जैसे घटकरादि उपाधि के कारण परिच्छिद्यमान होता हुआ अज्ञानियों के द्वारा जीव रूप में उपचरित होता है जैसे घटकरकादि उपाधियों के कारण अपरिच्छिन्न आकाश परिच्छिन्न की तरह अवभासित होता है, वैसे ही अपरिच्छिन्न परमात्मा भी जीवरूप में अवभासित होता है - "**पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धयुपाधिभिः परिच्छित मानो बालैः शरीर इत्युपचर्यते। यथा घटकाराद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवद्भासते तद्वत्**"।

अंशाधिकरण में 'आभास एव च' इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने जीव को परमात्मा का आभास बतलाया है वे कहते है कि जीव को जलसूर्यकादि के समान परमात्मा का आभास ही समझा जाना

चाहिये । न तो जीव साक्षात् परमात्मा रूप है और न ही वस्त्वन्तर - "**आभास एष चैव जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः। न स एव साक्षात् नापि वस्त्वन्तरम्" ।**

भाष्य में प्रयुक्त आभास पद के अर्थ के सन्दर्भ में विवरण प्रस्थान और आभास प्रस्थान में मतभेद है । विवरण प्रस्थान आभास पद का अर्थ प्रतिबिम्ब करता है परन्तु आभास प्रस्थान में इसे प्रतीति (एपीयरेन्स) के अर्थ में माना जाता है। प्रतिबिम्बवाद में प्रतिबिम्ब को बिम्ब से अभिन्न तथा बिम्बात्मना सत्य माना जाता है जबकि आभासवाद में सर्वथा मिथ्या माना जाता है। शंकराचार्य ने अनेक स्थलों पर आभास के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है। उन्होनें बुद्धिस्थ चैतन्य के आभास मुकुरस्थ मुख के समान मिथ्या माना है। आभास को मिथ्या मानने के कारण उन्होने इसे कहीं अवस्तु, कहीं अनात्म और कहीं दुख की छाया कहा है

मुकुरस्थं मुखं यद्वन्मुखवत्प्रथते मृषा

बुद्धिस्थाभासकस्तद्वदात्मवत् प्रथते मृषा ।

किन्तु उभयलिङ्गाधिकरण के 'अतएव चोपमासूर्यकादिवत्'(ब्रह्म सूत्र ३।२।२८) इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने जीव और परमात्मा के अभेद तथा औपाधिक भेद का प्रतिपादन जलचन्द्रादि प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त के आधार पर किया है। वे कहते है कि जैसे एक जलचन्द्रादि प्रतिबिम्ब दृष्टान्त के आधार पर किया है । वे कहते है कि जैसे एक ही सूर्य भिन्न जलों में अनुगत होकर अनेकरूपों में दृष्टिगत होता है, वैसे ही यह आत्मज्योति अनेक उपाधियों में भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई पड़ती है। जैसे एक ही चन्द्र अनेक जलों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक प्रकार से दीख पडता है वैसे ही एक भूतात्मा भिन्न भिन्न भूतों में व्यवस्थित उपलब्ध होता है – "**यथा हायं ज्योतिरात्मा विवस्वानपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन। उपादिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा। एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" ।।** इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक और औपाधिक भेद का प्रतिपादन करने के लिए अवच्छेदपरक, आभासपरक तथा प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का प्रयोग अपने भाष्य में किया है । इन दृष्टान्तों के आधार पर शंकरोत्तर वेदान्त में आभासवाद, अवच्छेदवाद तथा प्रतिबिम्बवाद की उत्पत्ति हुई हैं जिन्हे क्रमशः सुरेश्वराचार्य, वाचस्पति मिश्र तथा प्रकाशात्मयति ने प्रतिष्ठित किया ।

शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के अभेद को स्वीकार किया है । उनके मत में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, वह परमार्थतः ब्रह्मरूप ही है। श्रुतियों में जीव को अज, नित्य और अधिकारी कहा गया है[65] - **अजो**

[65] कठोपनिषद् २।१०

नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः तथा अविकृत ब्रह्म को ही शरीर में जीवरूप से अवस्थित माना गया है[66] **- तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तथा अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणाणि।** यह आत्मा ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ, तुम वही (ब्रह्म) हो इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट रूप से जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन कर रही हैं[67] **-अयमात्मा ब्रह्म; तत्त्वमसि तथा अहं ब्रह्मास्मि।**

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शंकराचार्य जीव और ब्रह्म के औपाधिकभेद को भी नहीं मानते। इनके औपाधिक भेद का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं कि जैसे उपाधिपरिच्छिन्न घटाकाश से अनुपाधिक अपरिच्छिन्न आकाश भिन्न है, वैसे ही अविकल्पित कर्त्ता,भोक्ता विज्ञानाख्य जीव से परमेश्वर भिन्न है[68]- **परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताच्छारीरात् कर्तुर्भोक्तुविज्ञानात्माख्यादन्यः। यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः।** अन्तराधिकरण के "अनवस्थिते रसंभवाच्च नेतरः" इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य का कथन है कि यद्यपि विज्ञानात्मा जीव परमात्मा से अनन्य ही है तथापि अविद्याकृत मर्त्यत्व तथा भय के अध्यारोप के कारण उसमें अमृतत्त्व तथा अभयत्त्व की उपपत्ति नहीं होती[69]- **यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव त्याप्यविद्या काम कर्म कृतं तस्मिन् मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृतत्त्वाभयस्वे नोपपद्यते।** इसी प्रकार सर्वत्रप्रसिद्धयधिकरण भाष्य में वे कहते हैं कि जीव कर्त्ता,भोक्ता,धर्माधर्म का साधन तथा सुखदुःख युक्त है; इसके विपरीत परमेश्वर अपहृतपाप्मत्वादि गुणवाला है[70]- **एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुखदुःखादिमांश्च। एकस्तविपरीतोऽपहृतपाप्मत्वादिगुण।** इसी तरह दहराधिकरण भाष्य में शंकराचार्य का कथन है कि अविद्या प्रयुक्त स्वरूपाज्ञान के कारण जीव नानाविधक्लेश पाशों से बद्ध होकर त्रिविध तापों का आधार-सा बना रहता है। स्थाणु में पुरुष बुद्धि के समान द्वैतलक्षणा अविद्या के कारण जब तक जीव को अपने कूटस्थ नित्य तथा दृक्स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक जीव का जीवत्व है। जब जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और जब वह यह जान लेता है कि वह देहेन्द्रियमनोबुद्धि का संघात नहीं है, किन्तु चैतन्यस्वरूप आत्मा है, तब वह कूटस्थ नित्य स्वरूप आत्मा हो जाता है[71]- **यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन् कूटस्थ, नित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते**

---

[66] तैतिरीयोपनिषद् २।६।१ छान्दोग्योपनिषद् ६।३।२

[67] बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१९ छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७ बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१०

[68] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।१।१७

[69] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।२।१७

[70] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।२।८

[71] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।३।१९

तावज्जीवस्य जीवत्त्वम् । यदा तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघाताद् व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते । तदा स एव कूटस्थानित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति ।

किन्तु जीव के स्वमहिमप्रतिष्ठित होने के पूर्व तक कर्मकर्तृत्वादिरूप समस्त भेदव्यवहार बने रहते हैं[72] - **तदपेक्षया च कर्मकर्तृत्त्वादि भेदव्यवहारो न विरुध्यते ।** इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद को मानते हुए भी इनके औपाधिक भेद को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है ।

यहाँ यह शंका होती है कि जब पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण, निर्विशेष, निरुपाधिक ब्रह्म ही एकमात्र सत् है, तब कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व-दुःखित्वादि धर्मविशिष्ट जीव की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है। मनुष्य अपने आपको कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी इत्यादि रूपों में अनुभव करता है। इस अनुभूति को सर्वथा असत् कैसे माना जा सकता है । अतः इन धर्मों से विशिष्ट जीव की सत्ता को स्वीकार करना ही होगा । किन्तु प्रश्न है कि निर्गुण एवं निर्विशेष ब्रह्म से सगुण एवं सविशेष जीव के प्रकट होने की समुचित व्याख्या कैसे की जा सकती है ।

यह एक ऐसा प्रश्न है कि जिसने केवल भारतीय विचारकों को ही नहीं अपितु पाश्चात्य दार्शनिकों को भी परेशान कर रखा है । प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक "ब्रेडले" कहते हैं कि हम यह नहीं जानते कि "ऐब्सोल्यूट" (Absolute) अपने आपको क्यों और किस प्रकार अनेक केन्द्रों में विभक्त कर लेता है और विभक्त हो जाने पर भी वह कैसे एक बना रहता है ।[73] इसी प्रकार प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रीन (Green) भी यह स्वीकार करते हैं कि अनन्त चेतना अपने आपको सान्त जीवों के माध्यम से उत्पन्न तथा अभिव्यक्त करने का प्रयास क्यों करती है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर नहीं दिया जा सकता ।[74]

प्रसिद्ध दार्शनिक बोसांके (Bosanquct) के सामने भी यह प्रश्न है कि इस सान्त जगत् का अस्तित्व क्यों है वे भी यह स्वीकार करते हैं कि अनन्त से सान्त जगत् की रचना का कारण नहीं बताया जा सकता । विलियम जेम्स (William James) के सामने भी यह समस्या उपस्थित है । Absolute अपने अखण्ड अनुभव की परिपूर्णता से भ्रष्ट क्यों हुआ और उसने अपने आपको हमारे अनन्त अनुभवों

---

[72] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।२।६

[73] We do not know why or how the absolute divides it self into centres, or the way in which so divided, it still remains one Appearence and Reality, page 226-27

[74] But why the absolute mind should reproduce itself through finite organisms, why it should try to realise itself through them, are questions which Green admits cannot be answered D. M. Datta; chief currents of contemporary philosophy, page 16

में प्रतिबिम्बित क्यों किया ?[75] इसी तरह सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन् के सामने भी यह प्रश्न है कि अपरिवर्तनशील आत्मा किस प्रकार सान्त प्रतीत होता है, एवं चैतन्य का शाश्वत प्रकाश कैसे आच्छादित हो सकता है, जब कि वह सभी सम्बन्धों से रहित है।[76]

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन, विषय इत्यादि उपाधियों के सम्बन्ध से ही अपने व्यावहारिक रूप (जीवत्व) को प्राप्त होता है। किन्तु आत्मा और जीव का यह सम्बन्ध अनिर्वचनीय, माया एवं रहस्यात्मक है।[77]

शंकराचार्य ने भी जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को मायिक स्वीकार किया है तथा अनिर्वचनीय स्वभाव वाली माया के द्वारा इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। यदि परब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नहीं तो फिर यह उच्चावच प्रपंच कैसे प्रतिभासित होता है। इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने श्रुति, मुक्ति तथा अनुभव के आधार पर एक ऐसी बीजभूत परमात्मशक्ति का सद्भाव माना है जिसके व्यपाश्रय से अद्वितीय ब्रह्म इस नामरूपात्मक प्रपंच की कारणता का निर्वहण करता है। इसी परमेश्वराश्रया मायामयी, अविद्यात्मिका बीजशक्ति के निमित्त ही जीव अपने आपको ब्रह्म से भिन्न समझता है और उसके सभी व्यवहारों की सिद्धि होती है। इसी मायामयी महासुप्ति में संसारी जीव शयन करते हैं और अपने स्वरूप की अज्ञानता के कारण लौकिक व्यवहारों में प्रवृत्त होते हैं।[78]
अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणोजीवाः।.... अविद्या वत्वेनैव जीवस्य सर्वः संव्यवहारः संततो वर्तते।
यह माया या अविद्या न तो सत् है और न ही असत्। यदि यह सत् होती तो सर्वदा प्रतीत होती और कभी इसका बाध नहीं होता। यदि यह सर्वथा असत् होती तो यह नाम रूपात्मक प्रपंच की अवभासिका नहीं होती। सत् और असत् के परस्पर विरोधी होने के कारण माया को सदसत् भी नहीं कहा जा सकता। अतः सत्,असत् तथा सदसत् से विलक्षण होने के कारण यह अनिर्वचनीय है। इसे भिन्न,अभिन्न तथा भिन्नाभिन्न भी नहीं माना जा सकता और न ही इसे सांग, अनंग तथा सांगानंग भी कहा जा सकता है - **सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नोभिन्नाप्य भिन्नाप्युभयात्मिका नो।**

---

[75] Why should the absolute ever have lapsed from the perfection of its own integral experience and refrected itself into all over finite experiences ? A pluralistic Universe page 120.

[76] How does the unchanging Atmai appears as limited, how can the eternal light of intell gence be darkened by any agency whatever, since it is free from all relations. Indian Philosophy Vol. II, Page, 604.

[77] It is the relation of Atman to the Upadhis of body, sen ses, mind and sence-objects that accounts for its pheno menal character, but this relation between the Atman and the psychological self is inexplicable, maya or mysterious. Indian Philosophy Vol. II, Page, 604.

[78] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।४।३

सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भूतानिर्वचनीयरूपा ।।[79] इसी अनिर्वचनीय माया के द्वारा ही शंकराचार्य ने एक द्वितीय चिन्मात्र ब्रह्म तत्व से नानाविध जीव और जगत् का अवभास माना है। इस प्रकार उन्होंने अस्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सान्त जीव अनन्त ब्रह्म के स्वरूप का अवगाहन करने में सर्वथा असमर्थ है। ज्ञान के सीमित साधनों के द्वारा असीम चिदात्म तत्त्व के रहस्य का उद्-घाटन सम्भव नहीं है। अनन्त की महिमा को अनन्त ही समझ सकता है। अतः अनन्त की महिमा को समझने के लिए मनुष्य को स्वयं अनन्त रूप बन जाना होगा - **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।**[80]

४.१.१ ब्रह्म और जीव का पारस्परिक सम्बन्ध

जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न पर शंकर-पूर्व वेदान्त में भी विचार किया गया है। शंकराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य में आश्मरथ्य, औडुलोमि तथा काशकृत्स्न के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए जीव और ब्रह्म में अभेद को स्वीकार करने वाले काशकृत्स्न के सिद्धान्त का समर्थन किया है। आश्मरथ्य के मत में जीव और ब्रह्म में कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद। वे कहते हैं कि जैसे वह्नि से निकलते हुए वह्नि के विकार रूप विस्फुलिंग न तो वह्नि से सर्वथा भिन्न है और न ही सर्वथा अभिन्न, वैसे ही ब्रह्मविकार जीव भी न तो ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है और ना हीं सर्वथा अभिन्न। वह्निविकार विस्फुलिंग को वह्नि से भिन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि यह वह्नि अल्प है। किन्तु इसे वह्नि से सर्वथा अभिन्न भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर वह्नि के समान विस्फुलिंगों की परस्पर व्यावृत्ति के अभाव की प्रसक्ति होगी। इसी प्रकार ब्रह्मविकार जीव को ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर जीव के चिरूपत्वाभाव की प्रसक्ति होगी तथापि इसे ब्रह्म से अत्यन्त अभिन्न भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर परस्पर व्यावृत्ति सम्भव नहीं होगी तथा सर्वज्ञ के प्रति दिया गया उपदेश व्यर्थ होगा - **यथा हि विकास युचरन्तो विस्फुलिंगाने वरत्यभिद्यन्ते तद्रूपनिरूपणत्वात् नापि ततोऽत्यन्तमभिन्नाः वह्नेरिव परस्परव्यावृत्त्यभाव-प्रसंगात्, तथा जीवात्मनोऽपि ब्रह्मविकारात ब्रह्मणोऽत्यन्तं भिद्यन्ते, चिद्रूप- त्वाभावप्रसंगात्, सर्वज्ञं प्रत्युपदेश वैयर्थ्याच्च। तस्मात्कथंचिद्भेदो जीवात्म- नावभेदश्च।**[81]

किन्तु औडुलोमि के मत में जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न है। ब्रह्मज्ञान के उपरान्त देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यहंकार रूप उपाधि के सम्पर्क से रहित हो जाने एवं मुक्त हो जाने पर वह ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है

---

[79] विवेकचूडामणि श्लोक. १११

[80] मुण्डकोपनिषद् ३।२।९

[81] भामती ११४।२० प्रतिज्ञासिद्धेलिंगमाश्मरथ्यः

भविष्यकालीन अभेद के आधार पर भेदकाल में भी अभेद का व्यवहार होता है। जब तक मुक्ति नहीं हो जाती तभी तक जीव और ब्रह्म का भेद है। मुक्तावस्था में भेद हेतु के अभाव से भेद नहीं रह जाता। इस प्रकार औडुलोमि के मत में बद्ध जीव ब्रह्म से भिन्न है, किन्तु मुक्त जीव ब्रह्म से अभिन्न है – **उत्क्रमिष्यत एवं भावादिस्यौडुलोमिः । भामती -- भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽप्यभेद उक्तः । यथाहुः पांचरात्रिका:-- "आमुक्तेर्भेद एवं स्याज्जीवस्य च परस्य। च मुक्तस्य न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः" ।।**[82]

काशकृत्स्न आचार्य के मत में जीव और ब्रह्म में वास्तविक अभेद है। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं और न ही ब्रह्म का विकार है किन्तु अविद्योपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्म ही जीव रूप से कल्पित है जैसे घटमणिकादिरूपे उपाधियों से अवच्छिन्न आकाश, घटाकाश तथा मणिकाकाश, परमाकाश से न तो भिन्न है और न ही उसका विकार है, वैसे ही जीव भी ब्रह्म से न तो भिन्न है और नहीं उसका विकार है, अपितु वह ब्रह्म रूप ही है - **अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः । भामती -- न जीव आत्मनोऽन्यः नापितद्विकारः, किन्त्वात्मैवाविद्योपाधानकल्पितावच्छेदः । आकाश इव घटमणिकादि कल्पितावच्छेदोघटाकाशो मणिकाकाशो न तु परमा काशादन्यस्तविकारो वा ।**[83]

शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न पर काशकृत्स्न के मत का ही समर्थन किया है। वे कहते हैं कि विज्ञानात्मा और परमात्मा का अविद्या प्रत्युपस्थापित्तनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तक भेद पारमार्थिक नहीं है। काशकृत्स्न का यह सिद्धान्त ही सभी वेदान्तियों से स्वीकार करने योग्य है - **अतश्च विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्या प्रत्युस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तोभेदो न पारमार्थिक इत्योषोऽर्थः सर्ववेदान्तिवादिभिरभ्युप गन्तव्यः ।**[84] आश्मरथ्य का वह सिद्धान्त जिसके अनुसार जीव और ब्रह्म में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है एवं जीव ब्रह्म का विकार होने से ब्रह्म के अधीन है, शंकराचार्य को मान्य नहीं। वे औडुलोमि के उस सिद्धान्त का भी समर्थन नहीं करते जिसके अनुसार जीव और ब्रह्म में बद्धावस्था में भेद और मुक्तावस्था में अभेद माना गया है। वे तो काशकृत्स्न द्वारा प्रतिपादित उस सिद्धान्त के ही समर्थक हैं जिसके अनुसार जीव और ब्रह्म में पारमार्थिक अभेद है। भेदप्रतीति का कारण अविद्या है। विद्योदय के होते ही भेदप्रतीति का बाध हो जाता है तथा जीव अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

---

[82] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।४।२१

[83] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।४।२२

[84] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।४।२२

जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद तथा औपाधिक भेद को प्रदर्शित करने के लिए शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में "आभास","अवच्छेद" तथा "प्रतिबिम्ब" इन तीन पदों का यथावसर प्रयोग किया है। कहीं उन्होंनें जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध को घटाकाश और मठाकाश के दृष्टान्त से समझाया है, कहीं बिम्ब और प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से और कहीं रज्जू-सर्प के दृष्टान्त से सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरण भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि परमात्मा ही देहेन्द्रियमनोबुद्धिरूप उपाधियों से परिच्छिद्यमान होता हुआ अज्ञानियों के द्वारा जीव रूप में उपचरित होता है जैसे घटकरकादि उपाधियों के कारण अपरिच्छिन्न आकाश परिच्छिन्न की तरह अवभासित होता है, वैसे ही अपरिच्छिन्न परमात्मा भी जीवरूप में अवभासित होता है – "**पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धयुपाधिभिः परिच्छिद्यमानो वालैः शरीर इत्युपचर्यते। यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवद्भासते तद्वत्"।**[85]

अंशाधिकारण के "आभास एव च" इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने जीव को परमात्मा का आभास बतलाया है। वे कहते हैं कि जीव को जलसूर्यकादि के समान परमात्मा का आभास ही समझा जाना चाहिये। न तो जीव साक्षात् परमात्मारूप है और न ही वस्त्वन्तर - **आभास एव चैष जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः। न स एव साक्षात नापि वस्त्वन्तरम्।**[86] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सूत्र और भाष्य में प्रयुक्त "आभास" पद के अर्थ के सम्बन्ध में विवरणप्रस्थान तथा आभासप्रस्थान में पर्याप्त मतभेद है। विवरण प्रस्थान में "आभास" पद को प्रतिबिम्ब के अर्थ में माना गया है किन्तु आभासप्रस्थान में इसे प्रतीति (एप्पीयरेन्स) के अर्थ में माना जाता है। प्रतिबिम्बवाद में प्रतिबिम्ब को बिम्ब से अभिन्न एवं बिम्बात्मता सत्य माना जाता है, जब कि आभासवाद में आभास को सर्वथा मिथ्या माना जाता है। शंकराचार्य ने अनेक स्थलों पर आभास के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है उन्होंने बुद्धिस्थ चैतन्य के आभास को मुकुरस्थ मुख के समान मृषात्मक बतलाया है - **मुकुरस्थं मुखं यद्वन्मुखवत्प्रथते मृषा। बुद्धिस्थाभासकस्तद्वदात्मवत् प्रथते मृषा।।, मुखाभासो यथादर्शे आभासश्चोदिता मृषा , आभासे परिणामश्चेन्न रज्ज्वादिनिमित्तवत् । सर्पादेश्च तथावोचमादर्शे च मुखादिवत्।।**[87] आभास को मिथ्या मानने के कारण उन्होंने इसे कहीं अवस्तु, कहीं अनात्म और कहीं दृक् की छाया कहा है – **अवस्तुत्वाच्चिदाभासो । तथा आभासस्याप्यवस्तुतः , दृशेच्छाया उपारूढा मुखच्छायेव दर्शने। पश्यस्तं प्रत्ययं योगी दृष्ट आत्मेति मन्यते।।**[88]

---

[85] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।२।६।

[86] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।३।५०।

[87] अद्वैतानुभूतिः, श्लोक ६३। उपदेश साहस्री पद्यखण्ड, १८-८८। उपदेश साहस्री १८-११४।

[88] स्वात्मप्रकाशिका, श्लोक ३७। उपदेश साहस्री श्लोक ४४। उपदेश साहस्री १२६ ।

किन्तु उभयलिंगाधिकरण के "अतएव चोपमासूर्यकादिवत्" इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने जीव और परमात्मा के पारमार्थिक अभेद तथा औपाधिक भेद का प्रतिपादन जलचन्द्रादि प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त के आधार पर किया है। वे कहते हैं कि जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलों में अनुगत होकर अनेकरूपों में दृष्टिगत होता है, वैसे ही यह आत्मज्योति अनेक उपाधियों में भिन्न-भिन्न रूप में दीख पड़ती है। जैसे एक ही चन्द्र अनेक जलों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक प्रकार से दीख पड़ता है, वैसे ही एक ही भूतात्मा भिन्न-भिन्न भूतों में व्यवस्थित उपलब्ध होता है - **यथाह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरुपो देव: क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा। एक एव हि भूतात्मा भूते व्यवस्थित:। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत॥**[89]

जैसे एक ही सूर्य अनेक पात्रों के जलों में प्रतिफलित होता है, वैसे एक ही परमात्मा अनेक देहों में प्रतिफलित होता है **- प्रतिफलति भानुरेकोऽनेकशरावोदकेषु यथा। तद्वदसौ परमात्मा ह्योकोऽनेकेषु देहेषु॥**[90] एक ही ज्ञान नामरूपादि अनेक उपाधियों के भेद से सूर्यादि के प्रतिबिम्ब के समान अनेक प्रकार से अवभासित होता है।[91] जैसे स्वच्छ पदार्थों में ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही आत्मा के सर्वगत होने पर भी उसका अवभास बुद्धि में ही होता है - **सदा सर्वगतोऽव्यात्मा न सर्वत्रावभासते। बुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्॥**[92] बुद्धि में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है - **चित्प्रतिबिम्बस्तद्वद् बुद्धिषु यो जीवतां प्राप्त:।**[93]

४.२ आभासवाद

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म जीव सम्बन्ध को छाया चित्र के माध्यम से स्पष्ट किया है कि ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध अभेद है जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है जिस प्रकार ब्रह्म माया से अवच्छिन्न होने

[89] ब्रह्म सिद्धि १२, ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य ३।२।१८।

[90] प्रबोध सुधाकर : अद्वैतप्रकरणम् श्लोक १२४।

[91] कठोपनिषद् शांकर भाष्य ६।२।

[92] आत्मबोध : श्लोक १७

[93] प्रबोध सुधाकर श्लोक ११८

पर ईश्वर रूप में प्रदर्शित हो रहा है उसी प्रकार वह ब्रह्म ही अविद्या से अवच्छिन्न होने पर जीव रूप में प्रतीत हो रहा है और वही अविकृत ब्रह्म भिन्न-भिन्न शरीर में जीव रूप में अवस्थित माना गया है भाष्यकार ने जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद तथा औपाधिक भेद को प्रदर्शित करने के लिए शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में अवच्छेद को घटाकाश और मठाकाश के दृष्टान्त से समझाया है तो कहीं बिम्ब प्रतिबिम्ब के भाव दृष्टान्त से और कहीं स्फटिकलौहित्य, रज्जु सर्प के दृष्टान्त से।

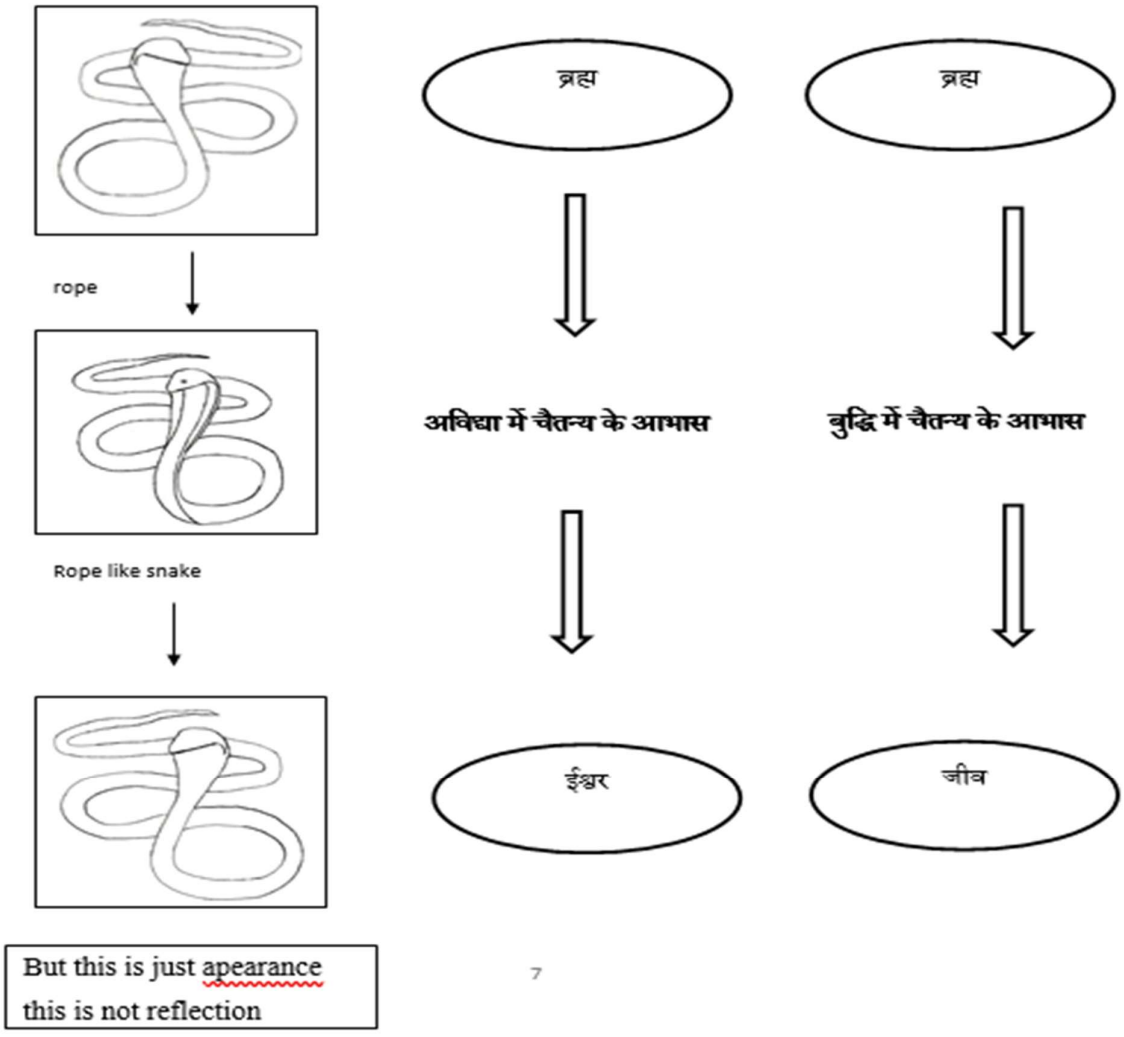

४.२.१ सुरेश्वराचार्य प्रतिष्ठापित आभासवाद एवं आभास की शब्दावली

अद्वैत वेदान्त के विख्यात आचार्य शंकर के भाष्य एवं प्रकरण ग्रन्थों में सुलभ आभास,अवच्छेद तथा प्रतिबिम्ब की शब्दावली में अद्वैत सिद्धान्त का निष्पक्ष विश्लेषण किया गया है तथा यह भी सूचित किया गया है कि शांकर ग्रन्थ सुलभ इन त्रिविध शब्दावलियों ने शंकरानुयायियों के हाथ में पड़ कर परस्पर विविक्त त्रिविध प्रस्थान का रूप धारण किया जिनमें से एक इस विषय का आभासवाद भी है। आभासवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य सुरेश्वर हैं। प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य सुरेश्वराचार्य के ग्रन्थों के द्वारा उपन्यस्त आभास प्रस्थान के अध्ययन से संबंधित है, अतः यह आवश्यक है कि उनके आभास-प्रस्थान के निरूपण के पूर्व उनके व्यक्तित्व का संक्षिप्त परिचय दिया जाय।

आचार्य सुरेश्वर शंकराचार्य के चार प्रमुख शिष्यों (पद्मपादाचार्य, सुरेश्वराचार्य, हस्तामलकाचार्य तथा त्रोटकाचार्य) में से एक थे। 'संन्यासोत्पत्ति' में इनका नाम स्वरूपाचार्य[94] भी बताया गया है। विद्वानों की ऐतिहासिक गवेषणा ने मंडन एवं सुरेश्वर की एकता या विभिन्नता के स्थापन में सुरेश्वर के साथ केवल मंडन की ही नहीं अपितु विश्वरूप उम्ब्रेक तथा भवभूति नामधारी व्यक्तियों को भी एक सूत्र में ग्रथित कर दिया है तथा मंडन मिश्र एवं मंडन-इन-मंडनद्वय की संभावना भी व्यक्त की है।[95] मंडन और विश्वरूपादि सुरेश्वर हैं या सुरेश्वर से पृथक्-पृथक् हैं - इसका निर्णय ऐतिहासिक शोध से सम्बन्धित है, आभास प्रस्थान-विवेचक शोध-प्रबन्ध से नहीं। ब्रह्मसिद्धि अवच्छेद परक है और नैष्कर्म्यसिद्धि तथा वार्तिक[96] आभासपरक है - **'उक्तानुक्तदुरुक्तादि चिन्तायत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थंवार्तिकं प्राहुवार्तिकज्ञा मनीषिणः।'** सुरेश्वर वार्तिक तथा टीका में कोई अन्तर नहीं करते, ऐसा इस वार्तिकांश 'सुविष्यष्टार्थतो भाष्य टीका नैवव्यपेक्षते' से ज्ञात होता है। आभासवादी आचार्यों ने ब्रह्मसिद्धि सम्मत मत का प्रपंचन और खंडन भी किया है[97] - **'जीवन्मुक्तिगतो यदाह भगवान् तत्संप्रदाय प्रभुः नैतव्यं परिहृत्य मडनवचस्तदर्थयथा प्रस्थितम्।'** (सं० शा० २११७४) **तथा प्रपंचस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते। इति प्राह ब्रह्मसिद्धिकारो वेदरहस्यवित्। 'अतोऽत्रान्यनिषेधेन ब्रह्मबोधः समाप्यते।'** भले ही ब्रह्म-सिद्धिकार मंडन तथा वार्तिक एवं नैष्कर्म्यसिद्धिकार सुरेश्वर एक ही व्यक्ति हों, पर दोनों के नाम से विश्रुत रचनाओं में कुछ मूलभूत सैद्धान्तिक अन्तर स्पष्ट लक्षित होते हैं अतः

---

[94] शंकराचार्यस्य चत्वारी शिष्या || स्वरूपाचार्यः ॥१॥ पद्मपादाचार्यः ॥२॥ नरा त्रोटकाचार्यः ॥३॥ पृथ्वीधराचार्यः ॥४॥ संन्यासोत्पत्तिः पृष्ठ २ हस्तलिखित पुस्तिका, संवत् १८६६।

[95] There is, of course, nothing impossible in the hypothesis that Mandana and Mandana-Misra were distinct, eventhough we shall then have to assume that both a like were Vedantins. M.Hirriyanna : Sureshvara and Mandana Misra, The Journal of Royal Asiatic Society of the Great Britain and Ireland for 1923।

[96] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक टीका ३|२|१२१

[97] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् ४ ४ ७६६-६६५ , बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक टीका १८५२-६२ , बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकसार १८२-८३०,५७३

आभासवादी आचार्य सुरेश्वर के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं[98] के आधार पर आभास पक्ष का उपन्यास उचित होगा।

४.२.२ आभास स्वरूप :

सुरेश्वर के ग्रन्थों में आभास का कोई प्रतिपदोक्त लक्षण नहीं प्राप्त होता है। एक स्थान पर उन्होंने प्रत्यङ्मात्र चेतन व्यतिरिक्त अन्य समस्त नाम रूपात्मक पदार्थों को चिदाभास कहा है।[99] अतः यह भी कहा जा सकता है कि चिदाभास न तो वास्तविक है, न अवास्तविक, न चैतन्य व्यतिरिक्त है और न चैतन्याव्यतिरिक्त है।[100] अविचारित संसिद्ध तम के समान इसका उद्भव है अतः यह अविचारित-संसिद्ध है।[101] आभास कारणता का वह काल्पनिक तत्त्व है जिसके अभाव में नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव, निद्वय, निष्क्रिय, निरंजन, निर्लिप्त ब्रह्म का अनेक नाम-रूपात्मक प्रपंच के रूप में अवभासन संभव नहीं क्योंकि आभास रूप फलक पर समारूढ़ होकर ही चेतन तत्त्व अज्ञान एवं अज्ञानज भूमियों में स्थित पर असंबद्ध रह ईश्वराद्यात्मक रूपों में प्रतीत होता है- **स्वाभासफलकारूढ़ स्तदज्ञानज भूमिषु। तन्स्थोऽपि तदसम्बद्ध ईश्वराद्यात्मतां गतः॥**[102] प्रत्यक् चैतन्यरूप[103] आत्मवस्तु के इस आभास को सुरेश्वराचार्य ने कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सम्पूर्ण अभिमान का मूल माना है।[104] यद्यपि अज्ञान तथा अज्ञानज वस्तुव्रात इन सब में आभास नित्य अन्वित रहता है-

कार्यकारणयोस्तत्त्वं प्रत्यगात्मा चितिर्यतः।
तस्मान्नित्यश्चिदामासो बुद्धौ तत्प्रत्ययेषु च॥[105]
तथा-- अपि प्रत्यक्तमो नित्यं भास्वच्चैतन्यबिम्बितम्।
बुद्धितवृत्तयश्चैवं तप्तायो विस्फुलिंगवत्॥

तथापि अज्ञानादि उपाधियों के नाश होने पर आभास का संहार उसी प्रकार हो जाता है जैसे घटोदकादि के नष्ट होने पर तद्गत अर्क का प्रविलयन हो जाता है –

---

[98] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् २ तैत्तिरीयोपनिषद्भावार्तिकम् ३ पंचीकरण वार्तिकम् ४ दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्तिकम् तथा ५ नैष्कर्म्यसिद्धिः |

[99] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय २ ब्राह्मण ३ वार्तिक १९१

[100] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय २ ब्राह्मण ३ वार्तिक २१-२२

[101] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक१३-२६

[102] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १,ब्राह्मण ३,वार्तिक ५३

[103] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४,ब्राह्मण ३,वार्तिक १९७४

[104] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४,ब्राह्मण ३,वार्तिक ७३

[105] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ३,ब्राह्मण ४,वार्तिक १५१

बुद्धयादिकार्य संहारे प्रत्यक्चैतन्य रूपिणः ।

चिद् बिम्बस्यापि संहारो जलार्क प्रविलायवत् ।।[106]

४.२.३ आभास के विभिन्न नामों का उल्लेख

सुरेश्वराचार्य ने अपने आभास प्रस्थान के प्रतिष्ठापक ग्रन्थों में केवल आभास[107] पद का ही प्रचुरतः प्रयोग किया हो यह बात नहीं, अपितु इस चित्त सम्बन्धित आभास का उल्लेख स्वाभास,[108] चिदाभास,[109] चैतन्याभास,[110] स्वात्माभास,[111] आत्माभास,[112] कूटस्थाभास,[113] प्रत्यगाभास,[114] तथा दृष्ट्याभास[115] पदों से भी किया है। आभास के स्थान पर अवभास[116] तथा अवभास के अर्थ में स्वात्मावभास[117] एवं चिदवभास[118] का प्रयोग भी कहीं जगह प्राप्त हो जाता है। चिदाभासार्थक सिद्धि

---

[106] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १,ब्राह्मण ४, वार्तिक ८३४ बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४ ब्राह्मण ३, वार्तिक १९७४

[107] सम्बन्ध वार्तिक, वार्तिक२६८,२६९, ७९२ तथा ८७९; बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ३,वार्तिक ६९; ब्राह्मण ४, वार्तिक २७२, ५५९, ८७४, १०५६, १२३६ तथा १३२८ अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक ५५२; ब्राह्मण ३ वार्तिक १६१ तथा १९१; ब्राह्मण ४, वार्तिक १२४,१८६, २६२, ३९० तथा ४२४; अध्याय ३ ब्राह्मण ४वार्तिक१०१, १०९, १४२, तथा १४९ ब्राह्मण ७ वार्तिक ६०; अध्याय ४ ब्राह्मण ३, वार्तिक९९, २९६, ३१५, ३६१, ३८४, ४७३, ६७२, १०३२ तथा १६४८ तै० उ० भा० वार्त्तिक, वार्तिक१९, पृष्ठ १७६; वार्तिक ५०, पृष्ठ १८३ तथा वार्तिक ६८, पृष्ठ २१८ पंची० वार्तिक१३ ५६ तथा ६१; नैष्कर्म्यसिद्धिः :-अध्याय २, ब्राह्मण २५ वार्तिक ६७०२, गद्य भाग, पृष्ठ ७६ तथा अध्याय ३, वार्तिक ८५

[108] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण २ वार्तिक १२७ तथा १३७ ब्राह्मण ३, वार्तिक५३; ब्राह्मण ४, वार्तिक१५१, ५०१, ५१४ तथा १९७७ ; अध्याय २, ब्राह्मण १ वार्तिक १८७ तथा २२७ ; ब्राह्मण ३ वार्तिक ८५ ब्राह्मण ४ वार्तिक ४२५ अध्याय ३ ब्राह्मण ४ वार्तिक ९०, ब्राह्मण ८ ब्राह्मण १७२; अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ८६,८९, ९४,३५२, ४१६,१००४,१२३२ तथा १३७७

[109] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १ ब्राह्मण ३ वार्तिक २६१ ब्राह्मण ४ वार्तिक३४१ तथा ७४१; अध्याय ३ वार्तिक४, वार्तिक ९०,१०५ तथा १५१ ब्राह्मण ७ वार्तिक३७ तथा ४३ ब्राह्मण ९ वार्तिक३; अध्याय ४ ब्राह्मण २ वार्तिक५८ ब्राह्मण ३ वार्तिक९९ , ३६०, ३७३, ३९४, ३९८, ४०५, ४०६, ४१६, ८८७, ९२५, १०७६ तथा १२६६ |

[110] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक १००१ तथा १३५० ; अध्याय २ ब्राह्मण ४ वार्तिक३४६; अध्याय ३, ब्राह्मण ४, वार्तिक १०१; ब्राह्मण ८ वार्तिक१२८ अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक३५५, ५८, ३८५, ४४२, १२२६, १२६३ तथा १५८३ पंचीकरणवार्तिक ३९

[111] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -- अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक१६, ५०८ तथा ७४३

[112] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १ ब्राह्मण ४, वार्तिक२३ ; अध्याय २, ब्राह्मण ४ वार्तिक ३१५; अध्याय ३ , ब्राह्मण ४, वार्तिक १०१ तथा
अध्याय ४, ब्राह्मण३, वार्तिक१३२०

[113] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक ३७४

[114] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय २, ब्राह्मण ४ वार्तिक ४२७ तथा अध्याय ३, ब्राह्मण ३ वार्तिक ४१

[115] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ३ ब्राह्मण ४ वार्तिक ८६

[116] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक ५५७

[117] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक २१८

[118] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय-२, ब्राह्मण १ वार्तिक २१६ तथा २२५

चिद्बिम्ब[119] तथा आभासित के लिए बिम्बित[120] शब्द भी वार्तिकों में बहुश: संलक्ष्य है। आभास के अर्थ में प्रतिबिम्ब[121] तथा आभासित के अर्थ में प्रतिबिम्बित[122] शब्द का भी प्रयोग किया गया है। महिमा,[123]अभिप्राय,[124] प्रसाद,[125] आकृति[126] वृत्ति,[127] आत्माच्छाया[128] चिदाभ[129] तथा चिन्नभ[130] पदों से भी आभास का बोध कराया गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि सुरेश्वराचार्य ने आभास के लिए आभासादि अपरोक्ष पदों का ही प्रयोग नहीं किया है वरन् तदर्थावबोधपरक महिमादि जैसी परोक्ष पदावलियों का भी आश्रय लिया है।

४.२.४ चिदाभास की द्विविधरूपता

सुरेश्वराचार्य ने अज्ञान तथा अज्ञानज कार्य अवभासित आत्माभास को (१) कारणाभास तथा (२) कार्याभास - इन द्विविध रूपों में प्रतिपादित किया है[131] उनके ग्रन्थों के परिशीलन से आभास के उक्त द्विविध रूपों के स्वरूपादि की प्रतिपत्ति इस प्रकार होती है।

---

[119] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय-१ ब्राह्मण ४ वार्तिक ५४०,६०८,६०९,६१७ तथा १३१२; अध्याय ३, ब्राह्मण ४ वार्तिक १०५; अध्याय ४

ब्राह्मण ३ वार्तिक ४१४,४१५,१०२९,११७४,२१७५ तथा १२५७; और अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक २३६

[120] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -- अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ८३४; अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ३६,२८५,३८२ तथा १२५८ ; अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक ७८

[121] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् – अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक ५४१ तथा ६१९; अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक ६८ तथा अध्याय ७३, ब्राह्मण ६

वार्तिक ५५

[122] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक १३९७ तथा नैष्कर्म्यसिद्धि, अध्याय २ पृष्ठ ६२ और ६६

[123] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय २, ब्राह्मण ३, वार्तिक २३३ अध्याय ३ ब्राह्मण ५ वार्तिक ७० तथा १३६; ब्राह्मण ८ वार्तिक ११५

[124] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण ३ वार्तिक ३१२

[125] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४ वार्तिक ३ वार्तिक ७४ तथा २९५

[126] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक २२९ तथा ब्राह्मण ४ वार्तिक ६५१

[127] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक ६३६

[128] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक ५६६ तथा ५७७

[129] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण २ वार्तिक १५७; अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९१,३९२, ८८८, ८८९, ९०६,९१०, ९२०, ११११ तथा ११७६

[130] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक ३४०

[131] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक १३२०

४.२.४.१ कारणाभास

मोहगत आभास कारणाभास है। कारणाभास चैतन्यमात्रोपादानक है, अतः इसे सुरेश्वराचार्य ने कूटस्थात्मैकहेतूत्थ - **'कूटस्थात्मैकहेतुत्थ चिद्बिम्बोमोहगस्तु यः'**[132] एवं प्रत्यक्प्रज्ञोत्थित[133] कहा है। आत्मा के कारणत्वादि के प्रयोजक अज्ञान में नित्य संस्थित रहने के कारण - **'आत्माज्ञानमतः प्रत्यक् चैतन्याभासवत्सदा। आत्मनः कारणत्वादेः प्रयोजकमिहेष्यते'॥**[134] इस चिदाभास को कारणाभास कहा जाता है। स्व उपादान अर्थात् चैतन्यानुरोधी होने के कारण एक अन्य वार्तिक में **'चेतनाचेतनाभास आत्मानात्मत्वलक्षणः'**।[135] इसे चेतनाभास पद से भी व्यपदिष्ट किया गया है तथा आत्मलक्षणास्पद माना गया है। आत्मलक्षणानुरोधी होने के कारणाभास का किसी भी पदार्थ से वस्तुतः सम्बन्ध नहीं होता। **'स्वोपादानानुरोधित्वाकेनचिन्नास्य संगतिः'**।[136] कारण चिदाभास को आत्मलक्षणास्पद कहने का अभिप्राय एतावन्मात्र है कि चिदाभास के द्वारा अज्ञान तथा अज्ञानज पदार्थ सार्थ की सत्ता एवं स्फूर्ति होती है पर यह नहीं कि कारणाभास शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्मवत् शुद्ध, असङ्ग, उदासीन, अविकारी, अनन्त तथा षड्विषयविकार रहित है। इसको कूटस्थात्मैकहेतूत्तथ कहने से भी यह अभिप्रेत नहीं हो सकता कि आत्मा के कारणत्वादि की प्रयोजिका अविद्या के अभाव में कारणाभास का उत्थान हो जाता है क्योंकि कभी-कभी सुरेश्वराचार्य ने **एक नीडत्वहेतूत्था साक्षिणः साक्ष्य संगतिः। न तु मोहोत्थचिद्बिम्बहेतुवृत्त व्यपेक्षया॥** [137] मोहोत्थ कहकर इसके अज्ञान जन्यत्व को भी समर्थित किया है। आत्मलक्षणानुरोधित्व के समान आत्मैकहेतूत्थ से अभिप्रेत तथ्य यही है कि यह कारणाभास चित्समविशेषणावगाहि होता हुआ जड़ पदार्थों का प्रकाशनादि करता है। मोह के साथ इसका नित्यान्वय स्वीकार करने से यह सिद्ध हो जाता है कि कारण चिदाभास का आश्रय तथा विषय अज्ञान है - **चिदाभासाश्रयाज्ञानात्कार्यसंगति हेतुतः**।[138] चैतन्य सह विद्यमान होने के कारण इसका अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य होगा - **'आसमन्ताद्भासत इत्याभासः चैतन्यं तेन सह वर्तते इति तथा, चैतन्याधिष्ठित मित्यर्थः'**।[139] कारणाभास आभासवादी आचार्य सुरेश्वर सम्मत ईश्वर है - यह ईश्वर स्वरूप-निरूपण के प्रसंग में स्पष्ट किया जायगा।

---

[132] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ४१५

[133] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय २ ब्राह्मण ४ वार्तिक ३९०

[134] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ३५५ ; अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९९ तथा अध्याय १ वार्तिक ४ वार्तिक ८३४ |

[135] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय २, ब्राह्मण ४ वार्तिक ४२४

[136] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ४१५

[137] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ४१४

[138] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ४१६

[139] पंचिकरणवार्त्तिकविवरण पर रामतीर्थ कृत तत्त्वचन्द्रिका पृष्ठ ३३

४.२.४.२ कार्याभास

अज्ञानज वस्तु-व्रात में प्रतिफलित आभास को कार्याभास कहा गया है। नैष्कर्म्य सिद्धि[140] में सुरेशराचार्य ने कार्याभास का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया है –

यश्चायं क्रियाकारकफलात्मक आभास ईषदपि परमार्थवस्तु न स्पृशति तस्य मोहमात्रोपादानत्वात् ।

उपर्युक्त पंक्ति से यह स्पष्ट होता है कि क्रिया, कारक एवं फल रूप कार्याभास का उपादान (कारण) अज्ञान है। कारणचिदाभासविशिष्टज्ञानोपादानक होने के कारण कार्य चिदाभास से आत्मवस्तु का वस्तुतः किंचित् संस्पर्श संभव नहीं। इस कार्याभास को अविद्या का परिणाम भी कहा जाता है। **परिणामो हि मोहादेश्चिदाभासः सदेप्यते ॥ परिणामान्तर प्राप्ति स्तस्यापीति न युज्यते ॥**[141] सूक्ष्मतमादि ते स्थूलतमान्त समस्त जगत् कार्याभास प्रोद्भासित होने के कारण कार्याभासव्यवदेशय है। यद्यपि कार्याभास को अचेतनाभास इस अपर पर्याय से अभिहित कर आचार्य सुरेश्वर ने अनात्मरूप कहा है[142] तथापि अनात्मरूप कहने का अभिप्राय इसे आत्मा से व्यतिरिक्त बतलाना है न कि जड़ पदार्थों से अविलक्षण मानना क्योंकि यह जड़ पदार्थों का प्रोद्यासक है और न कि उनके समान प्रोद्यास्य है । विश्वरूप होने के कारण कार्याभास को अनेकता सदृश है ।[143] अज्ञानोपादानक होने के कारण सर्वाभिमान का हेतु है। कार्याभास का आश्रय कारणाभास के समान अविद्या नहीं प्रत्युत् अविद्या- विजृम्भित अंतःकरणादि है।

४.२.५ कारणाभास की चिदज्ञानोभयजन्यता का स्पष्टीकरण

कारणाभास के लिए चित् तथा अज्ञान - इन दोनों की कारणता के स्वरूप का स्पष्टीकरण आवश्यक है। चिदाभास का अर्थ है चित्प्रतियोगिक आभास । अज्ञान में सदैव संस्थित रहने के कारण इसे अज्ञानानुयोगिक कहा जायगा। आभास अपने प्रतियोगी चित् तथा अनुयोग अज्ञान-इन दोनों से जन्य होने के कारण प्रतियोग्यनुयोग्युभयोपादानक होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रतियोगी रूप से कारणाभास का जनक चित् है तथा अनुयोगी रूप से कारणाभास का जनक अज्ञान है। प्रतियोगित्वेन कारणाभास की जनकता से ब्रह्म को निर्धमकता का कोई विरोध नहीं क्योंकि ब्रह्म अपने तुरीय रूप में तादृश प्रतियोगित्वोपलक्षित रहता है।

---

[140] नैष्कर्म्यसिद्धिः, अध्याय २ पृष्ठ ६७

[141] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -- अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ३९४

[142] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय २, ब्राह्मण ४ वार्तिक ४२४

[143] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण २ वार्तिक १५७; ब्राह्मण ४ वार्तिक १३२८; अध्याय २ ब्राह्मण ४ वार्तिक ४२५ तथा अध्याय ३, ब्राह्मण ४, वार्तिक १०५

४.२.६ कारणाभास तथा कार्याभास का संबंध एवं अन्तर

यद्यपि सुरेश्वर प्रतिष्ठापित आभास प्रस्थान में कारणाभास या कार्याभास किसी को भी आत्मा की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उन्होंने आत्मा और अनात्मा को दो ही पदार्थों में निर्धारित किया है - **'इह च पदार्थ द्वयं निर्धारितमात्मानात्मा'।**[144] तथापि उपर्युक्त आभास-द्वय संबंधित स्वरूपानुशीलन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि कारण चिदाभास प्राथमिक तथा नान्तरीयक चिदाभास है और कार्य चिदाभास पश्चाद्भाविक और व्यवहित है। कारणाभास अज्ञानगत होता है तथा कार्याभास वस्तुगत होता है। एक का उपादान चैतन्य है, दूसरे का उपादान अज्ञान | एक चैतन्यस्वभावानुरोधी तथा दूसरा मोहाद्युपाध्यनुरोधी है। अतएव कारण चिदाभास को चेतनाभास तथा कार्य-चिदाभास को अचेतनाभास भी कहा जाता है। एक आत्मरूप है, दूसरा अनात्मरूप। कारण चिदाभास की आत्मरूपता का तात्पर्य सत् और चित्स्वरूप आत्मा के अनुकारी होने के कारण अज्ञानादि पदार्थों में सत्ता-स्फूर्ति प्रदत्त है। उसी प्रकार कार्याभास की अनात्मरूपता का अभिप्राय अज्ञान स्वरूप होने के कारण संसार के पदार्थों में सुख-दुःख मोहादि हेतुत्वापादकत्व है। सुरेश्वर के ग्रन्थों के परिशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि कारणाभास क्रिया-कारक-फलात्मक कार्याभास की कारणता का एक सहायक तत्व है। कारण चिदाभास और कार्य चिदाभास रूप में आभास द्वैविध्य के वर्णन से यह नहीं कहा जा सकता कि आभास के ये दो भेद हैं क्योंकि एक ही चिदाभास जब अज्ञान में आभासित होता है तब उसे कारणाभास कहते हैं और जब अज्ञान के कार्यों में प्रतिफलित होता है तब उसे कार्याभास कहते हैं।

४.२.७ आभास की उपयोगिता -

४.२.७.१. अनात्मवस्तु सिद्धि आभास निबंधन है

आत्म व्यतिरिक्त समस्त अनात्म पदार्थों के स्वरूप को निष्पत्ति तथा सिद्धि आभास के द्वारा होती है। जगत् की कारणतादि की प्रयोजिका अविद्या से लेकर तत्कार्यभूत स्थावरान्त जगत् इन सबके सत्ता लाभ एवं स्फुरण का कारण आत्म ज्योति या आभास है - **ध्वान्तादि विषयान्तोऽर्थोजडत्वान्नात्म सिद्धिकृत्।**

आत्म ज्योतिरभावेऽतो नाभावमपि विन्दति ॥[145] जिस प्रकार स्वतः जाड्य एवं मौढ्यविशिष्ट अविद्या **'न च जाड्यातिरेकेण ह्यविद्या**

---

[144] नैष्कर्म्यसिद्धिः अध्याय ३ पृष्ठ १०४

[145] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य - अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्त्तिक५६

काचिदिष्यते' [146] का वैश्वरूपात्मक कथन असंभव है उसी प्रकार तदुद्भूत भूत समूहों का आत्मरूप से अवभासन भी असंभव है क्योंकि जो वस्तु स्वतः सत्ता एवं स्फूर्ति से विरहित है वह न तो प्रपंच विकल्पना कर सकती है और न आत्मरूप प्रतीत हो सकती है । इसीलिए सुरेश्वर ने अज्ञान **'यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम्**[147] **तथा 'चिदाभासैकमात्रेण तमः सिद्धिर्न मातृतः'** तथा अज्ञान समुद्भूत-भूतजात **चैतन्याभासवत्प्रत्यङ् मोहान्तात्प्रत्यनात्मनः । बुद्धयादेविषयान्तस्य सिद्धिः स्यात्साक्षिणस्ततः ॥ तथा आत्माभासैक संसिद्धेस्तदज्ञान समुद्भवम् ॥**

आत्मैव भण्यते मोहात्तदात्मा व्यतिरेक्तः ॥ [148] की स्वरूप सिद्धि का हेतु चिरप्रसाद अर्थात् चिदाभास को बताया है। आभास व्याप्त वस्तु अर्थात् आभासी का आभास व्यतिरिक्त कोई सत्व नहीं होता **'न चाऽभासस्याभासिनोऽन्यत्व सत्त्वम्'।**[149] क्योंकि आभास उपाधि को उसी प्रकार सर्वावियव व्याप्त कर लेता है जैसे घटादि आकाश को व्याप्त कर लेते हैं । **विषयः प्रत्यगात्मा च स्वाभासे न विशेद्धियम् । स्वाभावात्वयं साक्षा द्रवियत्कुम्भादिगं यथा ॥** [150] चिदाभासाक्रान्त अज्ञान अथवा अज्ञानादित्रय- (अज्ञान, संशयज्ञान तथा मिथ्याज्ञान) की आभास अतिरिक्त सत्ता नहीं होती इसीलिए सुरेश्वराचार्य ने इन सभी को आभास कहा है । **'चिदाभासं तमो ज्ञेयं नाज्ञासिषमितीक्षणात्' अज्ञानादि त्रयं प्रत्यगाभासं यद्यपीष्यते तथा कूटस्थात्म चिदामेऽस्य प्रत्यग्ध्वान्ते हितद्धवैः | विषयान्तैमवेद्भ्रान्तिः समानाधिकरण्यतः** [151] प्रभा[152], प्रत्यक्ष[153],

---

[146] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक२५६

[147] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ७४ तथा बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ३, ब्राह्मण ४, वार्तिक १०५

[148] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक३५६ बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्त्तिक २३

[149] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ५०८, पृष्ठ ५३६

[150] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३वार्तिक ६४८

[151] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, वार्त्तिक ४ वार्तिक ३४१, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिकम् अध्याय ३०३ वार्त्तिक ४१

बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ३९२

[152] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक २७२, ८७४, १०५६ अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक ५५२ तथा ब्राह्मण ४ वार्तिक १२४

[153] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय १ वार्तिक ४ वार्तिक ५५

लिंग[154], आगमादि[155], प्रमाण[156], त्रिविध शरीर[157], मोह-फार्यनीड[158], घट[159], धूम[160] तथा रूपादि विषय[161] अर्थात् सम्पूर्ण अनात्म वस्तु आभास सिद्ध ही आभास बन जाती हैं|

४.२.७.२. आभास कारणता का एक तत्त्व है

आभासवादी आचार्य सुरेश्वराभिमत आभास के सिद्धान्त से ईशादि-विषयान्त जगत् की दुखबोध कारणता की समस्या का समाधान प्राप्त हो जाता है। निष्प्रपंच, निर्विकार, निर्गुण, निरंश, निष्कल, सत्यज्ञान, अनन्त, ब्रह्म जगत् का स्वतः कारण नहीं हो सकता। जड़ अविद्या भी स्वयमेव जगत् के कारणत्व की प्रयोजिका नहीं बन सकती। अद्वैत वेदान्त में अविद्यावष्टम्भपूर्वक ब्रह्म को जगत् का कारण माना गया हे। जड़ अविद्या का निष्क्रिय ब्रह्म कैसे सिद्ध करे ? यह अद्वैतनय के समक्ष एक जटिल प्रश्न था सुरेश्वराचार्य अद्वैत वेदान्त के प्रथम आचार्य हैं जिन्होंनें अज्ञान तथा ब्रह्म के आविद्यक सम्बन्ध की सिद्धि के लिए आभासरूप वर्त्म[162] की कल्पना की। इस आभास वर्त्म के द्वारा चित् का अज्ञान से सम्बन्ध हो सका चिदाभास व्याप्त अज्ञान के समुपाश्रयण[163] से ब्रह्म को जगत् का परम कारण माना जा सका - 'सर्वासूपनिपत्सेव कारणं नान्यदात्मनः श्रूयतेऽतः परात्मैव जगतः कारणं परम्' ॥[164]

---

[154] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ६७२

[155] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ३, वार्तिक ६९

[156] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण ४, वार्तिक १३२८

[157] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण २ वार्तिक १५७

[158] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १,ब्राह्मण ४ वार्तिक ३७४

[159] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ४७२

[160] संबंध वार्तिक ८९७

[161] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ३ ब्राह्मण ४ वार्तिक १४९

[162] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण २,वार्तिक १२७ अध्याय ३ ब्राह्मण ४, वार्तिक ९०,अध्याय ३, ब्राह्मण ८ वार्तिक १२८,अध्याय ४,
ब्राह्मण ३, वार्तिक ३५२,३८४, ३८४, ३९८,१००४ तथा १३७७

[163] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक ३७१

[164] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय २, ब्राह्मण १, वार्तिक ३९५

४.२.७.३. आभास की सहायता से आत्मा का विषय प्रकाशन

दृश्यमान बुद्धयादि स्थावरान्त जगत् क्यों प्रकाशित हो रहा है जबकि इसका प्रकाशन न तो सर्वप्रवृत्तिहीन, कार्यकारणातीत ब्रह्म कर सकता है और न तिमिर तथा मोहादिक पदामिलप्यमान अविद्या कर सकती है। इस जटिल समस्या की भी सुरेश्वर ने आभास के अंगीकरण से समाहित किया है। उनका स्पष्ट कथन है कि आत्मा स्वाभाससाचिव्य से बुद्धयादि विषयों का प्रकाशन करता है - **'आत्मा स्वाभास सचिवोधियमिच्छादि रूपिणीम्' ॥ अनुगृह्णानि कर्मोत्थां प्रत्यगज्ञानकारणात् ॥ मान्वादिदतो बुद्धि स्वाभासैकसहायवान् । अनुगृह्णाति कूटस्थः स्वात्मा विद्याऽनुरोधतः । तथा मनः करण मंवन्याई हेप्यस्योपजायते ॥ एवभासामय त्यात्मा कृत्स्नं कार्य सकारणम् ॥**[165]

४.२.८. जगत्कारणता- विचार

वेदान्त सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।१) के अनुसार ब्रह्म जगदुत्पत्ति स्थिति और लय का कारण है, किन्तु कार्यकारणातीत, परंग, निधर्मक और निर्विशेष होने के कारण ब्रह्म की कारणता अज्ञानपाश्रयण के बिना संभव नहीं।[166] ब्रह्म की जगत्कारणता का स्वरूप क्या है ? इस विषय में सभी अद्वैतवेदान्त के आचार्यों का ऐकमत्य नहीं है | कुछ आचार्य ब्रह्म का विवर्तोपादानत्व मानते हैं, कुछ अभिन्ननिमित्तोपादानत्व मानते हैं, कुछ ईश्वरकारणत्व मानते हैं और कुछ जीव का जगदुपादानत्व।

पंचपादिका-विवरण के पंचम वर्णक में प्रकाशात्ममुनि ने अनिर्वचनीय मायाविशिष्ट ब्रह्म जगत् का उपादान है- यह सिद्ध करके माया विशिष्ट ब्रह्म की जगददुपादानता के विषय में अचार्यों के त्रिविध मत[167] का उपन्यास किया है - **त्रैविध्यमत्र संभवति - 'रज्ज्वाः संयुक्तसूत्रद्वयवन्मायाविशिष्टं ब्रह्म जगत्कारणमिति वा 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति श्रुतेः मायाशक्तिमत्, ब्रह्म कारणमिति वा, जगदुपादानमाया श्रूयतया ब्रह्मकारणमिति वेति।** (१) जैसे रज्जु के प्रति संयुक्त दो सूत्र कारण है, वैसे ही माया विशिष्ट ब्रह्म कारण है और माया भी विशेषण रूप से कारण है, अथवा (२) देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्, इत्यादि श्रुति के अनुसार माया शक्ति से युक्त ब्रह्म कारण है, अथवा (३) जगत् को उपादानभूत माया के आश्रय रूप से ब्रह्म कारण है।

---

[165] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४ ब्राह्मण ३० वार्तिक १८६ अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ८६ अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ३६१

[166] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक ३७१

[167] पंचपादिका विवरण, पंचम वर्णक, पृष्ठ ६५२

इन त्रिविध पक्षों का विश्लेषण करते हुए उनका कहना है[168] कि यद्यपि विशिष्ट (प्रथम) पक्ष में ब्रह्म का तटस्थ लक्षणरूप जगत्कारणत्व मायागत होता है तथापि ब्रह्म की माया से निष्कृष्ट कर लेने पर इससे और ज्ञानानन्दादि स्वरूप लक्षण अर्थात् दोनों से विशुद्ध ब्रह्म की सिद्धि होती है। द्वितीय तथा तृतीय पक्ष में जैसे अंशु (तन्तु के अवयव) के अधीन तन्तु से आरब्ध पट अंशुतन्त्र होता है, वैसे ही ब्रह्म परतन्त्र माया का कार्य भी ब्रह्म परतन्त्र होगा। अतएव उत्पद्यमान कार्य का जो आश्रयोपाधि (अज्ञान सत् का हेतु) ज्ञान और आनंद लक्षण है, वह ब्रह्म है, ऐसा सिद्ध होगा। सप्तम वर्णक में भी प्रकाशात्मन् ने सर्व ब्रह्म की निमित्तोपादानता सिद्ध की है तथा जगत्कारणता के विषय में ब्रह्म सिद्धिकार तथा इष्टसिद्धि कारादि के मतों का उल्लेख किया है।[169]

प्रकाशात्मन् के द्वारा पंचम वर्णक में उल्लिखित कारणता त्रैविध्य का विश्लेषण भारती तीर्थ ने अपने विवरण प्रमेय संग्रह में इस प्रकार किया है।[170] संयुक्त सूत्र द्वय वाले पक्ष में माया और ब्रह्म दोनों समप्रधान भाव से जगत् के उपादान हैं क्योंकि जगत् की सत्ता एवं स्फूर्त्ति अंग में ब्रह्म का उपयोग है और जगत् के जाड्य तथा विकारांश में माया का उपयोग है। द्वितीय अर्थात् शक्तिमत् ब्रह्म की कारणता में मायाख्या शक्ति ही साक्षात् जगदुपादान है, यद्यपि शक्ति नियमतः शक्तिमत् को परतन्त्र होती है अतः शक्तिमत् ब्रह्म में भी जगत् की उपादानता अर्थाक्षिप्त हो जायगी। तृतीय पक्ष में भी यद्यपि माया की ही साक्षादुपादानता है तथापि आरोपित माया का अधिष्ठान-ब्रह्मस्वरूप व्यतिरिक्त स्वरूपान्तर नहीं स्वीकृत हो सकता। अतः माया को अधिष्ठानता के कारण ब्रह्म की उपादानता आ ही जाती है। यहाँ इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि तीनों पक्षों में विशुद्ध ब्रह्म की उपादानता औपचारिक ही है – 'पक्षनयेऽपि विशुद्धब्रह्मणः औपचारिकत्वमेयोपादानत्वम्'।[171]

उपर्युक्त पंचम वर्णक के कारणता-त्रैविध्य के मतभेद का विवेचन, मधुसूदन परवर्ती अन्य वेदान्तियों ने भी किया, जिसका सारांश हमें मधुसूदन सरस्वती के 'अद्वैतरत्न रक्षणम्' में इस प्रकार प्राप्त होता है – **'तत्र प्रथम पक्षे ब्रह्मणोनिमित्तत्वम्, उपादानत्वं तु द्वयस्यैव। द्वितीय पक्षे तु ब्रह्मणः प्राधान्यं मायायाश्चोपसर्जनत्वम्। तृतीयपक्षे तु उपादानत्वं मायाया एवं ब्रह्मणस्तु तदधिष्ठानत्वमिति, विवेचितंवृद्धैरिति'॥**[172] माया विशिष्ट ब्रह्म के जगत्कारणत्वरूप प्रथम पक्ष में ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण होगा तथा ब्रह्म और माया दोनों की उपादान कारणता होगी। मायाशक्तिमत् ब्रह्म की जगत्कारणता रूप द्वितीय पक्ष में ब्रह्म की प्रधान तथा माया की उपसर्जन कारणता होगी तथा अन्तिम

---

[168] पंचपादिका विवरण, पृष्ठ ६५३

[169] पंचपादिकाविवरणम् सप्तम वर्णक तथा चित्सुखकृत पंचपादिका विवरण व्याख्या, पृष्ठ ६९३।

[170] विवरण प्रमेयसंग्रह: पंचम वर्णक, पृष्ठ २६३-२६४

[171] विवरण प्रमेयसंग्रह, पृष्ठ २६४

[172] अद्वैतरत्न रक्षणम्, पृष्ठ ४३

अर्थात् जगदुपादान माया व्यापाश्रित ब्रह्म की कारणता मानने वाले पक्ष में उपादान कारणता केवल माया की होगी और ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान होगा।

इन पक्षों में से प्रथम पक्ष सुरेश्वराचार्याभिमत है, यह सुरेश्वर सम्मत कारणता निरूपण के प्रसंग में स्पष्ट किया जायगा। द्वितीय पक्ष विवरणकार का हो सकता है। तृतीय पक्ष जिस किसी का भी हो, बाद में यह 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' के रचयिता प्रकाशानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुआ - **सिद्धान्तमुक्तावलीकृतस्तु मायाशक्तिरेवोपादानं न ब्रह्म 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनवरम बाह्यम्' 'न तस्य कार्य करणं न विद्यते' इत्यादि श्रुते: | जगदुपादानमायाधिष्ठान त्वेन उपचारादुपादानम्, तादृशमेवोपादानत्वं लक्षणे विवक्षितमित्याहुः ।।**[173] ब्रह्मानन्द ने भी अद्वैत सिद्धि की व्याख्या में प्रमुख आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है।[174] प्रथम मत के अनुसार अज्ञानोपहित बिम्ब चैतन्य ईश्वर है तथा अंतःकरण और उसके संस्कार से अवच्छिन्न अज्ञान प्रतिबिम्ब चैतन्य जीव है। इस मत में ईश्वर रूप बिम्ब तथा जीव रूप प्रतिबिम्ब इन दोनों में अनुगत शुद्ध चैतन्य साक्षिपद वाच्य होता है और शुद्धचित् जगत् का उपादान कारण है। दूसरा पक्ष अज्ञान प्रतिबिम्ब चैतन्य को ईश्वर तथा बुद्धिप्रतिबिम्ब चैतन्य को जीव मानता है। इस मत के अनुसार अविद्या बिम्बत्वोपहित चित् जगत का साक्षि तथा उपादान कारण है। यह दोनों मत क्रमशः विवरणकार एवं संक्षेप-शारीरिककार के नाम से उल्लिखित किए गये हैं। इसी संदर्भ में आभासवादी आचार्य सुरेश्वर का मत भी निर्दिष्ट है, जिसके अनुसार अविद्यागत चिदाभास ईश्वर है तथा अन्तःकरणगत चिदाभास जीव है। इस आभास पक्ष के अनुसार जगत् का उपादान कारण ईश्वर है। उपर्युक्त त्रिविध मतों को प्रतिबिम्बवाद तथा आभासवाद से संबंधित कहा जाता है। इन मतों के अतिरिक्त अवच्छेद प्रस्थान से संबंधित चतुर्थ मत सर्वतन्त्र स्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र का है। इस मत के अनुसार अज्ञान विषयोभूत चैतन्य ईश्वर है तथा अज्ञानाश्रयी भूत चैतन्य जीव है एवं अविद्या विषयत्वोपहित ईश्वर में तादात्म्य रूप से अनुगत स्वाज्ञानोपहित जीव ही जगत् में का उपादान कारण है।

सिद्धान्तलेश संग्रह[175] में भी इन मतों का प्रपंचन किया गया है जो ब्रह्मानन्द द्वारा प्रस्तुत विश्लेषणों से आपाततः किंचित् वैशिष्ट्य रखते हैं। विवरणानुसारी आचार्यों के अनुसार माया शवल अर्थात् माया रूप उपाधि से विशिष्ट सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्वाद्युपेत ईश्वर रूप ब्रह्म जगत् के प्रति उपादान है। संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि के अनुसार शुद्ध ब्रह्म जगत् का उपादान है। इस पक्ष का विशद विवेचन सर्वज्ञात्म सम्मत प्रतिबिम्ब आभास समन्वयात्मक अध्याय में किया जायगा वाचस्पति मिश्र का कहना है कि जीवाश्रित माया से विषयीकृत ब्रह्म ही स्वतः जाड्य का आश्रयीभूत अर्थात् जड़ प्रपंच के आकार से विवर्तत्वेन उपादान है, अतः माया की सहकारि कारणता मात्र है, कार्यानुगत द्वार-कारणता नही।

---

[173] सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद पृष्ठ ८०

[174] ब्रह्मानन्दी अद्वैतसिद्धिव्याख्या पृष्ठ ४८३ पंक्ति १३-१६ तथा सिद्धान्तबिन्दुः पृष्ठ ६८

[175] सिद्धान्तलेश संग्रहः, प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ६३ तथा ७७-८९

जगत् की कारणता के विषय में सुरेश्वर का मत

ब्रह्मानन्द के द्वारा उपन्यस्त सुरेश्वराचार्य के मत का निर्देश ऊपर किया गया। उनके ग्रन्थों की पर्यालोचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि वह आभास, अज्ञान और शुद्ध ब्रह्म स्त्रितय पर्याप्त कारणतावादी थे। यद्यपि प्रत्यक्प्रवणा दृष्टि से अविद्या तिमिरातीत, सर्वाभासविवर्जित, अमल, शुद्ध तथा मन और वाणी से अगोचर ब्रह्म[176] का कारणत्व कटाक्ष मात्र से नहीं देखा जा सकता - **कूटस्थात्मानुरोधित्वात्तावन्मात्रात्मकत्वतः । न कार्य कारणं चातः कटाक्षेणापि वीक्षते**[177] तथापि श्रुत्यादि में उपवर्णित कारणता के अनुरोध से आभास विशिष्ट अज्ञान शबल ब्रह्म की कारणता स्वीकार करनी पड़ती है –

सर्वासूपनिपत्स्येवं कारणं नान्यदात्मन श्रूयतेऽतः परात्मैव जगतः कारणं परम् ॥
अविज्ञातं परं तत्त्वं जनिमत्कारणं श्रुतौ ।
तेन तेनात्मकार्येण स्वात्माभासतमोवधिः ॥
विशिष्ट ससृजे विष्णुस्तेजीवन्नादिमायया ॥[178] ब्रह्म निष्क्रिय, निष्प्रपंच तथा निष्प्रदेश है और माया मौढ्य-मान्य-जाड्य-लक्षणा है। अतः न इन दोनों में क्रियाशीलता बन सकती है ओर न इन दोनों का योग ही बन सकेगा । फिर कारणता की उपपत्ति कैसे हो ? एतदर्थ सुरेश्वराचार्य चिदाभासरूप तृतीय तत्व की कल्पना करते हैं। यह तत्व यद्यपि चिल्लक्षणविरहित है तथापि चिद्वत् अवभासमान हो न केवल अज्ञान तथा तद्विकल्पित वस्तु-व्रात के अन्तर्गत सत्ता एवं सत्ता का ही संचार करता है अपितु चित् एवं अज्ञान को ग्रथित भी कर देता है। आभास के कारण अविद्या ग्रथित अशरीर भी परमात्मा जगत्कारणत्व का निर्वाहक हो जाता है - **अविद्या-ग्रथितः सोऽयं परमात्माऽशरीरतः ।**[179] उनका स्पष्ट कथन है कि केवल ब्रह्म और अज्ञान यही दो जगत् के कारण नहीं किन्तु (१) कूटस्थ ब्रह्म (२) प्रत्यङ् मोह तथा (३) चिदाभास ये तीनों कारण हैं - **कूटस्थ दृष्टितन्मोही दृष्ट्याभासश्च तत्त्रयम् ॥ कारणं जगतः साक्षी नियन्तेति च भण्यते ॥**[180] चिदाभास और अज्ञान यह दोनों मिलकर जगत् के उपादान कारण हैं और ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण होते हुए भी आभास विशिष्ट अज्ञान से समन्वित होकर जगत् का उपादान कारण हो जाता है - **अस्यदवैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् ॥ अज्ञानं समुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥ तथा एवं संसरतस्तावत्परं ब्रह्म परायणम् ॥**

---

[176] पंचीकरणवार्तिक, वार्तिक ६१

[177] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्- अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक१३२१ तथा अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ६२५ और १७८८

[178] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय २, ब्राह्मण १ वार्तिक ३९५ बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक१५-१६

[179] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १५६९

[180] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ३ ब्राह्मण ४ वार्तिक ८६

जगतश्चाप्युपादानं स्वात्मा विद्यासमन्वयात् ॥[181] कहने का आशय यह है कि चिदाभासाक्रान्त अज्ञान के समुपाश्रयण से ब्रह्म जगत् का परम कारण माना जाता है। यद्यपि बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक में ऐसे वार्तिक - **'चित्तत्त्वं सदविद्यावत्कारणत्वं निगच्छति । चित्सामान्याद्यत: सिद्धं प्रागप्येतत्समीरितम्' ॥**[182] भी उपलब्ध होते हैं जो अविद्यावत् चित्तत्त्व की कारणता का निर्देश करते हैं किन्तु ऐसे वार्तिकों का यह आशय नही निकाला जा सकता कि सुरेश्वराचार्य को अज्ञान और ब्रह्म इन दोनों की ही कारणता अभीष्ट है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर उनकी वह मौलिकता व्याहत हो जायगी जो अविद्या को चिदाभास सदैव बताती है। अविद्या, आभास और ब्रह्म स्त्रितय पर्याप्त कारणता सुरेश्वर सम्मत है - इस तथ्य की पुष्टि निम्नोद्धृत कतिपय वार्तिकों से भी की जा सकती है |

चिदाभासं स्वमज्ञानं संनिपत्य तदक्षरम् ।
कारणं सत्स्वकार्येषु नियन्तृत्वं प्रपद्यते ॥[183]
प्रत्यग्ध्वान्तं चिदाभास स्वकार्यनियतात्मकम् ।
तदुपाधिर्निनयन्तैष पर प्रोक्तो न तु स्वतः ॥[184]
स्वाभासवर्त्मनेवेतत्स्वात्माऽज्ञानज भूमिषु ।
इतं बहुत्वमेकं सद्वियद्यद्वदघटादिषु ॥[185]

४.२.९. अविद्या :

अद्वैत वेदान्त के पारमार्थिक सत्य पर ब्रह्म का स्वरूप अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद इन सभी प्रस्थानों में एक है। शंकराचार्य के परमगुरु गौड़पाद से लेकर अद्यतन वर्तमान श्रुत्यन्तवेत्ताओं को भी इस संबंध में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है कि यह सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म अक्रिय[186],अकर्त्ता[187],

---

[181] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १ वार्तिक ४ वार्तिक ३७१ बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्- अध्याय ३ ब्राह्मण ९ वार्तिक १६०

[182] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय २, ब्राह्मण ५, वार्तिक ८; अध्याय १, ब्राह्मण २ वार्तिक १२८,१३० ब्राह्मण ४ वार्तिक १७, १०२ तथा

१७८८, अध्याय २, ब्राह्मण १, वार्तिक २१८, ब्राह्मण ३, वार्तिक ७; अध्याय ३ ब्राह्मण ८ वार्तिक १७८ तथा अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ३८३

[183] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ३ ब्राह्मण ९ वार्तिक ३

[184] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ३ ब्राह्मण ७ वार्तिक ४३

[185] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय १ ब्राह्मण २ वार्तिक १२७

[186] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १००० तथा ११४९

[187] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९१२

अकारक[188], अविकारी[189], अविक्रिय[190], अव्य[191], अमृत[192],अफल[193], असुप्त[194],अकर्म[195],अहेतु[196],अद्वय[197],असंग,[198] असंहत[199],आत्मकाम[200],अमात्राद्यगोचर[201], आत्मप्रत्यय-
गम्य[202],निष्क्रिय[203],निर्गुण[204],नियि[205],रिसंग[206],परमात्मा[207],प्रत्यगात्मा[208],परमात्मा[209],कूटस्थ[210],

---

[188] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक १०७; अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ४२०, ८८१, ९६४ तथा १४८९

[189] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९८४

[190] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १२३२

[191] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -- अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९४१

[192] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९४१

[193] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ४२० तथा ८८१

[194] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९३१

[195] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९३१

[196] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९३१

[197] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९३७, ११५२,११८१,१४८६ तथा १५०९

[198] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १००१ तथा १४०८

[199] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १०४ तथा ९१२

[200] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १३३६ तथा १३४४

[201] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १८६

[202] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ४२० तथा अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक ३४८

[203] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ३, ब्राह्मण ४, वार्तिक १०२, अध्याय ४ वार्तिक ३ वार्तिक ४२०,८८१,९४२ तथा १२५२

[204] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय २ ब्राह्मण ३ वार्तिक ११९ तथा अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९१२

[205] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ३४८ तथा १५५७

[206] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १०२५ तथा २०७४

[207] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक ५१६, अध्याय ३ ब्राह्मण २ वार्तिक ८९,अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ३२० तथा
अध्याय २ ब्राह्मण१ वार्तिक ३९५

[208] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक १४०० तथा १६६५ अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९४,१४५, ४०८,४१३,
४२१,९०४,९८०,११०९,११७३,११८०,११९२,१२२३,१२६० तथा १२७६।

[209] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् – १४,१२७८,४ ३ ११५१, ११८१, १५६९।

[210] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक ३७८ तथा १२३६, अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९१,९८,१८८,

३४९,३५२,३८२,३८४,३९२,४०८,४०९,४१२,४१३,४१५,५३०,५६२,७१५,८८७,१०२६,१०४५,१३२१,१४४१,१४४२,१५९८, १८४२,१६३० तथा
अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक ६३७

जिति[211], चेतन[212],चैतन्य[213],स्वयंज्योति[214],स्वयंप्रमाण[215],स्वतः सिद्ध[216] विषय विलक्षण[217],अव्यावृत्ताननुगत[218], देशान्तराद्यसंबद्ध[219], दृष्टि-मात्र स्वभाव[220], शब्दादिगुणहीन[221] तथा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त[222] स्वाभादि विशेषणों से उपलक्षित है। अतः इन्हीं विशेषणों से उपलक्ष्यमाण परमतत्व का स्वरूपोपपादन पिष्टपेषण समझ कर नहीं किया जाता। उपर्युक्त अक्रियादि स्वरूप आभास विशिष्ट अज्ञान के कारण जगत्कर्त्ता सिद्ध होता है अतः आभास पक्षानुमोदित अज्ञान के स्वरूप का निरूपण किया जाता है।

४.२.९.१. अविद्या का स्वरूप

आभास प्रस्थान प्रतिष्ठापक बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक में सुरेश्वराचार्य ने स्थान-स्थान पर अविद्या को अविचारितसंसिद्ध [223] तथा दुःस्थित सिद्ध[224] कहा है जिससे अविद्या की अनिर्वचनीयता सिद्ध

---

[211] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ११९, १२१, १२३५,१२३६, १३४०, १४९३ तथा १४९६

[212] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ११४९

[213] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ११७,२४२,३८१,४५१,११४५,१२२२,१३३० तथा १४०९

[214] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्त्तिक १४५,१८९,३८९,४४६,४५१,८८१,८८३,८८४,८८७, ८९५,९८७,९२९,९४६,९५४,९६७,९७४ तथा ९७३

[215] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक२९५ तथा ३४२; अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक८८

[216] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण३ वार्तिक११०

[217] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण३ वार्तिक९१२

[218] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक५२९,६५६, ७४५, १०७६,१२७२ तथा १४४५; अध्याय २, ब्राह्मण१ वार्तिक८८,

३६१, ३७१; ब्राह्मण३ वार्त्तिक२४०; ब्राह्मण ४ वार्तिक११०, ४११, ४७३; ब्राह्मण ५ वार्तिक३७; अध्याय ३ ब्राह्मण ४ वार्तिक२०,३८; ब्राह्मण ७

वार्तिक५५ ब्राह्मण८ वार्तिक५२; अध्याय ४ ब्राह्मण३ वार्तिक३६८, १८१५; अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक५६९, ८४६, ८४७ तथा १२९८

[219] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -- अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १०५

[220] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १०४

[221] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १०४

[222] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ११५७-५८ तथा अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक ५३०

[223] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक३३२-३३, ११७०, १३४२; अध्याय २, ब्राह्मण ३ वार्तिक२२४; अध्याय ३

ब्राह्मण ५ वार्तिक४२, ७३; अध्याय ३ ब्राह्मण ८ वार्तिक३१; अध्याय ४ ब्राह्मण ३, वार्तिक३५२, ३८२, ९२१, ११११, अध्याय ४, ब्राह्मण ४

वार्तिक३०७, ६४६ तथा ६६८।

[224] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४, ब्राह्मण २ वार्तिक९३

होती है। अविद्या या अज्ञान न तो सत् है, न असत्, न आत्मभिन्न है, न आत्मा से अभिन्न न विभाज्य है, न अविभाज्य और न समागनिर्मग उभय रूप है।[225] सुरेश्वर ने अपने ग्रंथों में अविद्या का लक्षण कई प्रकार से दिया है। एक लक्षण के अनुसार अविद्या 'अहमेवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उपलक्षित स्वरूप की असंबोधकारिणी है **-'अहमेव परं ब्रह्मेत्यस्यार्थस्याप्रबुद्धता। अविद्येति वयं ब्रूमो'।।**[226] आत्मसाक्षात्कार की प्रतिबंध-भूता होने के कारण इसे आत्मा की अनभिव्यक्ति[227] तथा ऐकात्म्य की अप्रतिपत्ति[228] रूप में भी विवेचित किया गया है। अविद्यात्व अविद्या का प्रमुख लक्षण है और इसीलिए जब हम इसकी सिद्धि के लिए प्रमाण का आश्रयण लेते हैं या इसे प्रत्यक्प्रवणा दृष्टि से देखते है, तब इसका वस्तुत्वाभाव प्रसक्त होने लगता है **-'अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम् ॥ मानाघातासहिष्णूत्वम् साधारण मिष्यते।'**[229] यद्यपि वस्तुदृष्टि से अविद्या नहीं हे पर अविद्या दृष्टि से इसका सद्भाव माना गया है। किसी से इसकी उत्पत्ति नहीं होती, अतएव यह निर्हेतुक- **निर्हेत्वविद्याक्लृप्तौ तु दोषः कश्चिन्न विद्यते**[230] **तथा अनादि है।**[231] तिमिरादि पदवाच्य होने के कारण इसे दुःखराशि की चिरन्तनी, भ्रान्ति तथा संसार वृक्ष का मूल भी बताया जाता है – **'दुःखराशेर्विचित्रस्य सेयं भ्रान्तिश्चिरंतनी मूलं संसारवृक्षस्य'**[232] 'नञ' पदपूर्विका अविद्या का अनादित्व विद्या का अभाव कारक नहीं प्रत्युत् विद्या विरोधित्व या विद्या विपरीत लक्षण से उसी प्रकार का अवस्थान है जैसे मित्र विरोधी के रूप में अमित्र की स्थिति रहती है- **'आत्मग्रहातिरेकेण तस्याः रूपं न विद्यते'। अमित्रवदविद्येति सत्येव घटते सदा ॥**[233] सारांश यह है कि अज्ञान नैयायिक सम्मत ज्ञानाभाव का रूप नहीं। 'अविद्या गमयित्वा' इत्यादि श्रुतियों का समुपाश्रयण कर अविद्या की त्रिगुणात्मिका स्वरूप का अनुपादान तथा केवल जाड्य-मोड्य-मान्द्य रूप से अविद्या का स्वरूप निरूपण **-'न च जाड्यातिरेकेण ह्यविद्या काचिदिष्यते। अविद्यां गमयित्वेति श्रुतितोऽप्यवसीयताम्'। तथा 'मोढयं जाड्यमविद्यास्यान्नित्यंबुद्धात्म वस्तुनः'।**[234] सुरेश्वराचार्य के आभास प्रस्थान की मौलिक विशेषता है। जाड्यादि स्वरूपावलम्बिनी अविद्या स्वतः न तो आत्मा का अपह्नव कर सकती है, न आत्मा के कारणत्वादि में प्रयोजक हो सकती है न सम्पूर्ण द्वैत प्रपंच की

---

[225] पंचीकरण वार्त्तिक, वार्तिक ४०-४१ पृष्ठ ३४-३५

[226] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक११५७

[227] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ३ ब्राह्मण ३ वार्तिक९५

[228] नैष्कर्म्यसिद्धिः अध्याय १, ब्राह्मण ८ पृष्ठ ९

[229] सम्बन्ध वार्त्तिक, वार्तिक१८१ तथा १७९-८०

[230] वार्तिक १५८

[231] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक ९२१-२२

[232] नैष्कर्म्यसिद्धिः, अध्याय २ वार्तिक १०३ पृष्ठ ९५

[233] तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य वार्तिक ७९ पृष्ठ ८३

[234] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय १ ब्राह्मण ४, वार्तिक २५६, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३, वार्तिक ४५७

विकल्पना में समर्थ हो सकती है और न विश्व विमोहन में प्रवृत्त हो सकती है। पर जब चिद्वत्प्रकाशमान आभास जड़ एवम् सत्ता स्फूर्ति रहित अज्ञान में व्याप्त होता है तब अज्ञान में उक्त सम्पूर्ण कार्य क्षमता आ जाती है। आभास विशिष्ट अविद्या के कारण विमुह्यमान पुमान् अविद्या के तिमिर से आच्छन्न-सा हो जाता है और अपनी वास्तविक स्थिति का बोध न कर पाने के कारण नाना दुःखों का संभाजन होता है।[235] चिदाभास से प्रोद्भासित तथा लब्ध सत्ताक[236] होने के कारण अविद्या को आभास स्वरूप[237] भी कहा गया है। अविद्या की यह आभासरूप मान्यता आभास प्रस्थान को अवान्तर प्रतिबिम्ब तथा अवच्छेद इन दोनों प्रस्थानों से पृथक् कर देती है।

४.२.९.२. अविद्या-माया-भेद- निरास

अविद्या और माया एक ही हे या पृथक्-पृथक है - इस विषय में आभास, प्रतिबिम्ब और अवच्छेदवाद के प्रवर्तक आचार्यो का मतैक्य नहीं। अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति मिश्र माया और अविद्या में भेद करते हैं तथा अविद्या को प्रतिजीव भिन्न मानते हैं –**'न वयं प्रधानवदविद्यां सर्व जीवेष्वेकामाचक्ष्महे, येनेवं उपालभमहि, कित्वियं प्रतिजीव मिद्यते ॥'**[238] इसके विपरीत प्रतिबिम्बवादी पद्मपाद अविद्या, माया,अव्याकृत,प्रकृति,अग्रहण,तम,कारण, लय,शक्ति,महासुप्ति,निद्रा,अक्षर तथा आकाश को एकार्थक मान कर अविद्या एवम् माया की एकता प्रतिपादित करते हैं **'येयं श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणेषु नामरूपं अव्याकृतं अविद्या माया-प्रकृतिः अग्रहणम् अव्यक्तं तमः कारणं लयः शक्तिः महासुप्ति निद्रा अक्षरम् आकाशम् इति च तत्र तत्र बहुधा गीयते।'**[239] पद्मपाद के समान सुरेश्वर ने भी अविद्या तथा माया में कोई अन्तर नहीं किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि माया अर्थात् अविद्या में स्वतः कोई भेद नहीं बनता - **'रवतस्त्वविद्याभेदोऽत्र मनागपि न विद्यते।'**[240] उनके ग्रन्थों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह माया का प्रयोग अविद्या के अर्थ में करते हैं। बृहदारण्यकवार्तिक में जैसे 'स्वात्ममाया'[241] के कारण ब्रह्म का स्रष्टृत्व समर्थित है उसी प्रकार स्वात्माविद्या के समन्वय से भी समर्थित है।[242]

---

[235] तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य वार्तिक, ब्रह्मवल्ली, प्रथमखंड वार्तिक ६६-१२९ पृष्ठ ८१-९२

[236] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ७४ तथा अध्याय ३ ब्राह्मण ४ वार्तिक १०५

[237] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्त्तिक ३४१; अध्याय ३, ब्राह्मण ३, वार्त्तिक ४१ तथा अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ३९२

[238] भामती, पृष्ठ २९७, पंक्ति ४-५

[239] पंचपादिका, पृष्ठ ९८

[240] तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य वार्तिक अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १२४४ तथा अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक ५९९

[241] तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य वार्तिक अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९१९, ९४४ तथा ९८१

[242] तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य वार्तिक अध्याय ३ ब्राह्मण ९ वार्तिक १६०

सुरेश्वराचार्य ने जगत्कारणत्व प्रयोजक इस तत्व के लिए केवल अविद्या[243] और अज्ञान[244] का ही प्रचुर प्रयोग नहीं किया है अपितु मोह[245], तम[246], ध्वान्त[247], सम्मोह[248], असंबोध[249], अबोध[250], अनवबोध[251] तथा माया[252], पदों का भी प्रयोग किया है।

---

[243] तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य वार्तिक अध्याय १ ब्राह्मण ३ वार्तिक१८८; ब्राह्मण ४ वार्तिक ७६, ९६,९७, १३४, ३१५, ४३६, ४८६, ७६२, ८६०,८६३, १०१०, १०५५, १०८३, ११५९, ११८२, ११८७, १२०७, १३३९, १३४२, १४१३, १५४०, १४५४, १४६९, १४९३, १५०९, १५१०, १५१९, १५८०, १७४६-७४, १७५८; ब्राह्मण ५ वार्तिक१६५ अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक१०, १९, २७२, तथा २७९; ब्राह्मण३ वार्तिक१३१; ब्राह्मण ४ वार्तिक५४, १९५-१९६, ४२०, ४६८ तथा ४७७-७८; ब्राह्मण ५, वार्तिक१ तथा ३७; अध्याय ३, ब्राह्मण २ वार्तिक२७, ९२ तथा ९४-९५; ब्राह्मण ३ वार्तिक२३, ३९ तथा ४२; ब्राह्मण ४ वार्तिक५७; ब्राह्मण ९ वार्तिक१५७; अ ०४ ब्राह्मण ३ वार्तिक१७, ११५१, ११७६, ११८०, १२९३, १३५४, १५३४-३५ तथा १८२६ ब्राह्मण ४ वार्तिक१६६, १६९, २८७, २९१, ३५०, ३५२, ५४, ३७२-७३ ३८३, ५०३, ६१५, ८५५,९१४-१९, ९५६,१०७७, १२८० तथा अध्याय ५ ब्राह्मण १ वा० २१

[244] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण३ वार्तिक५२, ५४, ९१, १००, १०५, २२९, ३१५; ब्राह्मण ४ वार्तिक३५९, ३९६, ४१९, ४३८, ५९९, ६९७, ७२१,७२८,८६२,१०१८, ११००, १२१२, १२८१, १३०७, १३५४, १४५२, १४६०, १४९७, १६८७; अध्याय २ ब्राह्मण ३ वार्तिक१९६,२१०, ब्राह्मण ४ वार्तिक१९७, २०५,२०८,२३९,३३१; अध्याय ३ ब्राह्मण२ वार्तिक१९ ब्राह्मण ३, वार्तिक३७,५८,९१-६७, १००; अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक३३९, ३६५, १११२, १३००, १५२१; ब्राह्मण ४, वार्तिक२७७, ३०१,३०२, ३२३, ३७९, ३८८, ७६५, ७७७, ८४१, ८५५, ९२२, ९२३, ९४२, ११७२, १२८१,१२८३,१३२०, १३२४, तथा अध्याय ५, ब्राह्मण १ वार्तिक २२।

[245] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -- अध्याय १ ब्राह्मण३ वा ५९,१०२; ब्राह्मण ४ वा ३१२, ३१४, , ८१७ ,८१९,८२१,१०९९, १३२९, १४४८, १४५५ अध्याय २,ब्राह्मण १ वार्तिक३८०,५२१; ब्राह्मण३, वार्तिक२३५; ब्राह्मण ४ वार्तिक२५, ४४१, ४४९; अध्याय ३ ब्राह्मण ४, वार्तिक१२९, १८१; ब्राह्मण ५ वार्तिक४८, ७७,१८७; ब्राह्मण ८ वार्तिक४८, ब्राह्मण ९ ; वार्तिक१६२, अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक१२७२, १३०७, १४३,१५३५,१८२३; ब्राह्मण ४ वार्तिक२९५, ३००,३०७, ३२३, ५९९, ७४४ तथा ८४१

[246] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ३ वार्तिक ८७,१८३; ब्राह्मण ४ वार्तिक ७५,७६१,८६५,११४२, १२६०,६१,१३०६,१३२९,१३४२,१३५६,१४१०,१४१६,१४९५,१५०६;अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक२७२,५२२; ब्राह्मण ४ वार्तिक१०१,१५१,९९७,२०९,२३१,२३८,२५७,४३६-३७, ४४४; ब्राह्मण ५, वार्तिक १; अध्याय ३ ब्राह्मण ३ वार्तिक४०, ७३, ९४; ब्राह्मण ४, वार्त्तिक३३, ४८,४९; अध्याय ४, ब्राह्मण २ वार्तिक९७ ब्राह्मण ३ वार्तिक१८२,१२८३,१३९९,१५२३,१७३३; ब्राह्मण ४ वार्तिक१७७-८७,५५२,५९९,६८७,७५४,९५३ तथा १२००

[247] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक ३१४, ८६६,११६२,१२७७,१४१३,१४३०,१४५१,१७४५ ; अध्याय २ ब्राह्मण ३ वार्तिक१५७; ब्राह्मण ५ वार्तिक२, ६३; अध्याय ३ ब्राह्मण ७, वार्तिक३९; ब्राह्मण ८, वार्तिक८०; अध्याय ४, ब्राह्मण २, वार्तिक८९; अध्याय ३, वार्तिक ३९२, १०७८; ब्राह्मण ४ वार्तिक ५५२

[248] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक ७६५; ब्राह्मण ६ वार्तिक२; अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १८२३ तथा ब्राह्मण ४

वार्तिक ७८३

[249] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक१३९६ तथा १३९९

[250] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय ३, ब्राह्मण ४३ तथा अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक९५१

[251] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -अध्याय ३ ब्राह्मण ४ वार्तिक१,नैष्कर्म्य सिद्धि- अध्याय १ पृष्ठ ३,४ तथा ५०

[252] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय २ ब्राह्मण ५ वार्तिक१२७

४.२.९.३. अविद्या द्वैविध्य प्रतिपादक मतद्वय

सुरेश्वराचार्य के बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक की पर्यालोचना ने तत्सामयिक उन द्विविध प्रस्थानों का अवगम होता है जिसमें क्रमशः अग्रहण, मिथ्याग्रहण तथा नैसर्गिकी आगन्तुकी के भेद से अविद्या का द्वैविध्य अंगीकृत है। कहने का अभिप्राय यह है कि कुछ वेदान्तियों ने पहले में प्रचलित अग्रहण तथा मिथ्याग्रहण- इन दो शब्दों को अविद्या के दो भेद के रूप में मान लिया है[253] और कुछ यूथ्यों ने अविद्या का नैसर्गिकी और आगन्तुकी दो भेद स्वीकार किया है ।[254]

४.२.९.३.१. प्रथम मत का खंडन

अग्रहण तथा मिथ्याग्रहण के भेद से अविद्या द्वैविध्य वाला मत मंडन-सम्मत माना जाता है ।[255] यद्यपि सुरेश्वर ने अविद्या के दो कार्यों के रूप में इनका खंडन नहीं किया है तथा नामान्तर से इन्हें संशय ज्ञान और मिथ्या ज्ञान कहा है-**'अज्ञानं संशयज्ञानं मिथ्याज्ञानमिति त्रिक्रम् । अज्ञानं कारण तत्र कार्यत्वं परिशिष्टयोः ।'**[256] तथापि अविद्या के द्वैविध्य के रूप में इनका अंगीकार नहीं करते। अग्रहण और मिथ्याग्रहण अज्ञान के कार्य है अतः इन्हें अज्ञान से पृथक् मानना उपयुक्त नहीं । अविद्या का आश्रय और विषय एक अर्थात् प्रत्यगात्मा है तथा अग्रहण एवं मिथ्याग्रहण के रूप में अवभासित अनात्म-वस्तु व्रात का कारण प्रत्यगज्ञानातिरिक्त कोई नहीं, अतः अविद्या का एकत्व ही सिद्ध होता है, द्वैविध्य दुर्घट है ।[257]

४.२.९.३.२. द्वितीय मत तथा खंडन

नैसर्गिकी तथा आगन्तुकी के भेद मे अविद्या द्वैविध्य मानने वाले आचार्य कौन है ? यह यद्यपि नहीं ज्ञात होता तथापि इस मत का प्रपंचन सुरेश्वराचार्य ने अपने वात्तिकों - **नैसग्यर्गिन्तुकी चेति ह्यविद्या द्विविधा स्मृता ।**[258] में इस प्रकार किया है-'अविद्या नैसर्गिकी और आगन्तुकी इन दो भेदों वाली है। आगन्तुकी अविद्या विषय में तथा नैसर्गिकी अविद्या आत्मा में रहती है । इनमें से जो आगन्तुकी अविद्या है, वह वाक्य श्रवणकालोत्पन्न सकृत्-ज्ञान-निवर्त्य है पर नैसर्गिकी अविद्या वाक्यश्रवण

---

[253] आनन्दगिरि टीका-बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् ,अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक१९९

[254] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक८८१

[255] Lights on Vedanta, p. 96, Is. 20-23.

[256] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक१३६८

[257] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक१६६-२०१

[258] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्- अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक४८१-८९१

समकालोपन्न ज्ञान से व्यस्त अर्थात् अभिभूत होकर भी विद्यमान रहती है, क्योंकि तत्काल हमें आविद्यक रागादि का प्रत्यक्ष होता रहता है। इस नैसर्गिक अज्ञान की निवृत्ति विद्याभ्यासोत्पन्न ब्रह्म साक्षात्कार से सम्भव है। प्रस्तुत अविद्या द्वैविध्यवाद का रहस्य यह है कि एक अविद्या तत्वमस्यादि वाक्यों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान से निवृत्त होती है पर दूसरी अविद्या इस ज्ञान से अभिभूत होती है, निवृत्त नहीं। इसकी निवृत्ति के लिये 'प्रज्ञां कुर्यात' श्रुति के द्वारा निर्दिष्ट ज्ञानाभ्यास अपेक्षित है।

खंडन-

इस मत का खंडन करते हुए आचार्य सुरेश्वर का कहना है - **'यदाऽसाधारणाऽविद्या प्रत्यगात्मेक गोचरा ॥ अज्ञानाद्यात्मिका सिद्धा द्वैविध्यं स्यात्तदा कुतः ॥**[259] कि जब हम अज्ञान, संशयज्ञान और मिथ्याज्ञानात्मिका अविद्या को प्रत्यङ्मावस्था मानते हैं तब प्रत्यक् के अद्वय और निर्विशेष होने के कारण अविद्या में भी भेद की संभावना नहीं की जा सकती, अत: भ्रान्त्यादि की निदान अविद्या एक ही हैं। अविद्या को नैसर्गिक (स्वाभाविक) **स्वाभाविषयग्यविज्ञेयमनुभूत्यावभासिता। तम: सूर्योदयेनेव ज्ञानेनोत्कृत्य नाश्यते ॥**[260] माना जा सकता है, पर आगन्तुक नहीं क्योंकि आगन्तुक मानने पर अनिर्मोक्षप्रसक्ति होगी - **'आगन्तु चेदिहाज्ञानमनिर्मोक्षं प्रसज्यते'।**[261] अविद्या द्वैविध्यवादियों का यह तर्क नहीं माना जा सकता कि ज्ञान में आगन्तुकी अविद्या की निवृत्ति होती है, नैसर्गिकी अविद्या की नहीं, क्योंकि तत्वमस्यादि वाक्यों से सर्वज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान की प्रसूति होते ही सम्पूर्ण अज्ञान को अपनुत्ति तथा ज्ञेय कार्य की समाप्ति हो जाती है – **"तत्त्वमस्यादि वाक्येभ्य: सर्वज्ञानप्रसूतित:। सर्वाज्ञानापनुत्तेश्चधियकार्य समाप्तित: ॥"**[262] जब सकृदुत्पन्न ज्ञान से अशेष फल की प्राप्ति हो जाती है फिर साक्षात्कारार्थ विज्ञान के अभ्यास का प्रश्न ही नहीं उठता।

४.२.९.४. अविद्या का आश्रय तथा विषय

अविद्या के स्वरूपादि के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो चुका है कि अविद्या पारमार्थिक सत्य न होने पर भी व्यवहारतः अनादि तथा व्यावहारिक प्रपंच की बीज है। संसार के समस्त पदार्थ आश्रय-विषय सापेक्ष होते हैं, अतः यह एक स्वाभाविक प्रश्न है कि अविद्या का आश्रय और विषय क्या है ? अवच्छेद-प्रस्थान प्रतिष्ठापक वाचस्पति मिश्र के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव और विषय ईश्वर

---

[259] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक८९२

[260] सम्बन्ध वार्त्तिक, वार्तिक१०८८

[261] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक३६

[262] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक९१२

है[263] वाचस्पति के विदृश्य आचार्य सुरेश्वर ने अविद्या का आश्रय तथा विषय एक माना है। अविद्या की आश्रयता का निरूपण करते हुए उनका कहना है कि यह चिदाभास विशिष्ट अविद्या इतनी दृष्ट है कि जिस प्रमाण वस्तु के आभास की अपेक्षा से अपना स्वरूप सिद्ध करते है[264] उसी प्रमाण वस्तु का अनादर कर स्वयं परमात्मकल्प ही बनी रहती है –

'अहो घाप्ट्रयमविद्याया न कश्चिदतिवर्तते।

प्रमाणवस्त्वनादृत्य परमातेव तिष्ठति' ।।[265]

अविद्या का यह परमात्मकल्प अवस्थान कहीं अन्यन्न नहीं प्रत्युत् परमात्मा में होता है तथा प्रत्यक् चैतन्य में इसकी स्थिति तब तक सिद्ध रहती है, जब तक सम्यक्ज्ञान नहीं उत्पन्न होता **'प्रत्यक्चिदाभाविद्याऽतो द्व्यविचाविचारितसिद्धिका ॥ सिद्धायते प्रतीचीर्यप्राक्सम्यग्ज्ञानजन्मनः' ।।** [266] उनके ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्राप्त प्रत्यङ् मोह,[267] प्रत्यग्ध्वान्त,[268] तथा प्रत्यगज्ञान,[269] प्रत्यङ विद्या,[270] प्रत्यक्तम,[271] स्वमोह,[272] स्वात्माविद्या,[273] आत्माविद्या[274] आदि के प्रचुर प्रयोग से भी यह सुव्यक्त हो जाता है कि वह आसाधारण अज्ञान को आचार्य वाचस्पति के समान जड़ अन्तःकरणाश्रित नहीं, प्रत्युत् प्रत्यक् चैतन्याश्रित मानते हैं - **'असाधारणमज्ञानं प्रतीच्येवं यतः स्थितम्'।**[275] अज्ञान का विषय क्या है ? इसके उत्तर में उन्होंने 'आत्म विषयम्' - **'कि विषयं पुनस्तदात्मनोऽज्ञानम् आत्म विषयमिति ब्रूमः ।'**[276] कह कर

---

[263] भामती, पृष्ठ ८० तथा सिद्धान्तबिन्दुः पृष्ठ २९

[264] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक७४

[265] नैष्कर्म्यसिद्धिः अध्याय ३, कारिका १११ पृष्ठ १७०

[266] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक२१११

[267] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ४, वार्तिक ५०४; अध्याय २, ब्राह्मण ३ वार्तिक २३५; ब्राह्मण ४, वार्तिक ११३, अध्याय , ब्राह्मण ४, वार्तिक११२, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ३५६, ४१७ तथा ९०९

[268] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय २, ब्राह्मण ५ वार्तिक२ तथा अध्याय ३ ब्राह्मण ७ वार्तिक४३

[269] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ३ वार्तिक३१५-१६; ब्राह्मण ४ वार्तिक६९, १५०, १९९,५, ६०५, ६७१ अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक१९३, २०१; अ ०३ ब्राह्मण ३, वार्तिक १००; ब्राह्मण ५ वार्तिक११४; अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ८६,८८,३४६ ब्राह्मण ४, वार्तिक६९१, ७७५ तथा ८४०

[270] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक२४७

[271] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय २ ब्राह्मण ४ वार्तिक२५७

[272] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक१,३५२, ३७९

[273] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ३ ब्राह्मण ९ वार्तिक१६०; अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक८९, ३८३ तथा १२२१

[274] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ३ वार्तिक१८८; ब्राह्मण ४, वार्तिक१०५५; अध्याय ४ ०३ ब्राह्मण ३ वार्तिक३२८ ,३४८,३९८,१२१६ तथा १२९६

[275] वही, अध्याय १ ब्राह्मण ४, वार्तिक१७९

[276] नैष्कर्म्यसिद्धि अध्याय ३ पृष्ठ १०६

अज्ञान की आत्म विषयता की पुष्टि की है। यद्यपि सुरेश्वराचार्य ने अविद्या को जड़ बताया है,[277] तथापि इसके प्रत्यक् चैतन्याश्रित होने में कोई विरोध नहीं क्योंकि नित्यचिदाभास- अन्वित अविद्या को उन्होंने कूटस्थाभासरूप - **'मोहतत्कार्यनीडो यत्कूटस्थाभासरूपकम्।'**[278] माना है। कूटस्थाभासरुप होने के कारण वह प्रत्यक चैतन्याश्रित - **'मोहतत्कार्यनीडो यस्तस्याज्ञान समन्वयात्| प्रत्यगात्माऽपि तद्ब्रह्म परोक्षमभवन्मृषा॥'**[279] हो जायगी न्याय की पारिभाषिक शब्दावली में अज्ञान की ब्रह्माश्रयता स्वानुयोगिकाभासप्रतियोगित्वरुपा होगी।

४.२.९.५. ब्रह्म तथा अविद्या का सम्बन्ध

ब्रह्म तथा अविद्या के सम्बन्ध का स्वरूप क्या है ? इस विषय में अद्वैत वेदान्त के प्रस्थान त्रय प्रतिष्ठापक आचार्यों में विप्रतिपत्ति है। प्रतिबिम्बवादी आचार्य पद्मपाद और प्रकाशात्मन् के अनुसार अविद्या तथा ब्रह्म का सम्बन्ध आश्रयाश्रयी तथा विषयविषयी दोनों रूपों में है। अवच्छेद प्रस्थान के प्रतिष्ठापक वाचस्पति जीव तथा अविद्या का संबंध आश्रयाश्रय्यात्मक तथा ईश्वर एवं अविद्या का सम्बन्ध विषयविषय्यात्मक मानते हैं। प्रतिबिम्बवादियों के समान आभासवादी आचार्य सुरेश्वर ने भी अविद्या और ब्रह्म का आश्रिताश्रय एवं विषयीविषय दोनों सम्बन्ध माना है।[280] यह सम्बन्ध एक प्रकार से अनादि एवं नैसर्गिक है क्योंकि अविद्या विद्याविरोधी रूप से आत्मा को सदैव अपना आश्रय एवं विषय बनाये रहती है - **'अमित्रवदविद्येति सत्येवं घटते सदा।'**[281] अविद्या आत्मा की सर्वशक्यसर्जनात्मिकता शक्ति है[282] अतः आत्मा अविद्या से सदैव सम्बन्धित रहता है। इस नैसर्गिक सम्बन्ध के विपरीत सुरेश्वराचार्य ने अपने आभास प्रस्थान में एक अन्य प्रकार का भी सम्बन्ध माना है, जो अविद्या की आभासरूपता के अनुरूप है। आभास के द्वारा यह कूटस्थ आत्मा से सम्बन्धित होती है अतएव आत्मा से इसका संबंध भी आभासात्मक हो जाता है। इस आभासात्मक सम्बन्ध के द्योतनार्थ उन्होंने आत्मा और आत्माज्ञान का सम्बन्ध 'आत्मात्मवत्वरूप'[283] बताया है। यह सम्बन्ध अविद्या तथा आत्मा के आध्यासिक तादात्म्य का स्पष्टीकरण है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि आत्मा से अविद्या का सम्बन्ध अविद्या प्रकल्पित - **'योऽपथविद्यादि सम्बन्धः सोऽप्यविद्याप्रकल्पितः'। 'प्रत्यगोत्मन्यविद्येति त्वविद्यापरिकल्पना'।**[284] **अविद्योत्संगसंस्थ - 'अन्यवः संगतिः**

---

[277] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक२५६ तथा अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक४५७

[278] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्--अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक३७४

[279] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय २, ब्राह्मण ४ वार्तिक४३४

[280] Lights on Vedanta, Page 105.

[281] तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् ब्रह्मवली, वार्तिक७९, पृष्ठ ८३

[282] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ८ वार्त्तिक३ वार्तिक१७८४८

[283] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक३८१ तथा १०८०

[284] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक८५ अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक२७२

सेयमविचारितसिद्धिका । अविज्ञात चिदुत्संग संस्थैवेयं न वस्तुनि' ॥[285] है तथा अविचारित संसिद्ध है ।[286] स्वतः या परतः किसी भी प्रकार यह प्रत्यगात्मा में नहीं रह सकती । अतः आत्मा की अविद्या इस प्रसिद्धि के कारण ही अविद्या को आत्मसंबंधित कहा जाता है -

आत्माविद्या प्रसिद्ध येव ह्यविद्याऽप्यात्मनो यतः ।
न स्वतः परतौ वाऽतो वस्तुतः प्रत्यगात्मनि ॥[287]

ससंग, विकारी एवं अनात्म अविद्या का निःसंग, कूटस्थ तथा पूर्ण चित्तत्व से वास्तविक योग असंभव है[288] अतः जैसे घृत पिंड प्रदीप्त वह्नि का आलिंगन निराकृत रूप से करता है, उसी प्रकार अविद्या भी प्रत्याख्यात रूप में ही एकल प्रत्यगात्मा का आलिंगन करती है । **प्रत्याख्याताऽऽत्मनैवेयं प्रत्यगात्मानमेकलम् । अविद्याऽऽलिंगते वह्निं इवोल्पणम् ॥**[289] अविद्या का यह नैसर्गिक अर्थात् अनादि तथा आविद्यक द्विविध प्रकार का सम्बन्ध निरूपण तथा चित्तत्त्व को असंगता का प्रतिपादन सुरेश्वराचार्य के उन द्विविध वृत्तों का परिणाम है, जिनको वह तमोवृत्त तथा वस्तुवृत्त कहते हैं । तमोवृत्त या मोहदृष्टि से आत्मा की अविज्ञातता या तमस्विता बनी रहती है ।[290] पर वस्तु वृत्त या प्रत्यगदृष्टि से अविद्यात्म-सम्बन्ध की कल्पना भ्रम मात्र है तथा व्योम में नीलता का आरोप करना है ।[291] अविद्या का ब्रह्म ने सम्बन्ध आभास रूप होता है इसलिए यह सम्बन्ध स्वानुयोगिकाभास प्रतियोगित्व रुप होगा ।

४.२.१० आभास और ब्रह्म का सम्बन्ध

आभास के नामान्तर के परिगणन करते समय यह प्रतिपादित किया गया है हि सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थों में आभास के लिए चिदाभास, चैतन्याभास तथा स्वात्माभासादि अनेक पदों का प्रयोग किया है । अतः एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि चित् का आभास से क्या सम्बन्ध है ? पारमार्थिक या वस्तु वृत्त से सर्वभागविवर्जित, असंहत, अपास्तसमस्तसंसर्ग, एकल, कूटस्थ, चैतन्य का आभास से कोई सम्बन्ध न हो, यह ठीक है, किन्तु व्यवहार भूमि में दोनों के सम्बन्ध का अपलाप असंभव है। इस व्यावहारिकी दृष्टि से आभास प्रस्थान में आभास और ब्रह्म का वही सम्बन्ध माना जाता है, जो प्रतिबिम्ब प्रस्थान में प्रतिबिम्ब और बिम्ब का है । कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे प्रतिबिम्ब और विश्व में जन्यजनकत्व सम्बन्ध है, उसी प्रकार चिदाभास और चित् में भी जन्यजनक सम्बन्ध होगा ।

---

[285] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक१३२३

[286] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक२१७, १३२३ तथा अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक १९८१

[287] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ११०९

[288] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १, ब्राह्मण २, वार्तिक ३०५, अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ७६, ११७७ तथा ११७९

[289] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ११८०

[290] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक ६३

[291] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक३४० ६८४ तथा १३३२

इतना होते हुए भी प्रतिबिम्ब प्रस्थान सम्मत तथा आभास प्रस्थानानुमोदित जन्यजनकत्व सम्बन्ध में एक सूक्ष्म अन्तर है। प्रतिबिम्ब मतानुयायियों के अनुसार प्रतिबिम्ब बिम्बाभिन्न है, पर आभास मत के अनुसार के आभास चिद्भिन्न और अनिर्वचनीय है। अतः प्रतिबिम्ब पक्ष में जन्यजनकभाव सम्बन्ध अभेदात्मक होगा पर आभासवाद में आभास और चित् का जन्यजनकत्व सम्बन्ध स्वप्रतियोगित्व रूप होगा।

४.२.११ आभास और अज्ञान का सम्बन्ध

सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिकों में बहुशः कहा है - **'अपि प्रत्यक्तमो नित्यं भास्वच्चैतन्यबिम्बितम् ॥'**[292] कि अज्ञान सदा स्वात्माभास संश्लिष्ट रहती है। उनके एतादृश कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अज्ञान और आभास इन दोनों का अनादि संबंध है तथा इस अनादि सम्बन्ध के कारण वे बीजांकुरवत् अनादि हैं। अत: इस प्रसंग में आभास और अज्ञान का निरूपण आवश्यक है। आभास तथा अज्ञान का सर्वप्रथम एवं मुख्य सम्बन्ध आश्रिताश्रयत्वरूप है आभास अज्ञान में सदैव स्थित रहता है, इसलिए वह अज्ञान का आश्रित होगा तथा अज्ञान उसका आश्रय होगा। अज्ञान तथा आभास का अन्यतम सम्बन्ध पारस्परिक जन्यजनकत्व है। सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन आभास अज्ञान का जनक है और अज्ञान आभास का आश्रयत्वेन जनक है। इस आश्रयत्व रूप जन्य-जनकभाव को न्याय की पारिभाषिक शब्दावली में चित्प्रतियोगिकाभासानुयोगित्व रूप कहा जा सकता है। इस अन्योन्य जन्य-जनक-भाव-सम्बन्ध में भी यह अन्तर है कि आभास अज्ञान का उपादानत्वेन जनक हे और अज्ञान आभास का निमित्तत्वेन जनक है। आभास का उपादेयत्वेन जन्य मानने के कारण ही आभासवादी आचार्य सुरेश्वर ने अनेक वार्तिकों[293] में अज्ञान को आभास रूप माना है। कार्य स्वभावतः उपादानात्मक होता है, अतः अज्ञान को आभास मानने में कोई विरोध नहीं है।

४.२.१२ अज्ञान और आभास का अन्तर

सुरेश्वर के ग्रन्थों के आमूलतः परिशीलन से यद्यपि यह सुनिश्चित हो जाता है कि आभास और अज्ञान दोनों तत्त्व पूर्णतः काल्पनिक, अनात्म अविचारितसंसिद्ध एवं तत्त्वज्ञानापनोद्य होने के कारण समान सत्ता है, फिर भी इनके कथित स्वरूपादि के विश्लेषण से कुछ अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अज्ञान स्वरूपतः

---

[292] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक८३४; अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ९९ तथा ३५५

[293] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ४, वार्तिक३४१, ३७४; अध्याय ३, ब्राह्मण ३ वार्तिक४१; वार्तिक४३; ब्राह्मण ९, वार्तिक३ तथा अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वा ३९२

जड़, निष्क्रिय तथा मान्द्यादि रूप है इसके विपरीत आभास आत्मवत् सत्ता स्फूतिप्रद तथा अवभासक है। अज्ञान के कारण प्रपंच जाड्य, स्थौल्य तथा नानात्वादि गुणों से युक्त होता है पर आभास के कारण जड़ प्रपंच भी सत्ता एवं स्फूर्ति आदि से संचालित हो आत्मवत् प्रोद्भासित होने लगता है । जगत् को कारणता की दृष्टि से आभास वर्त्म है और अज्ञान भूमि है ।[294] अविद्या का कार्य जन-जीवन को सर्वदा निज-तिमिर में मग्न किये रहना है, पर आभास का कार्य उसे प्रकाशित करना है।

४.२.१३ ब्रह्म के भूयोभवन में दृष्टान्त तथा आभास की अपेक्षा

कारणता के प्रसंग में यह स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है कि सुरेश्वराचार्य केवल ब्रह्म और अविद्या इन दोनों को ही जगत् का कारण नहीं मानते प्रत्युत् आभास को भी जगत् के कारणता में एक अनिवार्य तत्त्व मानते है। आभास और अज्ञान इन दोनों के सानिध्य से ब्रह्म का बहुभवन होता है। ब्रह्म के भूयोभवन के स्पष्टीकरणार्थ आभासवादी आचार्य सुरेश्वर ने जलचन्द्र[295] रज्जुसर्प[296], आकाश[297], कुम्भमणि[298], ऊर्णनाभी[299], अग्निविस्फुलिंग[300], अलात्[301] मायी[302] प्रभृति दृष्टान्तों को उपन्यस्त किया है। इन सब दृष्टान्तों का आशय यह है कि जैसे तत् जलपात्रों में एक आभासित चन्द्रमा ही बहुधा प्रतीत होता है अथवा अज्ञान के कारण एक ही रज्जु सर्प-मालादि नाना रूपों में विकल्पित होती है, या कुम्भादि उपाधियों में संश्रित अनन्त आकाश का बहुत्व देखा जाता है, अथवा एक ही कुम्भ नील-लोहितादि मणियों के सम्पर्क से तत्तद्रूपवान प्रतीत होता है या सचेतन ऊर्णनाभि अचेतन जाल से बहुत्व प्राप्त करती है, अथवा अग्नि से अग्निस्वभावक बहु विस्फुलिंग हो जाते है, या निश्चल एक रूप अलात् का वैश्वरूप संलक्षित होता है अथवा मायावी का मायावेश वश बहुत्व संभव हो जाता है, उसी प्रकार, अज, अव्यय, एक, सत्, अरूप, अनवयव परब्रह्म भी स्वानासवर्त्म की अपेक्षा से अज्ञान और अज्ञानज वस्तुओं में स्थित सा हो ईश्वरादि रूप में बहुभावापन्न प्रतीत होता है

---

[294] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण २ वार्तिक१२६

[295] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक१४२ तथा नैष्कर्म्यसिद्धिः अध्याय २, कारिका ४७, पृष्ठ ७४

[296] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ३ वार्तिक६५,३१४; ब्राह्मण ४, वार्तिक६७५ तथा अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक१७८

[297] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण २, वार्तिक१२७; अध्याय २, ब्राह्मण ३, वार्तिक ५ अध्याय ३, ब्राह्मण ५ वार्तिक ४३-४४; अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक१२६ तथा तैत्तिरीयोपनिषद्भाव्यवार्तिकवार्तिक४८ पृष्ठ ७६

[298] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्--अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक१४१

[299] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक३८३ तथा ३९१

[300] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय २ ब्राह्मण १, वार्तिक३९३

[301] तैत्तिरीयोपनिषद्भाव्यवार्तिक- वार्तिक७२, पृष्ठ १२३

[302] तैत्तिरीयोपनिषद्भाव्यवार्तिक-वार्त्तिक७३-७४ पृष्ठ १२३

'स्वाभासफलकारूढस्तदज्ञानज भूमिषु ॥
तत्स्थोऽपि तद संबद्ध ईश्वराद्यात्मतां गतः ॥'
'अपास्ताविद्यातज्जत्वाद्यस्थूलाद्युक्तिगोचर: तथा स्वाभासवर्त्मनेवेतत्स्वात्माज्ञानजभूमिषु ॥ इतं बहुत्वमेकं सद्वियद्यद्वदृष्टादिषु ॥' [303] इन प्रचुर दृष्टान्तों के माध्यम से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरादि कल्पित बहुत्वों से परमात्मा के एकत्व या अद्वयत्त्व पर कोई प्रभाव नहीं होता। जैसे एक ही रज्जु वस्तु में स्वतः रज्जुत्त्व और अज्ञानतः बहुत्त्व दोनों संभव है उसी प्रकार प्रत्यगात्मा में भी स्वतः एकत्त्व और स्वमोहाभासवर्त्म के द्वारा बहुत्त्व संभव हो सकता है - **रज्जुत्वाहित्वयोर्यद्वदेकस्मिन्नपि वस्तुनि।**

स्वतस्तन्मोहतश्चैवं संभवस्तद्वदात्मनि ॥[304] इन आध्यासि दृष्टान्तों के द्वारा सुरेश्वराचार्य ने यह भी स्पष्ट कहा है कि आभास और अविद्या के कारण संभाव्यमान अनवयव आत्मा का यह भूयोभवनभाक्त है, वास्तविक नहीं – **'न ह्वयवस्यास्य बहुत्व युज्यतेऽज्जसा। तस्मासाक्तं बहुत्वं स्याद्वयोम्नोयवद्वदघटादिभिः ॥**[305] भूयोभवन के भाक्त या अवास्तविक होने के कारण आत्मातिरिक्त प्रतीयमान वस्तु आभास होगे[306]।

४.२.१४ आभास पदार्थों की विविधरूपता

सुरेश्वर के बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक मे चिद्व्यतिरिक्त ईशादिविषयान्त जगत् की आभासरूपता समर्थित है[307] तथा चेतन और अचेतन के रूप में आभास का द्वैविध्य अंगीकृत है[308] चेतनाभास (कारणाभास) एवं अचेतनाभास (कार्याभास) में ईश्वरादि से लेकर सम्पूर्ण विषयों का अन्तर्भाव हो जाता है। अतः आभासवाद सम्मत आभास के इन विविध रूपों का स्वरूप क्रमशः निरूपित किया जाता है।

---

[303] तैत्तिरीयोपनिषद्भाव्यवार्त्तिक, अध्याय १ ब्राह्मण ३ वार्तिक ५३ तैत्तिरीयोपनिषद्भाव्यवार्तिक- अध्याय १, ब्राह्मण २, वार्तिक१२७

[304] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ३ ब्राह्मण ५, वार्तिक ३६

[305] तैत्तिरीयोपनिषद्भाव्यवार्तिकवार्तिक ७४, पृष्ठ १२३

[306] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय २, ब्राह्मण ३, वार्तिक१९१

[307] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक३८२ तथा अध्याय २, ब्राह्मण ३ वार्तिक १९१

[308] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय २, ब्राह्मण ४ वार्तिक ४१४

४.२.१४.१. ईश्वर –

कारणाभास के प्रसंग में यह उल्लिखित किया गया है कि अविद्यागत चिदाभास को सुरेश्वराचार्य सम्मत ईश्वर कहा जा सकता है। यद्यपि उनके ग्रन्थों में ईश्वरादि रूपों की काल्पनिक निरूपित है, तथापि ईश्वर के स्वरूप वर्णन में निम्न विविध शब्दावली प्राप्त होती है

(१) स्वात्माभावविशिष्ट -- अविद्योपाधिक अर्थात् अविद्योपहित चैतन्य ईश्वर है –

(२) 'तेन तेनात्मकार्याणां स्वात्माभास तमोवधिः ।
विशिष्टः ससृजे विष्णुस्तेजीवनादिमायया'॥
'बुद्धि तत्कारणोपाधी क्षेत्रज्ञेश्वरसंज्ञकौ'
'अविद्यामात्रोपाध्येतद्ब्रह्म कारणमुच्यते' । [309]

(२) अज्ञान भूमिगत स्वाभास फलक समारूढ़ शुद्ध चैतन्य अर्थात् अज्ञानोपहित अज्ञान-तादात्म्यापन्न अज्ञानगत स्वाभास से अविविक्त अस्थूलाद्युक्ति गोचर चैतन्य ईश्वर है - **'आभासानतिरिक्तं चैतन्यं तत्त्वं पदवाच्यम्'।**[310] स्पष्ट शब्दों में अज्ञानभूमि निविष्ट चिदाभास से अपृथक् प्रतीयमान प्रत्यक् चैतन्य ईश्वर है । इस लक्षण में ईश्वर का वाच्यार्थ आभासानतिरिक्त चित् होगा - **'स्वाभासफलकारूढ़स्तदज्ञानजभूमिषु तत्स्थोऽपि तदसंबद्धः ईश्वराद्यात्मतां गतः'। अपास्ताविद्यातज्जत्वाद्यस्थूलायुक्तिगोचरः । स्वाभासाविद्योपाधिः सन्सादयन्तर्यामितां ब्रजेत् ॥**[311]

(३) उपर्युक्त ईश्वर के स्वरूप उनके वार्त्तिकों में प्राप्त भले होते हैं, पर ये उनके आभास प्रस्थान के पूर्णत: अनुकूल नहीं। सुरेश्वर प्रतिष्ठापित आभास प्रस्थान के अनुसार ईश्वरादि समस्त प्रपंच आभास हैं। अतः ईश्वर का वाच्यार्थ आभास होना चाहिए। आभासानतिरिक्त चित् नहीं इस दृष्टिकोण से अविद्यागत चिदाभास को सुरेश्वर ने ईश्वर कहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि अज्ञान से तादात्म्यापन्न अज्ञानोपहित आत्मा का स्वाविधिवत अज्ञान रूप उपाधि के अन्तर्गत जो आभास है, वही ईश्वर है - **'ईश्वरादि विषयान्तम् प्रत्यग्वस्त्वविकल्पितम्' । 'ईशादिविषयान्तं यत्तदविद्याविजृम्भितम् ।'**

---

[309] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ४, वार्तिक १६ अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक६१४ तथा अध्याय २, ब्राह्मण ३ वार्तिक ७

[310] पुरुषोत्तमकृत सिद्धान्त बिन्दु व्याख्या, पृष्ठ २८, गेयकवाड, ओरियण्टल सीरीज

[311] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण ३, वार्तिक५३ अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक१५१ तथा अध्याय ३ ब्राह्मण ९ वार्तिक ३ सिद्धान्तबिन्दुः पृष्ठ २८

'तदेत्कल्पितं सर्व सहेतुफलवज्जगत"॥[312] प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय लक्षण में यह अन्तर है कि प्रथम और द्वितीय लक्षण में ईश्वर बोधक तत्पद का वाच्यार्थ आभासा विविक्त चित् तथा लक्ष्यार्थ शुद्ध चित् है, पर तृतीय पक्ष में उपयुक्त तत्पद का वाच्यार्थ आभास है और लक्ष्यार्थ शुद्ध चित्। इसी अन्तर के फलस्वरूप प्रथम-द्वितीय लक्षण में तत्त्वम्पदार्थशोधन के लिए जहदजहल्लक्षणा का आश्रय लिया जाता है और तीसरे लक्षण में जहल्लक्षणा का। यद्यपि सुरेश्वर ने बिना किसी आग्रह के ईश्वर विषयक त्रिविध लक्षण दिया है, तथापि परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों में से अधिक ऐसे हैं जो अपने ग्रन्थों में सुरेश्वर-सम्मत ईश्वर का लक्षण अविद्यागत चिदाभासरूप से उपन्यस्त करते हैं।[313] केवल मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु में आभास परक ईश्वर लक्षणोल्लेख करने मे पश्चात् वैकल्पिक अभासाविविक्त चिद्रूप पक्ष का भी निर्देश किया है।[314]

अद्वैत वेदान्त को पारिभाषिक शब्दावली में उपयुक्त वर्णित ईश्वर के त्रिविध लक्षण इस प्रकार हैं:[315] -
(१) चिदाभासविशिष्टाऽविद्यासंबलित ईश्वरः।
(२) अज्ञानोपहिताऽज्ञानतादात्म्यापन्ना तद्गतस्वाभासाऽविविक्ता चिदीश्वरः।
(३) अज्ञानोपहितात्मनोऽज्ञानतादात्म्यापन्नस्य आत्माऽविविक्ताज्ञानोपाध्यन्तर्गताभास ईश्वरः

४.२.१४.२.साक्षी अन्तर्यामी

अद्वैत वेदान्त के आचार्यों का साक्षि स्वरूप के विषय में मतभेद है:
वेदान्त कौमुदीकार का मतः - है[316] कि 'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः' इत्यादि देवत्त्व प्रतिपादक श्रुति से ज्ञात होता है कि ईश्वर का कोई स्वरूप विशेष साक्षि है। यह जीव की प्रवृत्ति और निवृत्ति का अनुमन्ता तथा स्वयं उदासीन है। ईश्वर का स्वरूप विशेष होने पर भी वह कारणत्त्व आदि धर्मों के न रहने से अपरोक्ष है और जीवगत अज्ञानादि के अवभासक होने के कारण जीव का अत्यन्त अन्तरंग भी है। सुषुप्त्यादि में अन्तःकरण तथा तद् वृत्तियों के उपरम होने पर जीवगत अज्ञानमात्र की व्यंजक

[312] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् – अध्याय १, ब्राह्मण ३ वार्तिक६१ , अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक३८२ , अध्याय २, ब्राह्मण ५ वार्तिक११३३ सिद्धान्तबिन्दुः पृष्ठ २६-२७ ब्रह्मानन्दी अद्वैतसिद्धिव्याख्या पृष्ठ ४८३ पंक्ति १४-१५

[313] सर्वज्ञात्ममुनिः संक्षेपशारीरकम् अध्याय १, श्लोक १६९ तथा पंचप्रक्रिया शब्दशक्ति, विवेक प्रकरण पृष्ठ३; मधुसूदन सरस्वतीः सिद्धान्तबिन्दुः पृष्ठ२७-२८; ब्रह्मानन्दः लघु चन्द्रिका अद्वैतसिद्धि व्याख्या पृष्ठ ४८३ पंक्ति १४-१५ सदानन्द यतिः अद्वैत ब्रह्म सिद्धिः, चतुर्थ मुदुर प्रहारः पृष्ठ २०३

[314] सिद्धान्तबिन्दुः पृष्ठ २८

[315] Lights on Vedanta, page 114

[316] सिद्धान्तलेशसंग्रहः, पृष्ठ १८४-८६

होने के कारण साक्षि को प्राज्ञ भी कहा जाता है। एक ही ईश्वर नियम्य माया तथा तत्कार्य के नियन्तृत्त्व की अपेक्षा से नियन्ता तथा साक्ष्य अर्थ के साक्षित्त्व से साक्षि हो जाता है -

नियम्यं कार्यसापेक्ष्य नियन्तेय तमोवधि।

तेष्वेव चित्स्वभावः सन्साक्षितां प्रतिपद्यते ॥ [317] स्पष्ट शब्दों में साक्षि अन्तर्यामी एवं ईश्वर इन तीनों में कोई अन्तर नहीं है केवल कार्य की दृष्टि एक ही ईश्वर के पृथक्-पृथक् नामों का व्यपदेश होता है। फलतः जो ईश्वर का लक्षण होगा, वही साक्षि और अन्तर्यामी का भी होगा। अतः पृथक्-पृथक् लक्षण प्रस्तुत करना समीचीन नहीं। स्वलेख की पुष्टि के लिए एक-दो उद्धरण पर्याप्त होंगे -

चिदाभासं स्वमज्ञानं संनिपत्य तदक्षरम् ।
कारणं सत्स्वकार्येषु नियन्तृत्वं प्रपद्यते ।।[318]
कूटस्थ दृष्टितन्मोही दृष्ट्याभासश्च तत्त्रयम् ||
कारणं जगतः साक्षी नियन्तेति च भण्यते ॥[319]
द्रष्टेद्रष्टामित्यन्न यः साक्षि प्रागुदाहृतः।
अन्तर्यामीति सोऽत्रापि नातो न्योऽ स्तोतिभण्यते ॥[320]

४.२.१४.३. जीव

ईश्वर-स्वरूप बोधक त्रिविध लक्षणों के समान सुरेश्वर के ग्रन्थों में जीव का भी त्रिविध लक्षण प्राप्त होता है।

(१) बुद्धि उपहित चित् अर्थात् चिदाभास विशिष्ट व्यष्टिपुधयुपहित चित् जीव है - **'बुद्धितत्कारणोपाधी क्षेत्रज्ञेश्वरसंज्ञकौ।' तथा 'तदेव ज्ञातृतामेति बुद्धयुपाधि समाश्रयात्'।**[321]
(२) चिदाभास विशिष्ट अज्ञान से उत्पन्न बुद्धि में व्याप्त चिदाभास अर्थात् बुद्धयुपहित बुद्धितादात्म्यापन्न बुद्धिगत
स्वाभास से अविविक्त चित्त जीव है - **स्वाभासवदविद्योत्यबुद्धयदिव्यापृविभ्रमात् । तदात्मत्वाभिमानित्वाद्विज्ञानमयतात्मनः ॥ बुद्धयुपाध्यविविक्तश्च विज्ञानमय उच्यते। तमः**

[317] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १ ब्राह्मण वार्तिक ३४५
[318] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ३, ब्राह्मण ९ वार्तिक ३
[319] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ३, ब्राह्मण ४, वार्तिक ९०
[320] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ३, ब्राह्मण ७ वार्तिक ५३
[321] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक ६१६ बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय २, ब्राह्मण ३, वार्तिक७

सत्वरजोयोगादयाति क्षेत्रज्ञतामज:॥ तथा परमात्मा ग्रहीताऽत्र स्वाभासाभिन्न विग्रहः ॥[322] निष्कृष्ट रूप में बुद्धिगत स्वाभास से अपृथक प्रतीयमान चैतन्य जीव है। उपर्युक्त दोनों लक्षणों में 'त्वं' पदाभिद्य जीव का वाच्यार्थ आभास न होकर आभासानतिरिक्त चित् होता है।

(३) यद्यपि यह दोनों लक्षण सुरेश्वर के ग्रन्थों में सुलभ है पर इन लक्षणों के अतिरिक्त ईश्वर के समान जीव का भी आभासात्मक लक्षण प्राप्त होता है। इस लक्षण के अनुसार अविद्या के कार्यभूत बुद्धि में परमात्मा का आभास जीव है – '**अविद्याकार्य बुद्धिस्य प्रत्यगाभासरूपवत् बोद्धेत्यादि समुत्थानं भण्यते परमात्मनः ॥ तथा 'स्वाभासैर्वहुताभेति मनोबुद्धयाधुपाधिभिः'॥**[323]

अर्थात् बुद्धितादात्म्यापन्न बुद्ध्युपहित आत्मा का स्वविविक्त बुद्धिरूप उपाधि के अन्तर्गत आभास जीव है। इन लक्षण की अभिसंधि एतावनमात्र है कि बुद्धिगत चिदाभास जीव है। तीनों लक्षणों के अन्तर के विषय में अनावश्यक विस्तार न कर केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि प्रथम एवं द्वितीय लक्षण में तत्वमस्यादि वाक्यों के अखंडार्थ बोध के लिए जहदजहल्लक्षणा का आश्रय लिया जाता है पर तृतीय लक्षण में जहल्लक्षणा का। जीव का तृतीय लक्षण आभासवादी आचार्य सुरेश्वर के नाम से जितना प्रख्यात है, उतना प्रथम द्वितीय लक्षण नहीं।[324]

वेदान्त की पारिभाषिक-शब्दावली में जीव के त्रिविध लक्षणों का इस प्रकार है[325]

(१) चिदाभासविशिष्टव्यष्टि बुद्ध्युपहितो जीवः।
(२) बुद्ध्युपहिता बुद्धिगतस्वाभासाऽविविक्ता बुद्धितादात्म्यापन्ना चित जीवः।
(३) बुद्धयुपहितात्मनो बुद्धितादात्म्यापन्नस्य आत्माऽविविक्त बुद्धपाद्यन्तर्गतांभासो जीवः।

४.२.१४.३.१ जीवैक्यवाद तथा कल्पित नाना जीववाद

सुरेश्वर सम्मत आभास प्रस्थान के अनुसार जीव प्रत्यगात्मा का आभास है। चिदाभास वस्तुतः एक है अतः स्वरुपत: जीव एक ही होगा। परन्तु यदि जीव एक हो तो प्रत्येक शरीरों में सुख-दुःख की

---

[322] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् - अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक ३८७, अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक २१०, अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक१५२ अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक२२७

[323] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय २ ब्राह्मण ४ वार्तिक४२७ अध्याय २ ब्राह्मण ४ वार्तिक ४२५

[324] संक्षेपशारीरकम् अध्याय १,१६९; पंचप्रक्रिया, पृष्ठ१३; सिदान्तबिन्दु: पृष्ठ २७-२८ ब्रह्मानन्दी पृष्ठ ४८३ पंक्ति १४-१५ तथा अद्वैतब्रह्मसिद्धि: चतुर्थ सुद्गर
प्रहार: पृष्ठ २०३

[325] Lights on Vedanta, page 144

प्रतीतिवैचित्र्य के साथ कैसे संभव हो सकेगी। इस प्रश्न के समाधान में उनका कहना है कि चिदाभास नानाविध अन्त: करणप्रवृत्तियों में आश्रित होता है तब भेदाभावापन्न होना जीवरुपता को प्राप्त होता है।[326] कहने का तात्पर्य यह है कि एक जीववाद मानने से भी अनेक घीवृत्तिविषयोन्मुख एक ही चिदाभास होना (जीव) का काल्पनिक अनेकत्व युक्तिसंगत है।[327] और इस काल्पनिक नानत्व से सुख-दुःख की वैचित्र्यात्मक प्रतीति संभव हो जायगी। चिदाभास की अविवेक भ्रान्ति के कार्यकारण रहित चैतन्य को भी संसारी समझ लिया जाता है[328] तथा काल्पनिक चिदाभासों से उसमें जीव नानात्व का आरोप किया जाता है।[329] सुरेश्वर प्रतिष्ठापित आभास प्रस्थान में अद्वय, ब्रह्म न तो स्वतः जीव माना जा सकता है और न बन्ध मोक्ष का अधिकारी क्योंकि उसमें संसारित्व उसी प्रकार क्लृप्त है जैसे नभस्तल में नीलिमा - **आत्मा संसारितां यातोयया काण्र्य वियत्तया।**[330]**,** अतः इन चिदाभास जीवों के वर्त्म से उसका बन्ध मोक्षाधिकारित्व संभव होता है।[331]

(४) परमात्मा और जीवात्मा का अवस्थानुसार भेद- मूलाज्ञान - **मृत्युर्वे तम इत्येवमाप एवेदमित्यपि। अविद्या**

प्रथते मौली व्यक्ताव्यक्तात्मनाऽनिशम्॥ तथा

न भेदो न च संसर्गो नाप्यभावोऽवसीयते॥

तन्मूलाज्ञान विध्वस्तेर्यथोक्ताग महानतः॥ [332] अर्थात् समष्टि अज्ञान रूप उपाधि में निर्विष्ट कारण-चिदाभास रूप परमात्मा (ईश्वर) और अज्ञान कार्यभूत अन्तःकरण-रूप उपाधि में आहित चिदाभास रूप जीव सुषुप्ति, स्वप्न एवं जाग्रत इन तीन अवस्थाओं में विभिन्न नामों से व्यपदिष्ट होते हैं। सुरेश्वराचार्य के ग्रन्थों के आधार पर उनको त्रिविध रूपता का निरूपण किया जा रहा है।

---

[326] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् —अध्याय २ ब्राह्मण ४ वार्तिक ४२५ तथा २७

[327] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ११७४

[328] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ४०६

[329] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय २ ब्राह्मण ४ वार्तिक ४२५

[330] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय २, ब्राह्मण ४ वार्तिक ४३६

[331] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ३७३

[332] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १, ब्राह्मण३, वार्तिक१३६ बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ५ वार्तिक३ वार्तिक२२

४.२.१५ परमात्मा की त्रिविध -रूपता

४.२.१५.१. ईश्वर –

सुषुप्ति अवस्था के अभिमानी परमात्मा को ईश्वर कहा जाता है । पंचीकरण वार्तिक **'आसीदेकं परं ब्रह्म नित्यमुक्तम विक्रियम् । तत्त्वमायासमावेशाद् बीजमव्याकृतात्मकम्'**[333] के अनुसार अविक्रिय, नित्यमुक्त ब्रह्म का स्वमाया समावेश युक्त रूप ईश्वर है । सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, अव्याकृत, जगद्बीज ईश्वर सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है । **सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सर्वात्मा सर्वगो ध्रुवः । जगज्जनि स्थितिध्वंस हेतुरेष सदेश्वरः ॥** [334] इसे कारण शरीराभिमानी भी कहा जाता है। सम्पूर्ण प्रपंच का उपरम स्थानीय होने के कारण इसको सुषुप्त स्थान कहते हैं जैसे सुषुप्त स्थान स्वप्न स्थान का कारण होता है, उसी प्रकार यह सुषुप्त स्थानीय ईश्वर स्वप्नादि स्थानों के अभिमानी हिरण्यगर्भादि का कारण है। स्पष्ट शब्दों में ईश्वर अपंचीकृत तथा पंचीकृत रूप से उत्पद्यमान सम्पूर्ण जगत् का बीज है।

४.२.१५.२. सूत्रात्मा

स्वप्न स्थान के अभिमानी परमात्मा से सूत्रात्मा कहा जाता है । बुद्धि तथा क्रियाशक्ति के प्राधान्य से इसे हिरण्यगर्भ और प्राण भी कहते हैं। प्रत्यगाभासवती मायामय अपंचीकृत आकाशादि पंचभूतों से उत्पन्न समष्टि बुद्धि से उपहित परमात्मा का नाम हिरण्यगर्भ है **'हिरण्यगर्भत्वं बुद्धयुपाधिः स एव तु' ॥**[335] पर यही (परमात्मा) जब प्रत्यगाभासवती समष्टि प्राणोपाधि से उपहित होता है तब उसे सूत्रात्मा कहते हैं ।[336] कहने का आशय यह है कि बुद्धि की संपिण्डित उपाधि से युक्त चेतन को हिरण्यगर्भ तथा प्राण की संपिण्डित उपाधि से युक्त चेतन को सूत्रात्मा अथवा प्राण की संज्ञा दी जाती है। इस सूत्रात्मा का एक नाम विरिंच[337] भी कहा है । एक अन्य वार्तिक **ज्ञानकर्मादि तन्त्रं सत्सूत्रम् जज्ञे ततो विभोः । ज्ञानक्रियाशक्तिमद्यद्यवेदं जगदाहितम् ॥**[338] (जिसमे ईश्वर के द्वारा सूत्र की उत्पत्ति का निर्देश है) से यह ज्ञात होता है कि अपंचीकृत पंचमहाभूत तथा तत्कार्यात्मक लिंग सूत्र (सूत्रात्मा) है, पर जब तक यह अपंचीकृत पंचमहाभूतो की संपिण्डित क्रिया शक्ति से युक्त रहता है तब तक 'प्राण' पद वाच्य होता है पर जब अर्थनीकृत महाभूतों की संपिण्डित ज्ञान शक्ति से युक्त होता है तब इसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है। प्राण को समष्टि क्रियाशक्तिमान् तथा हिरण्यगर्भ को समष्टि ज्ञान

---

[333] पंचपादिका, वार्तिक२, पृष्ठ ११

[334] पंचपादिका अध्याय १ ब्राह्मण ४, वार्तिक३७६ तथा अध्याय ३ ब्राह्मण ७ वार्तिक४४

[335] पंचपादिका अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक१५२

[336] पंचपादिका अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक१५२

[337] पंचपादिका अध्याय १ ब्राह्मण ३ वार्तिक२६२ तथा ब्राह्मण ४ वार्तिक२०

[338] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -- अध्याय १,ब्राह्मण ४,वार्तिक १८

शक्तिमान् कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि प्राण में बुद्धि का और हिरण्यगर्भ मे क्रियाशक्ति का पूर्णतः अभाव रहता है । वस्तुतः सुत्रात्मा क्रियाप्रधानज्ञानोपसर्जनशक्तियुक्त होता है और हिरण्यगर्भ ज्ञान प्रधान क्रिया उपसर्जनशक्ति संचलित होता है। अपंचीकृतभूतारख्यक्रियाशक्ति प्रधानज्ञानोपसर्जनक चैतन्यरूप सूत्रात्मा समस्त व्यष्टि प्राणो का कारण है अतः इसे सुरेश्वराचार्य ने कर्तृस्थभावक कहा है । **पर्याम्भोवत्सूत्ररुपं क्रियाविज्ञानशक्तिमत् । कर्तृस्थभावकम् स्यास्तु चलं कर्मस्थभावकम् ॥** [339] अपंचीकृतभूताख्य ज्ञानशक्ति प्रधान क्रियोपसर्जनशक्ति हिरण्यगर्भ पंचीकृत भूतज समस्त व्यष्टि बुद्धियों का कारण है, अतएव इसे जगत् के बुद्धिजात् का उपादान कहा गया है । **बुद्धयात्मनोमिनिर्वृत्तिर्व्यवसायात्मनस्ततः ॥ हिरण्यगर्भ यं प्राहुरुपादानं जगद्धियाम् ॥**[340] अनादि होने के कारण सूत्रात्मा स्थास्तु है पर वस्तुतः औपाधिक होने के कारण चल तथा कार्यरुप है और आद्यन्तवान होने के कारण कर्मस्थ भावक है ।[341] ब्रह्मादि से लेकर भूतादि सप्त लोक तथा सम्पूर्ण भूत इस सूत्रात्मा के द्वारा अक्षवत् ग्रथित और विधृत है । कहने का अभिप्राय यह है कि सूत्रात्मा ब्रह्मादिभूत पर्यन्त में सूत्रवत् अभिनिविष्ट रहता है तथा ब्रह्मादि का विचारक तत्त्व है इसीलिए इसका नाम सूत्रात्मा हे सर्व सत्त्वों में समाश्रित रहने के कारण इसे अत्यन्त सूक्ष्म तथा पृथिव्यादि का विष्टम्भक कहा गया है ।[342] सूक्ष्म अपंचीकृत भूतों से सम्बन्धित आत्मा का यह हिरण्यगर्भादिरूप सूक्ष्मशरीराभिमानी एवं ईश्वर का स्वप्न स्थानीय है ।

४.२.१५.३. विराट्

जाग्रत् अवस्था का अभिमानी परमात्मा विराट् है । परिष्कृत शब्दावली में पंचीकृत भूत पंचकारब्ध समष्टि- उपाध्युपहित परमात्मा को विराट् कहा जाता है ।[343] सूत्रादि का हेतु मायावी आत्मा ही पृथिव्यादि भूतप्रपंचक वाले देशादि विभागों से युक्त स्थूलप्रपंचात्मक स्थान को प्राप्त कर 'विराट' पद वाच्य होता है । **'वैराजं स्थानमासाद्यंक्ष्मादि देशविभागवान् ॥ देवताकरणो देव एष एवोच्यते विराट्"॥** [344] सुरेश्वर के शब्दों में यह विराट् त्रैलोक्यात्मदेहवान् **'विराडपि ततो जातस्त्रैलोक्यात्मक देहवान्'।**[345] तथा स्थूल जगत् का वह में 'प्रथम शरीरी' है **'सर्वे शरीरी प्रथमः सर्वे पुरुष उच्यते ॥**

---

[339] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -- अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक ५०९

[340] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -- अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक ५१०

[341] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक ५०९

[342] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ३, ब्राह्मण ६ वार्तिक ४-१५

[343] पंचीकरण वार्तिक, वार्तिक ७, पृष्ठ १४

[344] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ५११

[345] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक १९

आदि कर्त्ता स भूतानां ब्रह्माऽग्रे समवर्तत'।[346] जिसकी उत्पत्ति व्यष्टिभूत स्थूलपिंड की सृष्टि के पूर्व होती है। जैसे हिरण्यगर्भ को व्यष्टिबुद्धियों का उपादान माना गया है, उसी प्रकार यह समस्त भूतों अर्थात् व्यष्टि शरीरों का कारण है।[347] 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' (छान्दग्योपनिषद् ५।१८।२) आदि श्रुतियों तथा यस्याग्निवास्यं द्यौमूर्धा खं नाभिश्चरणो क्षितिः। सूर्यश्चक्षुदिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः॥' आदि स्मृति से भी विराट् की त्रैलोक्यात्मकता तथा इन्द्रादि देवताओं की तदुपादानमात्रता सिद्ध होती है। **तस्य च मंत्रवर्णो वह्ग्निर्मूर्धेति दृश्यते। तदुपादानमात्राः स्युर्देवतः स्वाभिमानजाः**[348]**।**

४.२.१६ त्रिविधावस्था तथा जीवात्मा का त्रिविध भेद

जैसे समष्टिफलक पर परमात्मा के ईश्वर, हिरण्यगर्भ एवं विराट् यह त्रिविध भेद प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार व्यष्टिफलक पर सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्था के कारण जीवात्मा के भी त्रिविध भेद होते हैं---

४.२.१६.१ सुषुप्ति अवस्था तथा प्राज्ञ –

जाग्रत तथा स्वप्नावस्था के स्थूलात्मक एवं वासनात्मक भोगों को भोगने के कारण भ्रान्त प्राणि-जगत का चिदाभास विशिष्ट अविद्या में विश्रामार्थ अवस्थान सुषुप्ति है।[349] पंचीकरणवार्तिक के अनुसार **'ज्ञाननामुपसंहारो बुद्धे : कारणता स्थितिः। वट बीजे वटस्येव सुषुप्तिरभिधीयते'॥** [350] सुषुप्ति वह अवस्था है | ज्ञान चैतन्य (cognitive Consciousness) के अतिरिक्त स्थूल-सूक्ष्मार्थ विषयक जाग्रत् एवं स्वप्नावस्था सम्बन्धित सभी प्रकार के ज्ञानों से वर्जित केवल अविद्या रहती है तथा जीवान्तःकरण अपने सूक्ष्म एवं कारण रूप में अविद्यात्मना उसी प्रकार अवस्थित रहता है जैसे सूक्ष्म बीजात्मना विशाल वटवृक्ष। कतिपय वार्तिकों[351] में सुरेश्वराचार्य ने सुषुप्ति अवस्था में निःशेष द्वैत हेतुभूता अविद्या का अभाव बताया है, किन्तु इन वार्तिकों का यह आशय निकालना भ्रान्त होगा कि सुषुप्ति में मोहाभाव रहता है। नैष्कर्म्य सिद्धि-**'सर्वानर्थ बीजस्यात्मानवबोधस्य सुषुप्ते संभवात्। यदि हि सुषुप्ते अज्ञानं न भविष्यदन्तरेणापि वेदान्त वाक्य श्रवण मनन-निदिध्यासनान्येहं**

---

[346] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक २१

[347] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक २१

[348] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ५१२

[349] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ११७१-७२

[350] पंचीकरणवार्तिक वार्तिक ४२, पृष्ठ३८

[351] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक १३०६-७, १५१२ तथा १५२०

ब्रह्मास्मोत्यध्यवसाया सर्वणाभृतामपि स्वरसत एव सुषुप्तप्रतिपत्ते सकलसंसारोच्छित्ति प्रसंग: ।[352] में उनका स्पष्ट कथन है कि सकल अनर्थो का कारण आत्मानवबोध सुषुप्ति अवस्था में भी बना रहता है और यदि सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान की स्थिति न मानी जाय, तो वेदान्त वाक्यों के श्रवण-मनन निदिध्यासन के बिना भी 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अध्यवसाय होने से प्राणियों की सुषुप्ति से मुक्ति का कोई अन्तर नहीं होगा तथा सुषुप्ति के स्वरसतः प्राप्त होने से सकल संसार के उच्छेद का प्रसंग होगा। अतः इस अनिष्ट के परिहारार्थ सुषुप्ति में अज्ञान की सत्ता अनिवार्य है। यदि सुषुप्ति अवस्था में भेद हेतुक अज्ञान बना है तो द्वैत का मान क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सुरेश्वराचार्य का कथन है कि सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान का अभिव्यंजक उपाधिभूत अन्तःकरण अविद्या में ही प्रविलीन रहता है। इसीलिए अभिव्यंजक के अभाव में अनभिव्यक्त अज्ञान, ग्राह्य, ग्रहण, ग्राहक तथा भावाभाव प्रयुक्त भेदज्ञान का कारण नहीं बन सकता।

सुषुप्ति में अनभिव्यक्त रहने के कारण ही सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान का प्रध्वंस या अभाव कह दिया जाता है, वस्तुतः अभाव द्योतनार्थ नहीं। जैसे कतक के सम्पर्क से जल अत्यन्त निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार संसृति की अशेष भावनाओं के अपास्त हो जाने के कारण जीवात्मा को सुषुप्ति में अत्यधिक प्रसन्नता होती है। इसी लिए इस सुषुप्ति अवस्था का एक द्युतिप्रोक्त नाम 'संप्रसाद' भी है ।[353] सुषुप्तिकाल में विज्ञानात्मा प्राज्ञ (इस अवस्था का अभिमानी जीव) परात्मा से संपरिष्वक्त होने के कारण आनन्दमय रहता है क्योंकि भेद के कारणभूत अभिव्यक्त अज्ञान के न रहने से भेदज्ञान नहीं होता । - **विज्ञानात्मा परिष्वक्तं प्राज्ञ नैव परात्मना । भेदकारण विध्वस्तौ भेदधीर्विनिवर्तते ॥** [354] सुषुप्ति के बाद होने वाली 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रत्यभिज्ञा से भी सुषुप्ति की संप्रसाद स्थानीयता समर्पित होती है। इस अवस्था में जीवात्मा का अद्वयभाव रहता है, अतः उसे माता-पिता आदि के सम्बन्धों का भान नहीं होता। - **परं रूपं समापन्नः कर्माविद्या निमित्तकम्। पितृमात्रादि संबंधं सुषुप्ते सोऽति वर्तते।**[355] कहने की अभिसंधि यह है कि सुषुप्ति अवस्था में समस्त शेष एवं शेषियों के तिरोभूत **शेषशेषितिरोभावे सुषुप्तिरिह भण्यते।** [356] रहने के कारण क्रिया-कारकादि एवं तद्भेदों की प्रतीति नहीं होती। सुषुप्ति अवस्था में केवल अज्ञान उपाधि है अतएव इसे जाग्रत तथा स्वप्नावस्था का बीज कहा जाता है । **केवलाज्ञानमात्राधिरिह प्रत्यङ व्यवस्थितः ॥ कारणात्मा यतस्तस्माज्जाग्रतस्वप्नाख्य कार्यकृत् ॥** [357] वेदान्त की संज्ञा में सुषुप्ति और कारण शरीर (अज्ञान

---

[352] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ३, पृष्ठ १४०

[353] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९७५-७८

[354] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक १३२३

[355] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक १३६९

[356] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय २, ब्राह्मण १ वार्तिक ३१८

[357] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्- अध्याय ४ ब्राह्मण३ वार्तिक९७९ , : नैष्कर्म्यसिद्धिः, अध्याय ४ का० ४०-४३ पृष्ठ १९२-

) इन दोनों के अभिमानी जीव को 'प्राज्ञ' कहा जाता है[358] और सुषुप्ति को अव्याकृतावस्था कही जाती है।

सुषुप्तोत्थित पुरुष के 'सुखमहमस्वाप्स' न किंचिदवेदिपम्' इस ज्ञान के स्वरूप के विषय में विवरण प्रस्थान तथा आभास प्रस्थान में मतभेद है।

विवरणकार[359] ने 'अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निन्द्रा' इस योगसूत्र का अभ्युपगम करके सुषुप्ति को तमोगुणात्मिका तथा आवरणमात्रालम्बना वृत्तिरूप माना है जिससे यह स्पष्ट होता है कि वह तामसी वृत्ति को सुषुप्ति मानते हैं। इस अवस्था में उनके मतानुसार यद्यपि जाग्रत एवं स्वप्न संबंधी भोग्य पदार्थों के ज्ञान का अभाव रहता है फिर भी अज्ञानाकार, सुखाकार और साक्ष्याकार ये विविध वृत्तियाँ रहती हैं। इन वृत्तियों के सद्भाव रहने के कारण सुषुप्तोत्थ पुरुष के 'न किंचिदवेदिसम्' इस परामर्श को विवरणकार प्रतिष्ठानित प्रतिबिम्ब प्रस्थान में सुषुप्ति कालिक भोग्य निर्विकल्पक अनुभव के संस्कार से उत्पन्न स्मरण माना गया है। संक्षेप में सौषुप्त ज्ञान एक प्रकार का संस्कारोत्पन्न स्मरण है।

सुरेश्वराचार्य के ग्रन्थों के परिशीलन से यह अवगत होता है कि समस्त द्वैत प्रपंचरूप कार्य अन्तःकरणादि उपाधियों के लय से विशिष्ट केवल अज्ञान सुषुप्ति अवस्था है। सुषुप्ति अवस्था में कोई वृत्ति नहीं मानीं जा सकती क्योंकि इस अवस्था में जीव की चिदाभासविशिष्ट इन्द्रियवृत्तियां तथा अन्तःकरणादि सभी अपने कारण अर्थात् आभासाविद्या में लीन रहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में अज्ञानाभिव्यंजक अन्तःकरणादि भूत उपाधियों के न रहने से सुषुप्त व्युत्थित के प्रथम क्षणात्मक ज्ञान को स्मरण नहीं माना जा सकता । **न सुषुप्तगविज्ञानं नाज्ञासिषमिति स्मृतिः ॥ कालाद्यव्यवधानत्वान्न ह्यात्मस्थमतीतभाक् ॥**[360] सुरेश्वर के आभास प्रस्थान के अनुसार यह सुषुप्तिसमाप्तिसमकालानुभूयमान ज्ञान विकल्प है। **न भूतकालस्युक्प्रत्यङ् न चाऽऽगामिस्पृगीक्ष्यते ॥ स्वार्थदेशः परार्थोऽर्थो विकल्पस्तेन स स्मृतः ॥** [361] सुषुप्त ज्ञानबोधक इस विकल्प पद का अर्थ आचार्यों ने भिन्न भिन्न किया है। ब्रह्मानन्द ने मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि में उद्धृत प्रासंगक वार्तिक में अन्तर्भूत विकल्प पद का अर्थ 'सविकल्पक' अनुभव[362] किया है । आनन्दगिरि ने शब्दज्ञानानुपाती वस्तु शून्योविकल्पः इस योग-सूत्र का आश्रय लेते हुए विवाद का अर्थ किया है यह शब्दानुपाती ज्ञान जिसका निश्चय करते समय वस्तु-स्वरूप की अपेक्षा नहीं की जाती है। **'सर्वोऽपि जडो रज्जवां भुजंगवद्जडैवर्तते अतः स शब्दज्ञानानुपाती वस्तु शून्यो वृद्धैरिष्टस्तत्र कुतोऽद्वैत**

---

९३ तथा माण्डूक्य कारिका प्रकरण, कारिका १३-१५ पृष्ठ ४८-५०

[358] पंचीकरणवार्तिक ४२-४३ पृष्ठ ४०

[359] अद्वैतसिद्धिः, प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ५५८-५९

[360] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४ वा ३००

[361] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ४, वार्तिक३०१

[362] ब्रह्मानन्दी अद्वैतसिद्धिव्याख्या , पृष्ठ ५५८-५९, पृष्ठ २-१८

हानिरित्यर्थः'।।[363] यदि विकल्प का यह अर्थ माना जाय तो न किचिदवेदिपम् इस सुषुप्तग विज्ञान का स्वरूप होगा वह स्वरूपबोधनार्थक शाब्दज्ञान जो वस्तुतः विषय का संवादी नहीं विकल्प का जो कुछ भी अर्थ हो पर इतना निश्चित है कि सुरेश्वर के आभास्थान में सौषुप्त ज्ञान स्मृति रूप नहीं प्रत्युत् धारावाहिक अनुभव या विकल्प रूप है।[364] सुषुप्तिकालिक ज्ञान के लिए विकल्प पद का प्रयोग उनके आभासपरक विचारधारा का परिचायक है । 'ईश्वरादिविकल्पानां प्रत्यग्वस्त्वविकल्पितम्' (बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक ३८२) इस वार्तिक में विकल्प तथा अविकल्प पदों को क्रमशः आभास तथा प्रत्यग्वस्तु के लिए प्रयुक्त किया गया है, अतः यह कहा जा सकता है कि सुषुप्तग विज्ञान की आभासरूपता के स्पष्टीकरण के लिए ही सुरेश्वराचार्य ने विकल्प पद का अभ्युपगम किया है।

४.२.१६.२ स्वप्नावस्था तथा तैजस

जब जाग्रत्काल के विविध प्रकार के भोग जनक कर्मों का प्रहाण हो जाता है और स्वप्नकालिक भोगों का उत्पन्न करने वाले कर्मों का उदय हो जाता है, तब जीवात्मा जाग्रत अवस्था से स्वप्नावस्था में संचार करता हुआ स्थूलदेह की सचेष्टता से रहित हो स्वप्नमाया अर्थात् स्वप्नावस्था का अनुभव करता है । **'जाग्रत्फल प्रयोगस्य यदा कर्म प्रहीयते । व्युत्थानहेत्वसद्भावात्तदा कर्ता सुषुप्सति' ।। 'जाग्रत्कर्मक्षयादात्मा बाह्यदेहाभिमानतः । व्युत्थाय स्वप्रधानः सत्स्वप्नमायां समीक्षते । अद्वैतब्रह्मसिद्धिः चतुर्थमुद्गर प्रहारः'**[365] इस स्वप्न अवस्था में इन्द्रियाँ स्वाधिष्ठित देवताओं के अनुग्रह के अभाव में लीन रहती हैं और अन्तःकरण जाग्रत्कालिक वासना-वासित अन्तःकरण के माध्यम से स्वाप्न पदार्थों का उपलम्भ कराता है। स्पष्ट शब्दों में जाग्रत्कालिक विषयानुभवजन्य संस्कार से समुद्बोधित आभास विशिष्ट अन्तःकरण का चक्षुरादि इन्द्रियों के उपरत होने पर भी ग्राह्य और ग्राहक अर्थात् प्रमेय और प्रमाता दोनों रूपों में जाग्रत्काल के समान आभासन स्वप्न है । **'करणोपरमे जाग्रत्संस्कारोत्थम् प्रबोधवन् ॥३७॥ ग्राहक रूपेणस्फुरणं स्वप्न मुच्यते ॥३७-३८॥**[366] इस अवस्था में जीव जाग्रत्काल के समान स्थूलदेहामिमानी न रह कर सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन से सम्बन्धित रहता है। और वासनावासित मन के द्वारा कल्पित विषयों का भोक्ता बनता है। स्वप्नावस्था में जीव को

---

[363] शास्त्र प्रकाशिका पृष्ठ ४९०

[364] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक २९७-३०१ तथा अध्याय ३ ब्राह्मण ४, वार्तिक१०२-४ अद्वैतसिद्धि, प्र०प० पृष्ठ ५५८-५९ अद्वैतसिद्धिः पृष्ठ २४१ |

[365] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय २, ब्राह्मण १, वार्तिक २१९, अध्याय ४ ब्राह्मण३ वार्तिक८६० , सिद्धांतबिन्दु, पृष्ठ ६३ तथा पृष्ठ २२८

[366] पंचीकरणवार्तिकपृष्ठ ३१ तथा मानसोल्लासवार्तिकपृष्ठ ९३ वार्तिक २५ |

इहलोक तथा परलोक दोनों का दर्शन होता है, अतः बृहदारण्यक उपनिषद् **'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य देव एवं स्थाने भवतः । इदं च परलोकस्थानं च संध्यै तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन संध्यै स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च** |[367] में स्वप्न को 'संध्य' स्थान बताया गया है। स्वप्नावस्था में जीव को परलोक एवं इहलोक का दर्शन कैसे होता है ? इसके समाधान में बाल्य योवन एवं वार्धक्य से भिन्न जीव की स्वभावसिद्ध त्रिविध अवस्था का आश्रय लेते हुए सुरेश्वराचार्य का कहना है कि बाल्यकाल में जीव पूर्व मुक्त भावनाओं के कारण पारलौकिक अर्थात् पौर्वदेहिक, मध्यवय में अर्थात् युवावस्था में प्रत्क्षादि प्रमाणोपलभ्यमान भावनाओं के कारण ऐहलौकिक अर्थात् तात्कालिक तथा अन्तिम वय में कर्माविद्यादिसम्पृक्त भावनाओं के कारण भाविलोक संबंधित अर्थात् आग्रकालिक स्वप्न देखता है ।[368] सुरेश्वर के इस समाधान का आशय यह है कि प्रथम एवं अन्तिम अवस्था में जीव पारलौकिक स्वप्न देखता है तथा मध्यवस्था में ऐहलोकिक स्वप्न देखता है, अतएव स्वप्नावस्था संध्य स्थान है। स्वप्न प्रपंच का उपादान कारण क्या है ? इस विषय में अद्वैत वेदान्तियों का एक मत नहीं है ।[369] कुछ लोगों के अनुसार गजतुरंगादि रूप स्वप्न विषय वासना संस्कृत मन के ही परिणाम हैं और मत मतान्तर के अनुसार अविद्या हो उक्त स्वाप्न पदार्थों के रूप में परिणत हो जाती है। इन दोनों मतों में प्रथम मत आभासवादी आचार्य सुरेश्वर का है उनका कहना है कि स्वाप्न में मातृभाव-प्रमेयादि विषयों के रूप में जाग्रत्कालिक । भोग-जन्य संस्कार रूप भावना प्रथित होती है अतः चिदाभास विशिष्ट अन्त:करणाहित भावना ही स्वप्नकाल में जीव के द्वारा भोगे जाने वाले विषयों के प्रति कारण है । **'अपास्ताशेपकरणदेवत्तस्याऽऽपि चाऽऽत्मनः । क्रिया कारकसिध्यर्थ भावनैवास्यकारणम् ।** [370] स्पष्ट शब्दों में स्वाप्न विषयों का उपादान कारण सामासान्तः करणगत वासना है । **'कूटस्थी वासना: स्वप्ने चिदाभासा: करोत्ययम्' ॥** [371]

स्वप्न-भ्रम के अधिष्ठान के विषय में भी अनेकमत हैं ।[372] एक मत के अनुसार मनोऽवच्छिन्न जीव चैतन्य स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान है। अन्य मतानुसार मूलावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य ही अधिष्ठान है। कुछ अन्य लोगों ने मनोविशिष्ट जीव चैतन्य को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान माना है । इन मतों में प्रथम मत तथा तृतीय मत में कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों के अनुसार स्वप्न पदार्थों का अधिष्ठान जीव ही होगा। विरोध इन मतों से द्वितीय मत का है जिसके अनुसार मुलाज्ञानापच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य को

---

[367] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् १०४।३।९

[368] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ८३७-४४ |

[369] सिद्धांतबिन्दु पृष्ठ ६३, गेयकवाड ओरीयन्टल सीरीज तथा अद्वैतब्रह्मसिद्धि:, चतुर्थ मुद्रर प्रहारः पृष्ठ २२९

[370] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक८७४; अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ८७५-८८८ तथा अध्याय २, ब्राह्मण १
वार्तिक १६०

[371] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४ वार्तिक ३, वार्तिक ८८७

[372] सिद्धान्तबिन्दुः पृष्ठ ६४ गैयकवाड, ओरीयन्टल सीरीज तथा अद्वैतब्रह्मसिद्धिः पृष्ठ २३०

स्वाप्न पदार्थों का अधिष्ठान कहा गया है। जीवाधिष्ठानवादियों के अनुसार जाग्रत् काल में स्वाप्न कालिक विषयो का बोध हो जाता है क्योंकि जाग्रदशा में भ्रम के वास्तविक अधिष्ठान जीव का ज्ञान हो जाता है। इसके विपरीत अज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्याधिष्ठानवादियों का कहना है कि जाग्रदशा में स्वप्न भ्रम का तिरोभाव होता है, निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जाग्रत् अवस्था में भी स्वप्न भ्रम का अधिष्ठान मूलाज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य अज्ञात रहता है । **'अधिष्ठानज्ञानाद्भ्रमनिवृत्तिरित्येकं मतम्, अधिष्ठानज्ञानादुद्भ्रमतिरोभावः इत्य परम्' ।**[373] सिद्धान्त बिन्दु के व्याख्याकार अभ्यङ्ककर ने उपर्युक्त तीनों मतों में प्रथम मत को प्रतिबिम्ब प्रस्थान से तथा तृतीय मत को अवच्छेद प्रस्थान से सम्बन्धित माना है।[374] द्वितीय मत को सुरेश्वराचार्य सम्मत कहा जा सकता है[375] क्योंकि उन्होंने जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के विषयों को एक अद्वितीय, असंग ब्रह्म का आभास स्वीकार किया है । आभास, का अधिष्ठान ब्रह्म है ।[376] अतः तदुपादानक स्वप्न अवस्था के अधिष्ठानत्व की अनुपपत्ति नहीं। इस स्वप्न अवस्था एवं सूक्ष्म शरीराभिमानी जीव को 'तेजस' तथा 'स्वप्नावस्था' को व्याकृत सूक्ष्मावस्था कहा जाता है। व्यष्टि बुद्धयापाधिक तेजस की समष्टि व्यष्ट्युपाधिक हिरण्यगर्भ से साम्य है ।[377]

४.२.१६.३ जाग्रत अवस्था तथा विश्व

जब जाग्रत्कालिक विविध प्रकार के भोग जनक कर्म फलोन्मुख हो जाते हैं, तब जाग्रतावस्था का विलास प्रारम्भ होता है। जाग्रत अवस्था उपर्युक्त सुषुप्ति एवं स्वप्न अवस्था से विलक्षण ऐसी अवस्था है जहाँ पर केवल अज्ञान एवं अन्तःकरण ही नहीं प्रत्युत् समस्त ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां भी स्वाधिष्ठित देवताओं के अनुग्रह से अपना विषय ग्रहण करती हैं तथा स्थूल देह सर्वधा सचेष्ट रहता है । **बाह्यान्तः करणैरेवं देवतानुग्रहान्वितैः । स्वं स्वं च विषयज्ञानं तज्जागरितमुच्यते ॥** [378] इस अवस्था में बाह्य जगत् का स्थूल इन्द्रियों के द्वारा शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्ध- गुणगण सहित प्रविविक्त स्थूल रूपों में ग्रहण होता है। जाग्रतावस्था का अपरोक्ष तथा परोक्ष सभी प्रकार का ज्ञान अपने में पूर्ण है क्योंकि यहां प्रमाण, प्रमेय तथा फल इन तीनों का विविक्त एवं स्पष्ट भान होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा स्वाकाराकारित अन्तःकरण परिणामरूप चैतन्य

---

[373] बिन्दु संदीपन सिद्धान्तबिन्दु व्याख्या पृष्ठ ६४ गेयकवाड, ओरीयन्टल सीरीज

[374] अभ्यंकर कृत सिद्धान्तबिन्दुव्याख्या, पृष्ठ ११७ पूना पब्लिकेशन

[375] न्याय रत्नावली सिद्धान्तबिन्दु व्याख्या पृष्ठ ४११-१२ पृष्ठ १०-१

[376] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक १२८०

[377] पंचीकरण वार्तिकवार्तिक ३८ पृष्ठ ३२

[378] पंचीकरणवार्त्तिक ३८ पृष्ठ ३२

वृत्त्याभासित विषयों के स्थूल एवं विविक्त रूपों का प्रत्यक्ष होता है। इस अवस्था में अज्ञान के अतिरिक्त स्थूल देह एवं इन्द्रियादि भी उपाधि का काम करते हैं। विषयों के प्रभाव से न केवल अन्तःकरणादि अपितु देहावयव भी प्रभावित होकर अपेक्षित परिवर्तन संचलित हो जाते हैं। और इन सभी का चिदाभासविशिष्ट सामूहिक परिणाम जाग्रत्कालिक अनुभवों का रूप धारण करता हूँ। अविद्या अन्तःकरण एवं स्थूल शरीर इन तीनों की अपेक्षा से युक्त जाग्रत् अवस्था के अभिमानी जीव को 'विश्व' कहा जाता है। इसकी समता विराट् से की गई है।[379] इस अवस्था को व्याकृत स्थूलावस्था भी कहते हैं।

४.२.१६.३.१ अवस्थाभिमानी ईश्वरादि की आभासरूपता

समष्टि सुषुप्त्यादि अभिमानी ईश्वर, हिरण्यगर्भ तथा विराट एवं व्यष्टि सुषुप्त्यादि अवस्थाओं के अभिमानी प्राज्ञ, तैजस और विश्व ये सभी एक प्रत्यगात्मा के विकल्प या आभास हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि ईश्वर, विराट् अथवा जितने भी अविद्या क्षेत्रान्तर्गत पदार्थ हैं वे सब आत्मा में उसी प्रकार क्लृप्त हैं जैसे रज्जु में सर्प। **'यथोक्ततत्त्वकान्येव रज्ज्वां क्लृप्तवस्तुवत्। सूत्रं विराड् देवता न यावत्किंचिच्च वस्त्विह॥** [380] यह सभी मोहोत्थ, साधनसापेक्ष और परस्पर व्यभिचारि सूत्र और हैं अतः पारमार्थिक नहीं हो सकते।

नहि साधन सापेक्षं वस्तु स्यात्पारमार्थिकम्॥
परमार्थ न वस्त्वस्ति यत्परायत्त सिद्धिकम्॥
मोहोत्थाः पृथगात्मनः साथ नायत्तसिद्धिकाः॥
सूत्रादयस्तृणान्ताः स्युन्योन्य व्यभिचारिणः॥ [381] क्योंकि शांकराद्वैत प्रस्थान में आपेक्षिक या परायत्त वस्तुओं को आभासरूप तथा मिथ्या माना गया है - **'आपेक्षिकं तु यद्रूपं तन्मिथ्येत्युपपादितम्'॥**[382]

४.२.१७ सृष्टि क्रम

---

[379] पंचीकरणवार्तिक वार्तिक ३०-३० १।२ पृष्ठ २७

[380] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक११४३

[381] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक११४६-४७

[382] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक१३२७

पिण्डाण्ड व्यपाश्रयेण तथा ब्रह्माण्ड व्यपाश्रयेण अव्याकृत सूक्ष्म तथा स्थूल का क्रमश: सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत अवस्थाओं के रूप में हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं । इस प्रसंग में इन अव्याकृतादि अवस्थाओं का सृष्टि व्यपाश्रयेण विचार किया जाता है। सृष्टि-क्रम-निदर्शन के पूर्व सृष्टि के उन बीजों का निरूपण आवश्यक है, जिनके द्वारा निर्गुण, निर्लेप, निष्प्रपंच, निर्विकार तथा कार्यकारणातीत अद्वय ब्रह्म सृष्टि के आभासन में समर्थ होता है।

सृष्टिबीज- सुरेश्वराचार्य के अनुसार सृष्टि के तीन बीज है।

'अविद्या काम कर्माणि सृष्टिबीजमिदं दृशेः' ॥ [383]

(१) अविद्या बुद्धयादि सूक्ष्मों में भी सूक्ष्मतम बुद्धयादि की कारण-भूता तथा कूटस्थवपु प्रत्यक् चैतन्य की संगकारिणी कारण चिदाभास गर्भित आत्मा-विद्या सृष्टि की प्रथम बीज है **बुद्धयादिष्वपि सूक्ष्मेषु यत्सूक्ष्मतममुच्यते । बुद्धयादिकारणं नित्यमात्मा विद्येति भण्यते ॥ अपि कूटस्थमुपः प्रतीचः संगकारकम् ॥** [384] चिदाभास विशिष्ट इस अविद्या को साध्य-साधन-रूप-नामादि से व्याकृत होने से जगत् को अविनश्वरी बीजावस्था कहा जाता है । **'अथैतस्य यथोत्तस्य प्रपंच सन साध्यसाधनरूपिणः। जगती व्याकृतस्याभूद्बीजावस्था विनश्वरी'** । [385]

(२) काम--प्राणियों की उनके शुभाशुभ व्यामिश्र कर्मों के फल देने की इच्छा से ईश्वर में जगत् की तितृक्षा काम है, जिसे सृष्टि का द्वितीय बीज कहा गया है।

(३) कर्म - जगत् के प्राणियों के कर्म जब परिपक्व होकर फलोन्मुख हो जाते हैं, तब वे सृष्टि के आरम्भ बीज बन जाते हैं। इस प्रकार कर्म सृष्टि का बीज माना जाता है । **यावत्कार्यगतं किंचिद् भावनादि समीक्ष्यते ॥ तमसाबीजभूर्ततद्व्यज्यते संस्कृते: पुनः ॥** [386]

सृष्टि के इन तीन बीजों की भावना ज्ञान एवं कर्म रूप साधन भी कहा गया है । **'भावना ज्ञानकर्माणि साधनानीति यद्यपि ॥'** [387] एक अन्य वार्तिक में अविद्या, कर्म तथा संस्कार रूप से भी इनका उल्लेख मिलता है।[388] यद्यपि साधन की दृष्टि से सृष्टि के बीज के रूप में तीन पृथक-पृथक् नाम दिये गये हैं, पर

---

[383] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४, ब्राह्मण३, वार्तिक९१५

[384] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक३४८-४९

[385] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक१६७

[386] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ४, वार्तिक३४३

[387] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक११४५

[388] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् १।४।२०५

अविद्या ही स्वातिरिक्त दोनों साधनों की मूल कारण है।[389] इन्हीं तीनों साधनों की व्यपेक्षा से सम्पूर्ण सृष्टि का व्याकरण संभव होता है।

४.२.२७.१ सृष्टि क्रम अर्थात् सृष्टि की त्रिविध अवस्था

सृष्टि को (१) अव्याकृत अवस्था (२) व्याकृत किन्तु सूक्ष्मावस्था तथा (३) व्याकृत किन्तु स्थूलावस्था रूप से तीन भागों में विभक्त किया जाता है। इन तीनों अवस्थाओं को क्रमशः अव्याकृत, मूर्त्त और अमूर्त्त भी कहा जाता है।

सुरेश्वर सम्मत सृष्टि क्रम अधोलिखित है :-

४.२.१७.१.१. अव्याकृतावस्था

सृष्टि के पूर्व (प्रलयकाल में) सूक्ष्म एवं स्थूल सृष्टि की बीजभूता चिदाभास विशिष्ट अविद्या जगत् की अव्याकृतावस्था है। अविद्या यद्यपि स्वयं जाड्य-मौढ्य-मान्द्यापि लक्षणों वाली है, पर जड चिदाभास के द्वारा सत्ता- स्फूर्ति सम्पन्न होकर तथा जीवों के पूर्व-पूर्व फलोन्मुख कर्म संस्कार से प्रेरित होकर शब्द स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मक आकाश वायु-तेज जल तथा पृथिवीरूप पंच महाभूतों को पृथक्-पृथक् शुद्धरूप में उत्पन्न करती है। पूर्व पूर्व भूतभावापन्न आभासाविद्या उत्तरोत्तरभूतों को कारण है अत: उत्तरोत्तर भूतों में पूर्व पूर्व भूतों के गुण होते हैं। **यद्यद्भूतं यथासंख्य तत्तावद् गुणं स्मृतम् ॥ पूर्वैव्याप्तानि कार्यत्वादुत्तराणि यथाक्रमम् ॥**[390]
अतः आकाश में एक गुण (शब्द), वायु में दो गुण (शब्द-स्पर्श), तेज में तीन गुण (शब्द-स्पर्श-रूप), जल में चार गुण (शब्द-स्पर्श-रूप-रस) तथा पृथिवी में पाँच गुण (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) उपलब्ध होते हैं।[391] आचार्य सुरेश्वर ने आभास प्रत्यग विद्यारूप पंचभूतावलम्बित अपंचीकृत पंचमहाभूताश्रित आत्म सहवर्ति अविद्या कर्म तथा संस्कार को सृष्टि की अनभिव्यक्तया अव्याकृत या अव्यक्तावस्था मानी है।[392] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अवस्था में अविद्या-कर्म-संस्कार, अपंचीकृत पंचमहाभूत तथा आत्मा (ईश्वर) की स्थिति होती है। अविद्या-काम-कर्म-संस्कार सघ्रोचीन अव्याकृत पद व्यपदेश्य आविर्भूत शुद्ध पंचभूत अव्याकृत इसलिए कहे जाते हैं कि इनका केवल

---

[389] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- १।४।११४५

[390] तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य वार्त्तिक, पृष्ठ ७७, वार्तिक५२

[391] पंचीकरणवार्तितक, वार्तिक ४-५३ पृष्ठ १२-१३

[392] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक२०४-५

अस्तित्त्व समुज्जृम्भित होता है किन्तु तब भी नाम रूप व्यपदेशानर्ह बने ही रहते हैं। इस अव्याकृत अवस्था अथवा अव्याकृत अज्ञान को ईश्वर की उपाधि माना जाता है यह पहले कहा जा चुका है।

४.२.१७.१.२ व्याकृत-सूक्ष्मावस्था

सृष्टि की सूक्ष्मावस्था के प्रारम्भ में उपर्युक्त अपंचीकृत पंचमहाभूतों के द्वारा आरब्ध समुदित ज्ञान तथा क्रिया-शक्ति के फलस्वरूप हिरण्यगर्भ तथा सूत्रात्मा को सभूति होती है। हिरण्यगर्भ, प्राण व सूत्रात्मा का भेद सृष्टि को इस अवस्था में श्रुतिशिरोवेद्य है। परस्पर हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा में कोई भेद नहीं, क्योंकि एक ही परमात्मा संपिंडित ज्ञान शक्ति गत स्वाभास के कारण हिरण्यगर्भ की तथा संपिडित क्रिया शक्ति गत स्वाभास के कारण सूत्रात्मा या प्राण की संज्ञा प्राप्त करता है। यह अपंचीकृत महाभूतों का समष्ट्यात्मक भेद है। इस अवस्था में अपंचीकृत महाभूतों का व्याष्ट्यात्मक भेद भी होता है। सर्वप्रथम इन अपंचीकृत महाभूतों के द्वारा ज्ञान क्रिया शक्त्यात्मक एक द्रव्य की उत्पत्ति होती है (जो बाद में अन्त: करण-पद-व्यपदेश्य होता है) यह समुत्पन्न द्रव्य अहंकार, चित्त, मन, और बुद्धि का संपिंडित, अविभक्त और अतिसूक्ष्म रूप है। इसके पंचभूतारब्ध ज्ञान शक्ति प्रधान अंश को अन्तःकरण कहा जाता है। अन्तःकरण के भी कार्यतः बुद्धि और मन यह दो भेद हो जाते हैं, यद्यपि बुद्धि एवं मन में वास्तविक भेद नहीं। **'बुदेश्च मन विवक्षित्वोपसंहृतिः'** ॥[393] उक्त द्रव्य के क्रिया शक्ति प्रधान अंश को प्राण कहा जाता है। इसके भी कार्यत: प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान नाम से पाँच भेद माने जाते हैं। **'उत्सगों मुलनासाभ्यां पिंडस्य प्रणतिस्तथा प्राणो नाम मरुवृत्तिरपानघुनोच्यते'** ॥

अवाग्वायोरपश्वासो देहल्यावाग्यतिस्तथा
अपान एष कथितो व्यान: सांप्रतमुच्यते ॥
वीर्यवत्कर्महेतुत्वं व्याप्यदेहे च वर्तनम् ।
व्यानवृत्तिरियंप्रोक्ताह्युदानास्याऽपि कीर्त्यते ॥
योद्यमादि क्रियाहेतुस्तथाऽभ्युदय कर्मकृत् ।
उत्कर्षहेतुर्देहे तु वृत्तिः सोदानसंज्ञिता ॥
समाहरति वृत्तीर्यो हृदेशे कीलवस्थितः ।
स समान इति ज्ञेयः सर्वकार्योपसंहृतिः ॥[394]

इस प्रकार अपंचीकृत महाभूत से उत्पन्न समष्टि ज्ञान एवं क्रिया शक्ति का अभिमानी हिरण्यगर्भ तथा सूत्रात्मा अनेकों व्यष्टि अन्तःकरण मन, बुद्धि एवं प्राणों का कारण बन जाता है। इन मनोबुद्धयादि उपाधियों में प्रतिफलित अथवा आभासित चैतन्य नाना जीव के रूप में परिगणित होता है। यद्यपि एक

---

[393] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ५, वार्त्तिक-५१५

[394] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक १४५-४९

चिदाभास रूप जीव ही नाना चिदाभास वपु जीवों के रूप में प्रतिभासित हे तथापि स्वाभास के अविवेक से ब्रह्म को नाना जीव रूपों में माना जाता है। **स्वाभासैर्बहुतामेनिमनोबुद्वयाद्युपाधिभि: ।**[395] इसके पश्चात् इसी अवस्था में प्रत्येक महाभूतों से एक-एक ज्ञानेन्द्रिय तथा एक एक कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होता है। स्पष्ट शब्दों में आकाश से श्रोत्र-वाक् का, वायु से त्वक् पाणि का, तेज से चक्षु-पाद का, जल से रसना-वायु का तथा पृथिवी से घ्राण उपस्थ का आविर्भाव होता है। कुछ लोगों ने 'तेजोमयी वाक्' (छान्दग्योपनिषद् ६।५।४) श्रुति का आश्रय लेकर वागिन्द्रिय को तेज से तथा पाद को आकाश से उत्पन्न माना है।[396] जगत् की व्याकृत और सूक्ष्मावस्था में उत्पन्न सृष्टि का यही रूप है।

४.२.१७.१.३. व्यक्त स्थूलावस्था

पंजीकृत भूतों से स्थूल भूतभीतिकादि संघात की उत्पत्ति होती है। अतः स्थूलावस्था की सृष्टि-निरूपण के पूर्व पंचीकरण का परिचय आवश्यक है।

पंचीकरण:- भूत भीतिकादि संघात की सृष्टि के लिए कुछ अद्वैतवेदान्ती त्रिवृत्करण मानते हैं और कुछ अद्वैतवेदान्ती पंचीकरण। अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति और उनके अनुयायियों का कहना है कि यद्यपि पंचीकरण सम्प्रदाय सिद्ध है, तथापि युक्ति विधुर होने के कारण आदरणीय नहीं। पंचीकरण पक्ष का खंडन करते हुए उनका कहना है कि पंचीकरण के फलस्वरूप जब पृथिव्यादि भागों का आकाश और वायु में प्रवेश होता है तब रूपवत् एवं महत्त्ववत् होने से आकाश और वायु का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए ऐसा होता नहीं, अतः पंचीकरण पक्ष युक्ति सह नहीं। 'तासां निवृतं त्रिवृतमेकैकंकारवाणि' (छान्दोग्योपनिषद् ६।३।२) इस श्रुति से भी त्रिवृत्करण-पक्ष का निर्देश प्राप्त होता है, अतः त्रिवृत्करण पक्ष अमान्य नहीं। इसके विपरीत प्रतिबिम्बवादियों और आभासवादियों ने पंचीकरण पक्ष का समर्थन किया है। इन आचार्यो के मतानुसार पंचीकरण पक्ष व्यवहार भूमि पर आधृत है। पंचीकरण के कारण ही आकाश एवं वायु में अवकाश दानादि रूप स्थूल व्यवहार स्पष्ट देखा जाता है, अन्यथा आकाशादि में पृथिव्यंश न होने के कारण अवकाश दान आदि की कल्पना असंगत हो जायगी। अतः पंचीकरण मानना आवश्यक है। त्रिवृत्करणात्मिका श्रुति से पंचीकरण पक्ष का विरोध न हो एतदर्थ इन आचार्यों का कहना है कि जैसे वियदधिकरण (ब्रह्मसूत्र २।३।१) में भूत त्रय की सृष्टि पंचभूतोपलक्षणार्थक मानी गयी है, में उसी प्रकार त्रिवृत्करण श्रुति को भी पंचीकरण का उपलक्षण मानकर पंचीकरण में ही पर्यवस्थित समझना चाहिए। पंचीकरण पक्ष आभासपक्षानुमोदित है अतः आभासवादी आचार्य सुरेश्वर-सम्मत पंचीकरण स्वरूप निरुपण आवश्यक है।

---

[395] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय २, ब्राह्मण ४ वार्तिक ४२५ सिद्धान्तबिन्दु पृष्ठ ५६

[396] पंचीकरणवार्तिकाभरण, पृष्ठ १५ गुजराती प्रिटिंग प्रेस तथा भामती, पृष्ठ ५९२

४.२.१७.२ पंचीकरण का स्वरूप

पृथिव्यादि पंचमहाभूतों का स्वार्थ भागांश के साथ अन्य महाभूतों के अष्टमभागांश का ग्रहण अद्वैतशास्त्र में पंचीकरण के नाम से प्रसिद्ध है। पंचीकरण का क्रम इस प्रकार है- सर्वप्रथम प्रत्येक पृथिव्यादि महाभूत दो-दो भागों में विभक्त हो जाते हैं, पुनः अपने एक-एक भाग को चार-चार भागों में विभक्त कर लेते हैं, तदनन्तर अपने इन चारों भागों के एक-एक भाग को एक-एक भूत में समाविष्ट कर देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक भूत स्वार्थभाग तथा अन्य चार भूतों के अष्टम भाग से युक्त होकर पंचीकृत हो जाते हैं। पंचभूतों का यही आदान-प्रदान पंचीकरण कहा जाता है।

"पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येक विमजेद्द्वया।
एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत्पुनः ॥
एकेकं भागमेकस्मिन्भूते संवेशयेत् क्रमात्।
ततश्चाकाशभूतस्य भागा: पंच भवन्ति हि।
वाप्यावादि भागाश्चत्वारो बाह्यादिष्वेवमादिशेनत् ॥
पंचीकरणमेतस्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः" ॥[397]

यद्यपि आकाशादि पंचीकृत भूतों में अन्यभूतों के अष्टमांश का भी मिश्रण रहता है तथापि स्वभागाधिक्य के कारण पंचीकृत आकाशादि स्वशब्द से ही व्यपदिष्ट होते हैं।

'स्वस्यार्थभागेनेतरेपामष्टमभागेन च पंचीकरणन्मेलने अप्याधिक्यादाकाशादि शब्दप्रयोगः'।[398]

पंचीकृतभूतों का स्वरूप निम्नलिखित प्रकोष्ठ के रूप में वर्णित किया जा सकता है।

आकाश	वायु	तेज	जल	पृथिवी	पंचीकृत भूत
1/2	1/8	1/8	1/8	1/8	आकाश
1/8	1/2	1/8	1/8	1/8	वायु
1/8	1/8	1/2	1/8	1/8	तेज
1/8	1/8	1/8	½	1/8	जल
1/8	1/8	1/8	1/8	1/2	पृथिवी

[397] पंचीकरण वार्तिक, वार्त्तिक ८-१० पृष्ठ १४

[398] सिद्धान्तबिन्दु, पृष्ठ५८ गेयकवाड ओरीयन्टल सीरीज

४.२.१७.३ पंचीकृत भूत तथा सृष्टि की स्थूलावस्था

सृष्टि-बीज निरूपित करते समय यह उल्लिखित किया गया है कि जीवों के फलोन्मुख कर्म सृष्टि के मुख्य बीज हैं । परन्तु अब तक की अर्थात् व्याकृत सूक्ष्मावस्था पर्यन्त की सृष्टि जीवों को कर्मफलोपभोग कराने में समर्थ नहीं क्योंकि फलोपभोग में तीन तत्व अपेक्षित होते हैं- (१) ईश्वर (२) नाना जीव तथा (३) निखिल कर्म फलोपयोग्य विविध-विचित्र-वस्तु-व्रातमय स्थूल जगत् । उपर्युक्त दोनों (अव्याकृत-व्याकृत) अवस्थाओं की सृष्टि में ईश्वर एवं जीव की अस्तित्वता हो जाती है, पर कर्म फलोपभोगार्थक जगत् का अभाव रहता है। इसी अभाव को दूर करने के लिए अपंचीकृत महाभूतों का पंचीकरण होता है और यह पंचीकृत पंचमहाभूत इन्द्रियों के अधिष्ठान भूतभोगायतन को उत्पन्न करते हैं। इसी भोगायतन को शरीर कहा जाता है। शरीर का देव शरीर, मनुष्य शरीर तथा तिर्यगादि शरीरान्त शरीर-यह तीन भेद है। पंचीकृत भूतजन्य चतुर्दशभुवन तथा ऊर्ध्व-मध्यम-अधोभाव रूप से लोक के घटादि पर्यन्त पदार्थ - साथ इस अवस्था के विषय है । स्थूलावस्था के समस्त विषय अधिदेवत अध्यातम एवं अधिभूत रूप में विभक्त है ।[399]

४.२.१७.४ सृष्टि की आभास रूपता

उपयुक्त अव्याकृत, व्याकृत तथा स्थूल क्रम से विकसित सृष्टि को जगत् भी कहा जाता है । **'सृज्यत इति सृष्टं जगदुच्यते सृष्टि:'** [400] आविद्यक दृष्टि अर्थात् तमोवृत्त से सृष्टि अनादि है अत: आचार्य सुरेश्वर ने इस व्याकृताव्याकृतात्मक सृष्टि को नित्य, अनादि तथा दीपचिवत् प्रवाहवान् कहा है । **'एवं नृत्यज्जगन्नित्यमतत्याऽऽमनि स्थितम् ॥' 'प्रवाहरूपो संसारो दीपाचिवदवस्थित: ।' 'ब्राणनात्मा प्रवाहवान्।' 'अनादाविह संसारे'।'** [401] कारणता के प्रसंग में यह कहा गया है कि अविद्या,आभास और ब्रह्म यह स्त्रितय पर्याप्त कारणता सुरेश्वर सम्मत है । कूटस्थ ब्रह्म को यद्यपि कारणता का एक तत्व माना गया है पर यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि

---

[399] पंचीकरण वार्त्तिक, वार्तिक१२-२९, पृष्ठ-२२-२६

[400] शांकर भाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् ११४-१५०, पृष्ठ ६३, तथा बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक२८, ६०६

तथा १३२५

[401] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १,ब्राह्मण ४ वार्तिक१४८५ ; बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ३, ब्राह्मंण ६ वार्तिक१४४

बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४, ब्राह्मण ३ वार्तिक ३३१ तथा तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्यवात्तिकम् वार्तिक ३३, पृष्ठ १३

अविद्यागत चिदाभास जिसे ईश्वर या सुरेश्वर सम्मत कारणाभास बताया गया है, वही सृष्टि का मूल उपादान तत्व है क्योंकि निष्क्रिय, निष्प्रपंच, निष्प्रदेश, निरासंग, कार्य-कारणातीत, अव्यावृत्ताननुगत परब्रह्म में कारणता की कल्पना या अनात्म सृष्टि से सम्बन्ध मानना अविद्या के द्वारा या अविद्या दृष्टि से भी असंभव है । **अविद्याद्वारिकाज्यस्य संगतिर्नाजसेष्यते । निरात्मकपरार्थ त्वहेतुभ्यां शुक्तिरूप्यवत् ||**[402] मोहग से चिदाभास अर्थात् कारणाभास जगत् का कारण है, पर चिदाभास से ब्रह्म की भेद प्रतीति न होने के कारण इस (ब्रह्म) को सृष्टि का कारण मान लिया जाता है, अन्यथा इसकी कारणता कथमपि उपपन्न नहीं। पूर्व पृष्ठ समालोचित तथ्य के पुनर्निदेश करने का अभिप्राय यह है कि सुरेश्वर सृष्टि का परिणामी उपादान चिदाभास विशिष्ट अविद्या या अविद्यागत चिदाभास को मानते हैं और ब्रह्म को केवल सृष्टि का विवर्तोपादान मानते हैं। सुरेश्वर ने स्पष्ट शब्दों में स्थान-स्थान पर इस सृष्टि को प्रत्यगाभासवती अविद्या समुत्थित कहा है। **व्याकृताव्याकृतात्मकं विश्वं प्रत्यक्प्रत्ययमात्रकम् ॥ मोहोत्थाहमिति । व्याकृताव्याकृतात्मकं विश्वं प्रत्यक्प्रत्ययमात्रकम् ॥ मोहोत्थाहमिति । युक्त्या नैव उपपद्यन्ते जगत्सृष्टयाद्यां यतः । प्रत्यगज्ञानमात्रोत्या जगत्सृष्टया दयस्ततः ॥**[403] अतः प्रत्येक चैतन्य में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय उसी प्रकार है जैसे अक्रिय एवं अविभाग व्योम में क्रिया तथा विभाग की कल्पना कर ली जाती है।[404] अज्ञान-कल्पित जगत् ब्रह्म में उसी प्रकार समध्यस्त है जैसे शुक्तिका में रजता या रज्जु में सर्प आदि। **'कि नश्यसि संसार तत्रैवाज्ञान कल्पितम् ॥ अनात्मवस्तु यत्किंचित् तद्ब्रह्मनानवबोधतः ब्रह्मण्येव समदयस्तं शुक्तिकारजतादिवत्' ॥**[405] इन विशिष्ट आध्यासिक दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि ब्रह्म में केवल संभावना या परिकल्पना है। चिदाभासवती अविद्या को सृष्टि का उपादान माना जाता है। अतः सृष्टि वस्तु वृत्त से सत्य नहीं मानी जा सकती । **'तस्मात्संभावनामात्र संसार: प्रत्यगात्मनि ।'**[406] उपादेय उपादान के लक्षणों का अनुरोधी होता है। अतः उपादेय सृष्टि अपने उपादान अज्ञान के समान सदसद्विलक्षण होने से अविचारित संसिद्ध, मिथ्या तथा बाध्य होगी। **'वास्तवं वृत्तिमापेक्ष्य न त्वियं सृष्टिरात्मनः' ।**[407]

---

[402] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक १३२४ तथा बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मंण ४, वार्तिक
१३१८-२१२७२ और अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक ५१६।

[403] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक१२८ , बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक६२५
तथा तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्यवात्तिकम् वार्तिक ४३-४५, पृष्ठ ७५

[404] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४ ब्राह्मण ३ वार्तिक ९८८-९०

[405] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक १२७६-८० तथा अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक ३८०

[406] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ४२१

[407] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय २, ब्राह्मण ४ वार्तिक ३८३

आभास विशिष्ट अज्ञान को सुरेश्वर प्रतिष्ठापित आभास प्रस्थान में आभास माना गया है[408] । अतः अज्ञान को कार्यभूत सृष्टि को आभास रूपता स्वतः सिद्ध है।

४.२.१७.५ सृष्टि में ब्रह्म का आभासाख्य प्रवेश[409]

'स एष इह प्रविष्टः' (बृहदारण्यकोपनिषद् ११४१७), 'ता दृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत' 'स एतमेवं सीमानं विदार्यैता द्वारा प्रापद्यत तथा 'सेयं देवतैक्षत हन्ताह मिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य' (छान्दग्योपनिषद् ६२१३) इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा का सृष्टि कार्यों में प्रवेश अभिहित है । पर असंगोदासीन, असंहृत, अप्रविष्ट स्वभाव, अव्यावृत्ताननुगत, अविकारी, अपरिणामी, अपरिच्छिन्न आत्मा का श्रोत प्रवेश कैसे संगत हो ? यह एक समस्या है। प्रवेश के विषय में अधोलिखित विकल्प हो सकते हैं :-

(१) जैसे परिणामवश सर्पकृमि कीटादि-भावापन्न सर्वकार्यव्यापि पृथिव्यादि भूतों का उपर्युक्त सर्पादि आकार से पाषाण तथा काष्ठ आदि में प्रवेश संभव है, उसी प्रकार सर्वगत परब्रह्म का भी परिणाम द्वारा सृष्टि में प्रवेश संभव हो सकता है।[410]
(२)नारिकेलजलन्याय- अर्थात् जैसे नारिकेल के अन्दर जल व्याप्त रहता है उसी प्रकार परमात्मा सृष्टि में प्रविष्ट रहता है।
(३) जैसे जल में अर्क अथवा रविबिम्ब का प्रवेश होता है उसी प्रकार परमात्मा सृष्टि प्रविष्ट है।[411]
(४) द्रव्य में गुण प्रवेश समान आत्मा का सृष्टि में प्रवेश है।[412]
(५) फल में बीज के समान परमात्मा का साभासाज्ञानोत्थ कार्यों में प्रवेश है।[413]
(६) मुख में हस्तादि के प्रवेश के समान आत्मा सृष्टि में प्रविष्ट है।[414]

आचार्य सुरेश्वर ने इन सभी विकल्पों का खंडन किया है। अपरिणामित्वादि शब्द-लक्ष्य आत्मा का परिणामाख्य प्रवेश न होने से प्रथम विकल्प संभव नहीं है। नारिकेलन्यायवत् प्रवेश स्वीकार करने पर

---

[408] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक १३२९ तथा अध्याय ३, ब्राह्मण ४ वार्तिक १२२९

[409] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक ५०१-६२३ तथा तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्यवात्तिकम्-- ३७८-४०३ पृष्ठ १२५-२८

[410] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक५३१-३३

[411] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक५४० तथा तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्यवात्तिकम् -- ८८ पृष्ठ १२६

[412] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक५४२

[413] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक५४४

[414] तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्यवात्तिकम्-- ८३, पृष्ठ १२४

आत्मा परिच्छिन्न हो जायगा और उसकी सर्वव्यापकता की हानि होगी, अतः द्वितीय विकल्प नहीं स्वीकृत हो सकता। आदित्यादि का जल में संयोग संभव हो सकता है, पर असंगानवच्छिन्न तथा संयोगादि रहित आत्मा का प्रवेश संभव नहीं, अतः जलार्क प्रवेश रूप तृतीय विकल्प भी युक्तिसंगत नहीं। चतुर्थ विकल्प-विहित प्रवेश के समान भी आत्मा का दृष्टि में प्रवेश अनुपपन्न है क्योंकि सृष्ट्याश्रित न होने के कारण आत्मा को एष सर्वेश्वर: इत्यादि श्रुतियों से स्वतंत्र बताया जाता है, इसके विपरीत गुणों की द्रव्य-परतंत्रता लोक सिद्ध है। सृष्टि में आत्मा का बीजवत् प्रवेश भी संभव नहीं क्योंकि वह बीज के समान सृष्टि के जन्मादि विक्रियारुप धर्मो से अनुगत नहीं हो सकता। कोई भी ऐसा कार्य अथवा देश ऐसा नहीं, जिसमें आत्मा अव्याप्त है, अतः सृष्टि में आत्मा का मुख-हस्तादिकल्पक प्रवेश भी नहीं हो सकता। सभी विकल्पों का खंडन करने के पश्चात् सुरेश्वर ने अपने अभिमत आभासाख्य प्रवेश का प्रतिपादन किया है। उनका स्पष्ट कथन है **'स्वात्माभासप्रवेशो यः प्रत्यङ् मोहनिबन्धनः। तज्जेष्वपि स एव स्यात् मरुद्बुद्ध यादि मिपषु'। सूत्रादि स्थाणुपर्यन्तं जगत्सृष्ट्वाम्तमागया स्वाभासैक सहायात्मा तदैव प्राविद्धरिः।' 'प्रविष्ट इत्यनेनात्र स्वाभासैक तमोन्वयात्**[415] कि जैसे अज्ञान में प्रत्यक् का आभासाख्य प्रवेश रहता है उसी प्रकार अज्ञान-जन्य सृष्टि के निखिल वस्तुओं में भी परमात्मा का आभासात्मक प्रवेश संभव है। सृष्टि की अव्याकृतावस्था अर्थात् अविद्या कर्म-संस्कारात्मिका साभास-प्रत्यग्वती अविद्या से लेकर सृष्टि को व्याकृत एवं स्थूलावस्था अर्थात् सूत्रादि से स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि में परमात्मा स्वाभास के द्वारा प्रविष्ट है। सुरेश्वर-सम्मत सृष्टि में परमात्मा का आभास संज्ञक प्रवेश सुरेश्वर के आभास प्रस्थान को प्रतिबिम्ब प्रस्थान में व्यावृत्त कर देता है। सृष्टि कार्य में प्रतिबिम्बरूप प्रवेशवादी प्रतिबिम्बवादियों के अनुसार सृष्टि बिम्बभूत ब्रह्म से अभिन्न है इसके विपरीत आभासाख्य प्रवेशवादी सुरेश्वर के अनुसार सृष्टि आभासरूप, काल्पनिक तथा अनिर्वचनीय है क्योंकि आभास अपने आभासी को स्वसमानुरोधि बना लेता है।[416]

४.२.१८ बन्धस्वरूप

स्वरूपानववोध के कारण जीवों के जीवन-मरण तथा अगणित, अनवसेय कर्मफलों की अविच्छिन्न भोग-परम्परा को बन्ध कहा जाता है। सुरेश्वराचार्य ने जीवों के लक्ष्यार्थ भूत शुद्ध बुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म की अनवबोध कारिणी अविद्या को बन्ध कहा है। **'न चाविद्यातिरेकेण मुक्तैर्बन्धोऽन्य इष्यते'।**

---

[415] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक५०८; बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक५१४ तथा

बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक५०१

[416] विवरणादि प्रस्थान विमर्शः पृष्ठ १२

[417] अविद्या को बन्ध मानने के कारण उन्होंने इस (अविद्या) को सकल अनर्थ हेतु का कारण[418] तथा आत्मा का मृत्यु बताया है।[419] एक अन्य वार्तिक में **सर्वाभिमानहेर्तुच चिदाभासं पुराऽवम् ॥ सम्यऽमारक्तदृष्टान्तवन्तुन दर्शनेनाऽऽन्मयवन्तुन ॥** [420] कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि के कारणभूत चिदाभास को भी बन्ध का प्रमुख कारण माना गया है। अज्ञान को बन्ध-कारण मानकर आभास की बन्ध-कारणता स्वीकार करने में सुरेश्वर प्रस्थानानुसार कोई विरोध नहीं क्योंकि उनके मत में अज्ञान का स्वरूप आभास व्यतिरिक्त नहीं यह पहले निरूपित किया जा चुका है। आभास तथा अज्ञान स्वतः बन्ध के कारण नहीं हो सकते प्रत्युत् स्वकार्यात्मक संसाररूप अनर्थ के द्वारा जीवों को बन्धन-ग्रस्त करते हैं।[421] वार्तिककार के ग्रन्थों के परिशीलन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि विविध तथा विचित्र देव तिर्यगादि की आभासात्मक योनियों में जीवों का घटीयन्त्रवत् अविरत परिभ्रमण हो बन्ध है।

४.२.१९ बन्ध हेतु

आचार्य सुरेश्वर के ग्रन्थों में बन्ध के अधोलिखित हेतु उपन्यस्त किये हैं **अविद्या हेतवः कामः काममूला प्रवृत्तयः धर्माधर्मौ च तन्मूलौ देहोऽनर्थाश्रयस्ततः।**[422] (१) अविद्या(२)काम(३)प्रवृत्ति(४)धर्माधर्म तथा (५) देह्।

इन हेतुओं में पूर्व-पूर्व हेतु उत्तर-उत्तर हेतुओं का बीज है। उपर्युक्त हेतुओं की बन्धमूलकता का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने नैष्कर्म्यसिद्धि में कहा है[423] कि घनतर अविद्या रूपी पटल से आवृत, स्वोपाधिभूत अन्तःकरण के कारण जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अशेष कर्माधिकार कारणों को ग्रहण कर विधि-प्रतिषेध की प्रेरणा के संदष्ट से उपदष्ट हो विविध शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है और कर्मानुसार देवत्व कर्मों की अपेक्षा से देव-शरीर, निषिद्ध कर्मों के कारण तिर्यगादि नारकीय शरीर एवं व्यामिश्रित शुभ निषिद्ध दोनों कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य शरीर प्राप्त करता रहता है। कहने का आशय यह है कि शुभ-अशुभ तथा व्यामिश्रात्मक कर्मरूप वायु से समीरित जीव अधम, मध्यम तथा उत्तम सुख-दुःख-मोहरूपी चंचल विद्युत् के संपात की कारिणी नाना प्रकार की तिर्यक, मनुष्य तथा देवादि योनियों में चंक्रमण करता हुआ घटीयंत्र के समान आरोहावरोह न्यायानुसार ब्रह्माधिष्ठानक सूत्रादि स्तम्ब पर्यन्त

---

[417] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, अध्याय ३ ब्राह्मण ३, वार्तिक २३।

[418] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय २ ब्राह्मण ५ वार्तिक १३० तथा अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक १७०

[419] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ४, ब्राह्मण३ वार्तिक ४५२-४५७

[420] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् -- अध्याय ४,ब्राह्मण ३ या० ३७३

[421] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्-- अध्याय ३,ब्राह्मण ५ वार्तिक १२ तथा ९४-९५

[422] तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्यवात्तिकम् -- वार्तिक२६८ पृष्ठ ७३ तथा बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिकम् अध्याय १ ब्राह्मण ४, वार्तिक१६८-७३

[423] नैष्कर्म्यसिद्धिः अध्याय १, पृष्ठ २७

घोर दुःखोदधि भूतः संसार में उसी प्रकार भटकता रहता है जैसे समुद्र मध्यवर्ति शुष्क अलाबु चण्ड, उत्तिपंजलक तथा श्वसन इन विभिन्न प्रकार वाले वायु के वेगों से अभिहित हो निरन्तर चंचल होता रहता है। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते घोर दुःखोदधौ, घटीयन्त्र वदारोहावरोहन्यायेनाधमध्यमोत्तम सुख दुःख मोहविद्युच्चपलसंपातदायिनीविचित्र योनीश्चण्डोत्पिंजलकश्वसन वेगाभिहिताम्भोधिमध्यवर्तिशुष्कवलावुच्छभाशुभव्यमिश्रकर्मवायु समीरितः ॥[424] इस प्रकार अविद्या काम एवं कर्मों के पाशों से बद्ध जीव सदैव जन्म-मरण भाजन होता रहता है। **'घटीयन्त्रवदश्रान्ता एवमेव पुनः पुनः । परिवर्तन्ति संसारे कर्मवायुसमीरिताः' । 'एवं चंक्रम्यमोणोऽयमविद्याकामकर्मभिः | पाशितो जायते कामी म्रियते चानुवावृतः ।'** [425] मरण के बाद पुनर्जन्म होने में कोई विरोध नहीं क्योंकि आचार्य सुरेश्वर के अनुसार जैसे जन्म मरण का बीज है, उसी प्रकार मरण भी जन्म का बीज है। **'मृतिबीजं भवेज्जन्म जन्मबीजं तथा मृतिः'।** [426]

४.२.२० मरणस्वरूप विमर्श तथा देहान्तरप्राप्ति का विचार

आभासवाद में (१) कारणात्मा में संसर्गरूप तथा (२) ज्ञान से ध्वान्त (अज्ञान) निवृत्तिरूप द्विविध मरण स्वीकृत किया गया है। "**अज्ञानिनः स्यान्मरणं संसर्गः कारणात्मनि । ज्ञानद्ध्वान्तनिवृत्तिस्तु मरणं स्याद्विपश्चिताम्" ॥** [427] प्रथम मरण अज्ञानियों से और द्वितीय ज्ञानियों से सम्बन्धित है। स्पष्ट शब्दों में लिंग देह के द्वारा एक स्थूल शरीर का त्याग कर अन्य स्थूल शरीर का उपादान अज्ञानियों का मरण है तथा ज्ञान को अनलाचि से निविडतम अज्ञान की निवृत्ति विद्वत्मरण है। प्रथम मरण में क्रिया कारकादि भेद के प्रत्यस्तमित होने का कोई प्रश्न नहीं, क्योंकि यहां अविद्या - काम तथा कर्म बने रहते हैं, इसके विपरीत द्वितीय मरण में संसृति-प्रवृत्ति हेतुक उक्त कारणों का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस मरण के प्रसंग में हमें अविद्या निवृत्तिरूप द्वितीय मरण का वर्णन अभिप्रेत नहीं, प्रत्युत् लिंगोत्क्रमण रूप प्रथम का वर्णन अभीष्ट है। अतः इस मरण कालिक मुमूर्षु की स्थिति आदि का उपन्यास किया जा रहा है।

४.२.२०.१ मरणोन्मुख जीव की दशा

---

[424] नैष्कर्म्यसिद्धिः, अध्याय १, पृष्ठ २८

[425] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिक अध्याय ६, ब्राह्मण २, वार्तिक१५५ तथा नैष्कर्म्यसिद्धिः अध्याय १, वार्तिक ४२१०-२८

[426] तैतिरीयोपनिषद् भाष्यवार्तिकम्, वार्तिक २९, पृष्ठ ९०

[427] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक१९७३

जब संसारी जीव जरा-रोगादि हेतुओं से दुर्बल ही संमोह अर्थात् विषयों को ग्रहण करने की अशक्ति को **उत्क्रान्ति काले प्राणा वा स्वस्थानादाट्यहेतुका । स्वगोचरेष्वशक्ति र्या संमोहोऽसाविहात्मनः ॥** [428] प्राप्त होता है, उस समय उसके वागादि इन्द्रिय उसके अभिमुख हो जाते हैं। मुमूर्षु जीव का उत्क्रान्ति काल में चक्षुःश्रोत्रादि लक्षणों वाली तेजोमात्राओं का सम्यक् अभ्यादान अर्थात् उपसंहार ही वागादि इन्द्रियों का आत्मप्रत्यभिमुखीभवन है।[429] वागादि प्राणों का जीवात्मा में सम्यक् उपसंहार मरण का कारण है क्योंकि इस अवस्था में जीवात्मा का अंगों से विमोक्षण **उक्तं विमोक्षणं तावत्करणानां स्वदेशतः । असंविज्ञातता चोक्ता हृदये चोपसंहृतिः ॥** [430] हो जाता। सकल इन्द्रियों के हृदय में उपसंहृत हो जाने पर मरण काल में यियाशु पुरुष के हृदय का अग्रभाग प्रद्योतित हो जाता है । चिदाभास विशिष्टमा विदेह सम्बन्धित वासना प्रद्योत पदाभिलप्य है । **भाविलोकात्मिका याऽस्य प्रत्यक्चैतन्यबिम्बिता । वासनैवाऽऽत्मनः प्रोक्ता प्रद्योतवचसा स्फुटम्॥** [431] मरण के षण्मास पूर्व से ही प्रारम्भ होने वाली अहमस्मि इत्याकारक भावि देहाकारात्मिका वासना उत्क्रान्ति काल के समय जीव के हृदयाग्र में उपस्थित हो जाती है[432] । इसके पश्चात् पूर्वोक्त वासना के द्वारा मार्ग दिखाया जाता हुआ लिंग देहगत चिदाभास रूप जीव प्राप्तव्य देह में 'अहम्' इत्याकारक तादात्म्याभिमानी हो कर्मानुसार यथाश्रुत चक्षुरादि के द्वार से हृत्पटलतः उत्क्रान्त हो जाता है। यदि इसके कर्म आदित्यलोक को प्राप्ति कराने वाले होंगे तो लिंगात्म निष्क्रमण चक्षुद्वार से होगा और यदि ब्रह्म लोक की प्राप्ति कराने वाले होंगे तो फिर से उत्क्रमण होगा। इसी प्रकार अन्य प्राप्तव्य लोकों के प्रद्योतित होने पर यह मुखादि अन्य द्वारों से उत्क्रान्त होता है। यद्यपि लिंगात्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, किन्तु उसकी गति लोह एवं समुद्र आदि में भी नहीं प्रतिहत होती है। अतएव इसकी गति सर्वत्र संभव है । **'लिंगं च सर्वतो गच्छन्नक्वचितप्रतिहन्यते ॥ अतिसूक्ष्मस्वभावत्वादपि लोहसमुद्रगम्'।** [433] स्वामी विद्यारण्य ने अपने वार्तिकसार में इस लिंगात्मा की गति के लिए पट सूची की उपमा दी है । **'अतिसूक्ष्मस्वभावत्वात्सूक्ष्मसूची पटे यथा' ॥** [434] पटसूची की उपमा का अभिप्राय यह है कि जैसे सूची किसी भी प्रकार के वस्तु में सद्यः निष्प्रतिपन्न समाविष्ट हो जाता है उसी

---

[428] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक १२

[429] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक १९-२३

[430] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक ७२

[431] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक७८ तथा बृहदारण्यकवार्तिकसारः, अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक २५०-८८३

[432] बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक टीका, पृष्ठ १७३३

[433] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्त्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक ८६

[434] बृहदारण्यकोपनिषद् वार्तिकसार, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक २९ पृष्ठ ८८३

प्रकार लिंगगत चिदाभास रूप जीव भी कर्मानुसार किसी भी शरीर में निर्बाध रूप से प्रविष्ट हो जाता है ।

४.२.२०.२ जीव के देहान्तर-गमन में हेतु

देहाद्वहिर्गत लिंगात्मा के लोकान्तरगमन एवं देहान्तरारम्भ के लिए 'तं विद्या कर्मणी समन्वारभते पूर्व प्रज्ञा च' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४|४१२) इस श्रुति के द्वारा (१) विद्या (२) कर्म तथा (३) पूर्व प्रज्ञा - यह तीन हेतु श्रावित है। आचार्य सुरेश्वर के शब्दों में इन तीनों कारणों का स्वरूप तथा कार्य अधोलिखित है :

(१) विद्या- विज्ञान, संशयज्ञान, मिथ्याज्ञान तथा प्रमाणजन्य अथवा अप्रमाणजन्य सर्वविध जैवज्ञान विद्या पदाभिधेय है । **विज्ञानं संशयज्ञानं मिथ्याज्ञानं अथापि वा । प्रमाणतोऽप्रमाणाद्वा सर्व विद्येति भण्यते ।** [435] उपनिषत्प्रोक्त 'विद्या' पद से यहाँ संसार कारण-प्रंध्वंसि सम्पूर्ण कारणों की अपनुत्तिकारिणी ब्रह्म विद्या अभिप्रेत नहीं है, प्रत्युत् बन्ध हेतुक अज्ञान तथा उसके कार्यभूत मिथ्याज्ञान आदि का ही प्राक्कलन संभव है क्योंकि सुरेश्वर के अनुसार यह विद्या अविद्याजन्य होने के कारण अविद्यारूप है ।[436] इस विद्या अर्थात् अविद्या का कार्य परिच्छेत्तृत्व एवं विनिर्मातृत्व है ।[437] कहने का अर्थ यह है कि इसी अविद्या के द्वारा देहान्तर के रूप परिमाणादि का विनिर्माण होता है।

(२) कर्म - शास्त्र से अथवा अन्य प्रमाण से दृष्ट विषयक अथवा अदृष्ट विषयक वाणी, मन और शरीर से साध्य जो हो, वह कर्म है | **वाऽमनकायसाध्यं च शास्त्रतो यदि वाज्यतः । इटादृष्टार्थरुपं यत्च्च कर्मेति गृह्यते ॥** [438] कर्म का कार्य देहविकर्तृत्व है ।[439] तात्पर्य यह है कि विकार के अवयवों का उपचय इस कर्म से होता है ।

पूर्व प्रज्ञा– क्रियमाण कर्म के चिदाभास विशिष्ट हृदयस्थित संस्कार को पूर्व प्रज्ञा कहा जाता है। स्पष्ट शब्दों में पूर्वोपचित संस्कार हेतुओं के द्वारा मरते हुए जीव के हृदय में पणभासशेष रहने पर ही भाविलोक की परिचायिका 'अहमस्मि' रूप से जो वासना अभ्युदित होती है, वही पूर्व प्रज्ञा है ।[440] पूर्व प्रज्ञा का

---

[435] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्त्तिक,अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक ११२ तथा बृहदारण्यकोपनिषद् वार्त्तिकसार

[436] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्त्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक ११३-११४

[437] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक १२५

[438] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक - अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक ११४

[439] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक - अध्याय ४,ब्राह्मण ४ वार्तिक १२५

[440] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४ ब्राह्मण ४, वार्तिक ११८-२०

कार्य विद्या तथा कर्मों का निर्वहण है, इसीलिए यह विद्या और कर्म की 'सीढी' कही जाती है।[441] इसका एक नाम वासना भी है। मृत के विद्या और कर्म स्वरूपतः नहीं बने रह सकते क्योंकि वहाँ पर कारक भिन्न-भिन्न नहीं रहते। वासनात्मक रूप से उनकी स्थिति सम्भव है और इसीलिए ! वासना का पृथकतः परिगणन किया जाता है।[442] भुज्यमान-कर्म की परिशेषात्मिका भावना जायमान देह की भूल है, अतएव तीनों हेतुओं में इसकी प्रधानता अंगीकृत है। **'कर्मणोभुज्यमानस्य परिशेषो हि भावना ॥ मूलं व जायमानस्थ प्रधानं तेन मण्यते।** [443] इन्हीं तीनो हेतुओं की अपेक्षा से लिंगगत चिदाभास जीव का देहान्तर मे संयोग होता है।

सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिक में लिंगगत चिदाभासरूप जीव के गमन के विषय में अनेक वादियों की विप्रतिपत्तियों को उपन्यस्त किया है :

(१) दिगम्बर मतानुमार जैसे परिच्छिन्न पक्षी एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर चला जाता है उसी प्रकार जीव भी एक देह को छोड़कर देहान्तर की प्राप्ति करता है।[444]

(२) देवतावादियों का कहना है कि (देवता द्वारा) अतिवाहिक देह **'देवता येन देहेन विशिष्टं जीवं परलोकं नयति सोऽयमतिवाहिकी देहः'** । [445] से जीव देहान्तर को प्राप्त कराया जाता है।[446] विद्यारण्य ने वार्तिकसार में इस मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव देवता के द्वारा उसी प्रकार परलोक में ले जाया जाता है। जैसे नाव के द्वारा मनुष्य जल में ले जाया जाता है। **'देहेन यति नावो जलायथा' ॥** [447]

(३) सांख्यादि मतावलम्बियों का विचार है कि शरीरस्थ जीव की संकुचित इन्द्रियाँ मरने पर उसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं तथा देहान्तर के प्रारम्भ होने पर पुनः संकुचित हो जाती है जैसे कुम्भस्य प्रदीप की प्रभा बुझने के समय विकसित (विवद्धित) हो जाती है तथा पुनः जलने पर संकुचित हो जाती है ।[448]

---

[441] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक १२५

[442] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक१२१

[443] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक१२४

[444] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक१२६

[445] आनन्दगिरि टीका,बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकम् पृष्ठ १७४४

[446] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकम् अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक १२७

[447] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक ४९ पृष्ठ ८८७

[448] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक१२७

(४) वैशेषकादि सिद्धान्तों के अनुसार केवल मन एक देह से दूसरे देह में व्रजन करता रहता है क्योंकि आत्मा तो विभु है अतः उसके लिए एक देह से दूसरे देह में जाना संभव नहीं |[449]

उपयुक्त पक्षों का खंडन करते हुए स्वाभिमत ओपनिषद् पक्ष के अनुसार वार्तिककार का कथन है कि वाणी, मन तथा प्राण लक्षणात्मक जो भी करण (इन्द्रिय) हैं, वे सब सर्वात्मक हिरण्यगर्भ और प्राण पर अवलम्बित होने के कारण सर्वात्मक हैं. और प्रति शरीर भिन्न-भिन्न होने के कारण पिंडात्मक अर्थात् व्यष्टिरूप भी हैं। इन इन्द्रियों का आध्यात्मिक और आधिभौतिक परिच्छेद जीवों के कर्म, ज्ञान तथा भावना के फलस्वरूप है। इस प्रकार स्वभावतः सर्वात्मक तथा अनन्त होने पर भी भोक्ता प्राणों के कर्म, ज्ञान और पूर्व प्रज्ञा के अनुसार देहान्तर के आरम्भवश तत्काल में प्राणों की वृति का संकोच या विकास होता है।

सर्वगतानां स्यात्करणानामिहात्मनि ॥श्रुतकर्मानुरोधेन वृत्तिहान्युद्भवौ क्वचित् ॥ [450] 'समः प्लुपिणा समो मशके न' इत्यादि श्रुतियों से भी अविद्या, कर्म तथा पूर्व प्रज्ञा के द्वारा प्राणों के परिच्छेद और विस्तार का समर्थन प्राप्त होता है।[451] करणों का जो भी स्वातन्त्र्य, पारतन्त्र्य तथा अणिमादि ऐश्वर्य है, वह सब विद्या, कर्म तथा भावना हेतुक है । **स्वातन्त्र्यं पारतन्त्रयं वाऽणिमाद्यैश्वर्यमेव वा । करणानामिदं सर्व ज्ञानकर्मादि हेतुकम्** || [452] लिंगगत चिदाभास रूप जीव के देहान्तर-गमन-साधक श्रुति प्रोक्त तृण जलूकान्याय को स्पष्ट करते हुए आभासवादी आचार्य का कहना है[453] कि जैसे एक तृण के अग्रभाग पर स्थित जलूका अपने मुख से तृणान्तर का अवलम्बन करके अपने पूर्वावयव को उत्तरावयव में संहृत कर लेती है, उसी प्रकार लिंगगत चिदाभास का जीव कर्मों के क्षय हो जाने पर पूर्वोपात्त शरीर को निहत कर स्वात्मलिंगोपसंहार के कारण उक्त शरीर को अवेष्ट कर देता है। कथित जड़ शरीर को इस प्रकार संज्ञाशून्य तथा अविद्या में लीन कर भावना-भावित जीव पुनः देहान्तर को प्राप्त करता है। स्पष्ट शब्दों में पूर्व देहस्थ आत्मा अर्थात् लिग का देहान्तर में संहृत होना ही लिंगगत चिदाभासरूप जीव की देहान्तर प्राप्ति है। यह तो रही देहान्तरारम्भ की विधि, किन्तु देहान्तर के आरम्भ में उपादान क्या है? इस प्रश्न का उत्तर तद्यथा- पेशस्कारी पेशसो मात्रापदाय अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते। (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक ४।४।३) इस श्रुति से प्राप्त होता है। श्रुति श्रावित पेशस्कारी दृष्टान्त का अभिप्राय यह है[454] कि जैसे पेशस्कारी अर्थात् स्वर्णकार स्वर्णाश ग्रहण कर पूर्व रचना विशेष का विमर्दन कर उससे भिन्न नवीनंतर तथा कल्याणकर रचनान्तर का निर्माण कर देता है, उसी प्रकार

---

[449] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक१२७

[450] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक १२८

[451] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय-४, ब्राह्मण-४, वार्तिक-१३०

[452] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक-१३१

[453] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय-४, ब्राह्मण-३,वार्तिक १३३-१३६

[454] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय-४, ब्राह्मण-४, वार्तिक १३८-१४६

यह पेश: स्थानीय लिंगात्मा नित्योपात्तभूतों और करणों का उपमर्दन कर दूसरे देहों को अर्थात् पूर्वापेक्षा नवतर और कल्याणकर रूप संस्थान विशिष्ट देहान्तर को पूर्व कर्म तथा प्रज्ञा के आधार पर प्राप्त कर लेता है। इन्हीं कर्म तथा प्रज्ञा में अनुसार पित्र्यादि योग्य पित्र्य शरीरों तथा अन्य बहु रूपात्मक देह-जात को भी प्राप्त करता है। इस मरण के स्वरूपादि के विमर्श से यह नितान्त स्पष्ट है कि जीव कभी भी जन्म-मरणादि से विरत नहीं और यही अविच्छिन्न जन्म-मरण-परम्परा-जीवात्मा का बन्ध है। यद्यपि अविद्या, काम और कर्म के अंकुश से आकृष्ट जीव अनादि काल तक बन्धन-स्त रहता है पर यह अनादि कालिक बन्धन भी आभास प्रस्थान के अनुसार आभासातिरिक्त अन्य कुछ नहीं। तभी तक यह बन्ध सत्य प्रतीत होता है जब तक जीव को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। स्वरूपावगम के पश्चात् इसको निवृत्ति अवश्यसम्भावि है ।

४.२.२१ बन्धन- निवृत्ति के उपाय-

बन्धन निवृत्ति में शांकराद्वैतसम्मत कर्मोपयोगिता बहुत से विद्वानों ने शांकर वेदान्त का आपाततः अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि अद्वैत वेदान्त में लौकिक एवं वैदिक सभी प्रकार के कर्मों के आचरण को सांसारिक बन्धन का हेतु स्वीकार किया गया है और ज्ञान में कर्म का कथमपि उपयोग न होने से मुमुक्षु को कर्मों के न करने का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार के निष्कर्ष से लोगों में यह धारणा बन गई है कि अद्वैत वेदान्त ऐसा दर्शन है जो लोगों को कर्मों के पूर्णतः बहिष्कार का उपदेश देता है तथा संसार को पलायनवादिता का पाठ पढाता है, अतः इसका कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं। पर यदि शांकर वेदान्त का गवेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो निष्कर्षों और धारणाओं को विपश्चितों की बुद्धि की उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं माना जा सकता। अत वेदान्त में कर्मों की उपयोगिता इसी से निश्चित की जा सकती है कि यह शास्त्र सर्वप्रथम शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान का उपदेश देता है क्योंकि इन कर्मों के अनुष्ठान के अभाव में अन्त:करण की शुद्धि असंभव है। अंतःकरण की शुद्धि के अभाव में न तो संजिहीर्षा तो कल्पना की जा सकती है और न मोक्ष के मार्गों का मार्गण ही संभव है। सभी भारतीय दर्शनों के समान अद्वैत वेदान्त में भी कर्मों का उपयोग है। प्रो० हिरियन्ना ने कहा है[455] कि वैराग्य की अभिवृद्धि को आकांक्षा से प्रायः सभी भारतीय दर्शन आचार मार्ग का उपदेश देते हैं। उक्त वैराग्य तक लिए कर्मों का आचरण सभो दार्शनिकों को अभ्युपगत है, भले ही विभिन्न सम्प्रदायों के अनुसार इसका पृथक्-पृथक् रूप से उपयोग बताया गया हो । अद्वैत वेदान्त के लिए इसकी कितनी

[455]"Nearly all the Indian systems of Philosophy teach, on their practical side, the necessity for cultivating Vairagya The reasons assigned for its cultivation may vary in the different systems, but they all agree that it is necessary The need for it, so far the Advaita is concerned, is clear from its inclusion in the fourfold aid to Brahman-knowledge set-forth by Sankara in the very beginning of his commentary on the Vedanta Sutra" The place of Feeling in Conduct Advaita , philosop hical quarterly, Vol XII, page 193, Ls 1-7

अपेक्षा है, यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि शंकराचार्य ने ब्रह्म सूत्र भाष्य के बहुत आरम्भ में ही ब्रह्म ज्ञान के साधन चतुष्टय सम्पत्ति में इसका अन्तर्भाव किया है। 'साधन चतुष्टयान्तःपाति' नित्यानित्यवस्तु विवेक[456] वह साधन है, जिसके साथ कर्मानुष्ठान की अपेक्षा है क्योंकि प्राग्भवीय या ऐहिक या वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से विशुद्ध सत्त्व पुरुष को ही नित्यानित्यवस्तु विवेक होता है - यह अनुभव एवं उपपत्ति सिद्ध तथ्य है । **सोऽयंनित्यानित्यवस्तुविवेकः प्राग्भवीयादेहिकाद्वा वैदिकात्कर्मणो विशुद्धसत्वरयभव त्यनुभवोपपत्तिभ्याम् ।**[457] अतः कहा जा सकता है कि - अद्वैत शास्त्र कर्मों के पूर्णत: बहिष्कार का उपदेश नहीं देता प्रत्युत् उनका उपयोग प्रारम्भिक अवस्था में स्वीकार करता है । कोई भी कट्टर अद्वैत वेदान्ती जो केवल ज्ञान को ही साक्षात्कार का साधन मानता है, वह भी कर्म को गौण या बहिरंग साधनता में विरोध नहीं व्यक्त कर सकता[458] । आभासवादी आचार्य सुरेश्वर केवल सकाम कर्मा का ब्रह्मज्ञान में किंचित् उपयोग नहीं मानते। इसके विपरीत जितने भी नित्य-नैमित्तिक कर्म हैं, उन सबका ब्रह्मज्ञान में आनुपगिक उपयोग स्वीकार करते हैं ।[459] नित्य-नैमित्तिक कर्मों के द्वारा आत्मविशुद्धि अर्थात् सत्त्वशुद्धि होती है, अतएव उन्होंने आत्मज्ञानाभिलाषी मुमुक्षुओं को इन कर्मों के करने का उपदेश दिया है । **'तस्मान्मुमुक्षुभि: कार्यमात्मज्ञानामिलापिभिः ॥ नित्य नैमित्तिक कर्म सवात्मविशुद्धये ॥** [460] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य के नौ वार्तिकों[461] में 'इदं मेऽङ गर्मेनेन' इत्यादि श्रुतियों तथा 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । यथाऽऽ दर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ।' इत्यादि अनेक स्मृतियों को उद्धृत करते हुए उन्होंने अपने इस कथन को प्रमाणित किया है कि कर्मों के द्वारा मनुष्य की बुद्धि की शुद्धि होती है और कर्म विविदिषा के द्वारा ज्ञान में उपयोगी है। कर्मानुष्ठानों की बुद्धि सशुद्धिहेतुता को स्पष्ट करते हुए उनका कहना है **'यस्माद् रजस्तमोमलोपस सृष्टमेव चित्तं काम वडिशेनाकृप्य विषय दुरन्तसूनास्थानेषु निक्षिप्यते तस्मान्नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान परिमार्जनेनापविद्ध रजसस्तमोमलं प्रसन्नमनाकुलं समाजित स्फटिक शिलाकल्पं बाह्यविषयहेतुकेन च रागद्वेषात्मकेनातिग्रहवडिशेनानाकृप्यमाणं विघुताशेषकल्मषं प्रत्यङ्नात्रप्रवणं चित्तदर्पणम तिष्ठते' ॥** [462] कि रजस एवं तमस के मल से उपसंसृष्ट हो चित्त कामवडिश के द्वारा आकृष्ट हो शब्दादि विषयरुप दुरन्त जन्म-मरण हेतुक सुना स्थानों में निक्षिप्त किया जाता है अतः जन नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान के परिमार्जन से चित्त का रजस, एवं तमस, रूप

---

[456] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य, १।१।१ पृष्ठ ३६

[457] भामती, जिज्ञासाधिकरण, पृष्ठ ३६

[458] Even a rigorous advaitin, accepting knowledge alone as the means can possibly have no objection in recognising feeling as a secondary means' J R. V. Murti; The place of feeling in Conduct, philosophical quarterly for 1936-37, Vol xii, page. 209 Ls, 1-3

[459] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय-४, ब्राह्मण-४, वार्तिक १०४०-७०

[460] नैष्कर्म्यसिद्धिः, अध्याय १, कारिका ५०, पृष्ठ ३२

[461] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक १०४२-४९

[462] नैष्कर्म्यसिद्धिः, अध्याय १ पृष्ठ ३०

मन व्यावृत्त हो जाता है, तब वह समाजित स्फटिक-शिला के सदृश प्रसन्न अर्थात् विशुद्ध तथा मनाकुल तथा अचल हो जाता है और बाह्य विषय अर्थात् शब्दादि हेतुक राग-द्वेष रूप अतिग्रह बडिश से आकृष्ट न होने के कारण दर्पण तुल्य अवस्थित हो जाता है। इस रूपकात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से चित्त की सम्पूर्ण चंचलता समाप्त हो जाती है तथा चित्त सम्प्रसादित हो जाता है। मनोलोल्प मनुष्य को इन्द्रियों के वश में रखता है, अतः नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान से चित्त की चंचलता के अभाव में मनुष्य जितेन्द्रिय भी हो जाता है। यह कर्म चित्त को शान्त एवं स्वच्छ बना देते हैं। जिसके द्वारा मनुष्य ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी होता है क्योंकि 'नाशान्तमानसावापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्' (कठोपनिषद् १।२।२४) इत्यादि श्रुतियों से अशान्त चित्तों को ब्रह्मज्ञान का अनधिकारी बताया गया है। नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अतिरिक्त सुरेश्वराचार्य ने निष्काम काम्य कर्मो का भी विविदिषा में उपयोग माना है क्योंकि यह कर्म भी कभी-कभी चित्त के मलों को दूर करते हैं तथा चित्त को सांसारिक सुखादि के प्रति विरक्त कर देते हैं। **यद्वा विविदिषार्थत्वं काम्यानामपिकर्मणाम्।**

तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥ [463] एक स्थान पर उन्होंने संसार को अपामार्ग की लता के समान विरुद्धफलदायक बताया है । **'अपामार्गलतेवायं विरुद्धफलदो भवः । प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय संसाराय परागदृशाम्' ॥** [464] जिससे यह निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि काम्य कर्म भी विरुद्ध फलदायक है। - अर्थात् जैसे अनुलोम स्पृष्ट अपामार्ग लता मृदुस्पर्श से दुःखाभाव को हेतु बनती है और प्रतिलोम स्पृष्ट हो कर्कशता के कारण दुःख की हेतु बनती है उसी प्रकार काम्यकर्म भी अनासक्त चित्त वाले पुरुषों के द्वारा अनुष्ठीयमान होने पर विमोक्षोपयोगी होता है तथा आसक्त चित्त वाले पुरुषों के द्वारा अनुष्ठीयमान होने पर संसार का कारण बन जाता है। प्रतिषिद्ध कर्मों का वर्जन तो कर्मकांड में भी किया गया है फिर ज्ञानकांडात्मक अद्वैत वेदान्त में उसके अभ्युपगम का कोई प्रश्न नहीं। **निषिद्धस्य निषिद्धत्वात्कर्मकांडेऽपि कर्मणः । कुतो वेदान्त विद्यायां तस्य प्राप्तिमवागपि ॥** [465] नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान ब्रह्म साक्षात्कार का सर्वप्रथम सोपान माना गया है। यह शरीर को पवित्र करता है तथा उसे 'ब्राह्मी तनु' बना देता है।[466] कर्मानुष्ठान चित्त की उन सभी मलिनताओं तथा दूषणों को दूर कर देता है, जिसके कारण चित्त जन्म-जन्मान्तर में ज्ञान बहिर्मुख रहा है। कर्मो के इस उपयोग को ध्यान में रखते हुए आचार्य सुरेश्वर कहते हैं कि यज्ञ, दान तथा तप आदि जितने भी सत्कर्म है, उनका परित्याग मुमुक्षुओं को नहीं करना चाहिए। इनके अभाव में शरीर एवं मन इन दोनों की शुचिता असम्भाव्य है। अष्टोत्तर चत्वारिंशत् (४८) संस्कार भी चित्त-संशुद्धि के लिए अपेक्षित है। जब तक कथित नित्यादि

---

[463] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय-४,ब्राह्मण-४ वार्तिक १०५२

[464] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय-१, ब्राह्मण-४, वार्तिक २७

[465] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक१२०४

[466] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ५, वार्तिक१०४९

कर्मों का अनुष्ठान कर चित्त को शुद्ध नहीं बनाया जायगा तब तक भवविरक्ति दुराशामात्र है **'यतोतः कर्मशुद्धात्मा भवादस्मादिवरज्यते' ॥** [467] क्योंकि कर्मों के अनुष्ठान से यह निश्चित होता है कि लोक में ऐसा कोई सुख नहीं, जो दुःखकर नहीं अत: इनका परित्याग करके आत्यन्तिक सुख का आश्रयण लेना चाहिए।[468]

साधन चतुष्टय -

शांकराद्वैत के अनुसार साधनचतुष्टय निम्न है :

(१) नित्यानित्यवस्तुविवेक(२) इहामुत्रार्थफलभोगविराग (३) शमदमोपर तितितिक्षा समाधानश्रद्धा तथा (४) मुमुक्षुत्व।

इन साधनों के सम्बन्ध में सभी शांकरमतानुयायियों का मतैक्य है। अतः इन सबका विवरण अनावश्यक है। (१) शम, (२) दम, (३) उपरति, (४) तितिक्षा, (५) समाधान तथा (६) श्रद्धा के भेद से छः अवान्तर साधनों वाले तृतीय साधन के क्रम एवं स्वरूप के विषय में सुरेश्वराचार्य ने कुछ अन्तर किया है। **दान्तोभूत्वा ततः शान्तस्ततश्चोपरतो भवेत्। अर्थक्रमो बलीयान्स्याद्यतः पाठक्रमादिह ||** [469] उनके अनुसार तृतीय साधन का क्रम और स्वरूप अधोलिखित है-

(१) दमः-बहिष्करण चेष्टा अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के विषयाभिनिवेश की निवृत्ति दम है। **बहिष्करण चेष्टायानिवृत्ततो दान्त उच्यते। दान्तोऽश्वो गौर्गजों वाऽपि प्रयोगस्तत्र वीक्ष्यते ॥** [470] कहने का आशय यह है कि विषयों की ओर उन्मुख होते हुए बाह्य इन्द्रियों के नियंत्रण को सुरेश्वर ने दम माना है। दम का यह अर्थ तथा शम के पूर्व ही दम का आश्रयण भाष्यकाराभिमत नहीं क्योंकि भाष्यकार ने इसे तृतीय साधन के अवान्तर साधनों में द्वितीय माना है तथा इसका स्वरूप अन्तःकरण-तृष्णा-निवृत्ति के रूप में स्वीकृत किया है।[471] सुरेश्वर ने अपनी मान्यता की 'दान्तोऽश्वो गोर्गजो वापि' इस वृद्ध प्रयोग से समर्थित किया है।

(२) शमः- भाष्यकार के अनुसार बाह्य इन्द्रियों का नियमन शम है,[472] पर सुरेश्वराचार्य के अनुसार अन्तःकरण की चेष्टा निवृत्ति शम है। **अन्तःकरण चेष्टाया निवृत्तौ शान्तउच्यते।**

---

[467] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक - अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक७२

[468] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक८४-८६

[469] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, वार्तिक४, वार्तिक१२०३

[470] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक,अध्याय-४, ब्राह्मण-४, वार्तिक १२०५

[471] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक ४|४|२३ पृष्ठ ६५२

[472] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक – ४।४।१२३ पृष्ठ ६५२

शान्तोभिक्षुस्तपस्वीति तत्प्रयोगसमोक्षणात् ॥ [473] 'शान्तो भिक्षुः तपस्वी' इत्यादि प्रयोगों के समीक्षण के आधार पर सुरेश्वर ने शम का यह अर्थ किया है।

(३) उपरति :- सम्पूर्ण कर्म तथा उनके फल का त्याग अर्थात् कर्म तथा कर्म फलों से विरक्ति उपरति है । **द्वन्द्वप्रवाहसंपात सहिष्णुरभिधीयते ॥** [474]

(४) तितिक्षा :- शीतोष्णादि द्वन्द्व-प्रवाह तथा दुर्वचनादि की सहनशीलता तितिक्षा है । **तितिक्षुवचनेनात्र दुरुषतादस्तथैव च ॥** [475]

(५) समाधि :-- इन्द्रिय एवं मनोलोल्य व्यावृत्ति पूर्वक मानसिक एकाग्रता को समाधि कहते हैं ।[476]

(६) श्रद्धा :- लक्ष्य के प्रति अप्रतिहत विश्वास श्रद्धा है ।

इन उपर्युक्त साधनों में प्रथम चार साधन अर्थात् शम से तितिक्षा पर्यन्त ऐसे कर्मों के विषय में हैं जिनको करने या न करने में कर्त्ता स्वतंत्र है, पर अन्तिम दो अर्थात् तितिक्षा एवं समाधि ऐसे कर्मों के विषय हैं जिनके करने में कर्ता का स्वातंत्र्य नहीं है, उनको उसे अनिवार्य रूप से करना पड़ता है ।[477]

मोक्ष के साधनों का पौर्वापर्य विचार

आचार्य सुरेश्वर ने मोक्ष के साधनों को अधोलिखित क्रम में स्वीकृत किया है[478] :-

(१) नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान |

(२) चित्त संशुद्धि |

(३) संसारासारता ज्ञान ।

(४) संसार परिजिहीर्षा ।

(५) एषणावय त्याग ।

---

[473] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक- अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक१२०६

[474] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक१२२६-२७

[475] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक - अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक१२४४

[476] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक - अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक१२४७

[477] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक - अध्याय ४ ब्राह्मण ४ वार्तिक१२४५-४६

[478] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक - अध्याय १, ब्राह्मण ३ वार्तिक९८-९९ तथा अध्याय २ वार्तिक४ वार्तिक२-५ नैष्कर्म्यसिद्धि,अध्याय १ पृष्ठ ३२

आत्मब्रह्मानुलोमेन ह्येषणात्याग इष्यते । साधनं ब्रह्मविद्येव ब्रह्मज्ञानस्य जन्मने ॥[479] कर्मानुष्ठान और एषणा त्याग रूप साधनों में कोई विरोध नहीं क्योंकि पूर्वापरभाव से उनका प्रतिपादन किया गया है। एषणा-त्याग के पश्चात् विविदिषा रूप साधन को समुन्नति होती है और इसके पश्चात् विविदिषा-संन्यास की अवस्था आती है। कर्म चार है **'प्रतिषिद्धं तथा काम्यं चापलं नित्यमेव च'।**[480] **'चापलं प्रामादिकं प्रायश्चित्ताहं कर्म'।** [481] (१) प्रतिषिद्ध (२) काम्य, (३) चापल और (४) नित्य । इनमें से प्रतिषिद्ध तथा काम्य इन दोनों कर्मों का त्याग मुमुक्षू सर्वप्रथम अवस्था में कर देता है और केवल नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करता है। चापल अर्थात् नैमित्तिक कर्म विविदिषा सन्यास के पूर्व त्याग दिया जाता है। नित्य कर्मों का अनुष्ठान भी विविदिषा पर्यन्त ही अभ्युपगत है। कहने की अभिसंधि यह है कि इस विविदिषा सन्यास की अवस्था में सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर दिया जाता है । यह निःशेष कर्म का सौंन्यास वाक्यार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में आरादुपकारक होने के कारण उत्तम साधन माना जाता है । **निःशेष कर्मसन्यासो वाक्यार्थज्ञानजन्मने ॥ तस्याऽऽरादुपकारित्वात् सहायत्वाय कल्प्यते । त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ॥** [482] विविदिषा सन्यास और विद्वत्सन्यास में अन्तर है । प्रथमावस्था में ज्ञान की इच्छा बनी रहती है और दूसरी अवस्था अर्थात् विद्वत्सन्यास ज्ञाता का स्वरूपभूत माना गया है स्पष्ट शब्दों में **विविदिषा सन्यासो धीहेतुर्विद्वत्सन्यासस्तुफलम्** |[483] विविदिषा सन्यास ज्ञान का हेतु है और विद्वत्संन्यास ज्ञान का फल है। सुरेश्वर ने एक स्थान पर कहा है कि आत्मज्ञान समुद्भव के पूर्व का संन्यास ज्ञान का साधन है वही बाद में उत्पन्नात्मक के ज्ञान के रूप में पर्यवसित हो जाता है । **'प्रागात्मज्ञानसंभूतेः संन्यासो ज्ञानसाधनम्** ||
उत्पन्नात्मधियः पश्चाज्ज्ञानमेव हि तत्तथा' ॥[484] इस कथन का अभिप्राय यही है कि विविदिषा सन्यास वाद में विद्वत्सन्यास के रूप में परिणत हो जाता है। यह विविदिषा सन्यास अन्तःकरण को शमदमादि साधन सम्पन्न करने में सहायक होता है। श्रवण मननादि साधनों का स्वरूप बाद में निरूपित किया जायगा ।

---

[479] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४ ब्राह्मण ४, वार्तिक ११०६

[480] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक १२०७

[481] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक टीका, पृष्ठ१९१९

[482] संबन्धवार्तिक, वार्तिक२१४-१५ ; बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ५, वार्तिक२७३; अध्याय ३,ब्राह्मण ५, वार्तिक १०८ तथा
तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य वार्तिक, वार्तिक १०-११ पृष्ठ ४४

[483] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक टीका, पृष्ठ १८१०

[484] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय-४, ब्राह्मण-४, वार्तिक ५४४

४.२.२२ कर्मों को उपयोगिता के विषय में अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास प्रस्थान

अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति मित्र के मतानुसार 'तमेतं वैवानुचनेन बाह्मणा विविदिषन्ति' (२२) इस श्रुति से कर्मों का विविदिषा उपयोग है। **'उत्पत्तौ ज्ञानस्य कर्मापेक्षाविद्यते विविदिषोत्याद द्वारा | विविदिषन्ति यज्ञेन इति श्रुतैः' तथा 'यज्ञादीनि विविदिषायां विनियजनो ।'**[485] पंचपादिका विवरणकार प्रकाशात्ममुनि के अनुसार कर्मरूप से ब्रह्मविद्या में सहायक होता है, पर कर्म का यह साचिव्य में प्रत्यक्ष नहीं प्रत्युत् परोक्ष है। नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठानो के द्वारा संस्कृतात्मा जब श्रवण मनन-ध्यानाभ्यासादि ज्ञान साधनों का सम्पादन कर लेता तब संस्कारावस्थापन कर्म सहकारि विशेष होकर आत्मज्ञान की अवतारणा कराते है। **'नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठानैः संस्कृतस्य आत्मनो यदि श्रवणमननध्यानाभ्यासादीनि ज्ञानसाधनानि सम्पद्यन्ते तदा संस्कार कर्माणि सहकारि विशेषात् आत्मज्ञानमवतारयन्ति'।**[486] आचार्य सुरेश्वर ने भी अपने आभास प्रस्थान मे वाचस्पति के समान कर्मों का उपयोग विविदिषा मात्र पर्यन्त लाता है।[487] उनका कहना है कि चित्तबुद्धि के द्वारा बुद्धि में विविदिषा, वैराग्य तथा प्रावण्य प्राप्त कराने के पश्चात् कर्म उसी प्रकार समाप्त हो जाते है, जैसे के प्रावृट् काल के पश्चात् मे (समाप्ति हो जाती है)।[488] इन तीनों प्रस्थानों की पर्यालचन से यह प्रकट को होता है कि अवच्छेद तथा आभास प्रस्थान कर्मों को केवल विविदिषार्थक मानता है तथा प्रतिबिम्ब प्रस्थान अनुष्ठित कर्म के संस्कारों को परोक्ष रूप से विद्यार्थक मानता है। विद्यार्थता पक्ष तथा विविदिषा पक्ष में अन्तर है। कर्मों के विद्यार्थत्व पक्ष में श्रवण मनन ध्यानाभ्यास आदि सहकारि कारणों की सम्पत्ति के पश्चात् ही संस्कार विज्ञान सिद्धि करता है. श्रवणादि साधनों के किए जाने पर केवल अभ्युदयकारक होता है,[489] इसके विपरीत विविदिषार्थत्व पक्ष में जिस पक्ष में कर्मों का प्रयोजन केवल ब्रह्मज्ञान की इच्छा पैदा करना है केवल श्रवणादि में प्रवृत्ति कराने वाली समर्थ उत्कटेच्छा के सम्पादन मात्र से कर्मों की कृतार्थता है। **अयंभेदः— कर्मणां विद्यार्थत्वपक्षे द्वारभूतविविदिषासिद्धयन्तरमुपरतावपि फलपर्यन्तानि विशिष्ट गुरुत्वामान्निर्विघ्न श्रवणमननादिसाधनानि निवृत्तिप्रमुखानि सम्पाद्य विद्योत्पादकत्व नियमोऽस्ति । विविदिषार्थत्वपक्षे तु श्रवणादिप्रवृत्ति जननसमर्थोत्कटेच्छासम्पादन मात्रेण कृतार्थतेति नाऽवश्यं विद्योत्पादकत्वनियमः ।** [490] कहने

---

[485] भामती,८०२, पंक्ति ५-६ तथा भामती, पृष्ठ० ९

[486] पंचपादिका विवरणं, तृतीय वर्णक, पृष्ठ ५४०

[487] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्त्तिक,अध्याय-४, ब्राह्मण-४, वार्तिक ११६०,१०५१-५२, १०२४-२६; नैष्कर्म्यसिद्धि अध्याय-१, कारिका ५०-५१,

पृष्ठ-३२

[488] नैष्कर्म्यसिद्धि; अध्याय-१,कारिका ४९, पृष्ठ ३१

[489] पंचपादिकाविवरण, तृतीय वर्णक, पृष्ठ ५४६

[490] सिद्धान्त लेशसंग्रह, पृष्ठ ४२२

का अभिप्राय यह है कि प्रतिबिम्ब प्रस्थान में कर्मों की विद्यार्थता अवश्य है, इसके विपरीत अवच्छेद तथा आभास प्रस्थान में कर्मों का उपयोग केवल विविदिषा में है, इसके बाद उनके संस्कारात्मना अवस्थित रहने का प्रश्न नहीं।

४.२.२३ कर्म के द्वारा मोक्षसिद्धान्त

पूर्व-मीमांसा दर्शन मोक्ष को केवल कर्म के द्वारा प्राप्य मानता है। इन मीमांसकों का विचार है कि कर्म मनुष्य को केवल बंधन-ग्रस्त ही नहीं करते, प्रत्युत् मनुष्य के जन्म-मरणात्मक बन्धनों की निवृत्ति भी करते हैं। कर्मों से मोक्ष प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है। मोक्षार्थी को काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का त्याग कर देना चाहिए, पर नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों को कभी भी त्याग न करके विधिपूर्वक अनुष्ठान करते रहना चाहिए। 'कुर्वन्नेहकर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः'[491]। इस श्रुति से भी कर्मों के यावज्जीवन अनुष्ठान का उपदेश मिलता है। जैसे काम्य एवं प्रतिषिद्ध कर्मों के न करने से प्रत्यवाय होता है उसी प्रकार नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों के न करने से भी प्रत्यवाय होता है। अतः मुमुक्षु को प्रत्यवाय से बचने के लिए काम्य तथा प्रतिषिद्ध कर्मों के त्याग के समान नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है। काम्य तथा प्रतिषिद्ध कर्मों के न करने से तथा नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से मोक्ष कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मीमांसकों का कहना है कि काम्य कर्मों के न करने से मुमुक्षु को देवत्व आदि को प्राप्ति कराने वाले पुण्यों का उदय न होगा, निषिद्ध कर्मों के न करने से पापाभाव के फलस्वरूप नारकीय योनि की प्राप्ति नहीं हो सकेगी तथा जिन पुण्य तथा पाप के कारण सुख-दु:खदायक यह वर्तमान शरीर है, उसका भोग-क्षय मात्र से अवसान हो जायगा। नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से पुण्य तथा पाप के संचय का कोई प्रश्न नहीं इस प्रकार पुण्य तथा पाप किसी भी प्रकार के अदृष्ट के संचित न होने से उनके फल का भी अभाव हो जायगा तथा उनके भोग के लिए शरीर धारण की आवश्यकता नहीं होगी। अतः वर्तमान शरीर के अवमानान्तर कर्मफलनिःशेषता हो चुकने के कारण मोक्ष हो जायगा।

४.२.२३.१ कर्म के द्वारा मोक्ष सिद्धांत का खंडन

आभासवादी सुरेश्वराचार्य ने प्रदर्शित पक्ष का उपहास करते हुए कहा है[492], कि कर्म से मोक्ष प्राप्ति का वचन वही दे सकते हैं, जिनका अन्तःकरण स्वोत्प्रेक्षा से उपवृहित है, जिनका ज्ञान यागादि धूम से कलुपित तथा प्रतिबद्ध है और जो केवल इसीलिए हृष्टचित्त है कि पुत्र-पशु, वित्तादि के परित्याग एवं

---

[491] ईशावास्योपनिषद् २

[492] नैष्कर्म्यसिद्धिः, अध्याय १, कारिका २२, पृष्ठ १५

बहुलायास-साध्य ज्ञान के बिना कर्म से ही मुक्ति मिल जायगी। कर्म से मोक्ष प्राप्ति का उन्होंने बहुधा खंडन किया है। सर्वप्रथम पूर्वपक्षी से सुरेश्वर ने यह प्रश्न किया है कि कर्मों से होने वाले जीव के मोक्ष का स्वरूप क्या है ? यदि मोक्ष का स्वरूप आप जीव का स्वरूपावस्थान मानते हैं तो पुनः यह प्रश्न होता है कि जीव स्वरूपावस्थान के पूर्व स्व स्वरूप में स्थित है या नहीं ? यदि जीव स्वरूप में अवस्थित है तो फिर कर्म रूप हेतु के मार्गण की क्या आवश्यकता ? यह लोक सिद्ध है कि गन्तव्य ग्रामगत पुरुष पुनः उसी ग्राम में जाने की चेष्टा नहीं करता। इसके विपरीत यदि जीव को स्वरूपानवस्थित मानते है, तब यह कहना उपयुक्त नहीं कि कर्मों के द्वारा जीव को स्वरूपावस्थान रूप मोक्ष प्राप्त हो जायगा क्योंकि यदि जीव स्वतः स्वरूप में स्थित नहीं, तो उसकी प्राप्ति कर्म से उसी प्रकार नहीं की जा सकती जैसे बहुलायास करने पर भी न चन्द्रमा को उष्ण किया जा सकता है और न रवि को शीतल।[493]

यदि यह कहा जाय कि कर्मानुष्ठान जीव के लिए स्वाभाविक है तो उपयुक्त नहीं क्योंकि मोक्षावस्था में भी कर्म के अनुष्ठान का प्रसंग होने से जीव के अनिर्मोक्ष की प्रसक्ति होगी तथा बन्ध और मोक्ष में कोई अन्तर नहीं रह जायगा।[494] यदि पूर्व पक्षी यह कहे कि कर्मानुष्ठान स्वाभाविक नहीं किन्तु जीव के विषयाभ्यास जन्य अस्वास्थ्य के अपनोदन के लिए है, तो प्रश्न यह है कि जीव का यह विषय सम्पर्क किस कारण से होता है ? यदि यहां मीमांसक कहे कि अकस्मात् ही जीव का विषय से संसर्ग हो जाता है तो उपयुक्त नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर विषयाभ्यासजन्य अस्वास्थ्य की प्रसक्ति मुक्ति में भी हो जायगी तथा जीव के अनिर्मोक्ष का समापतन हो जायगा।[495] यदि यह कहा जाय कि असंग स्वभाव जीव के उक्त सम्पर्क में धर्म और अधर्म कारण है, तो भी संगत नहीं क्योंकि जैसे भल्लातक फल घवल वस्त्र को दूसरे रंग में रंग देता है, उस प्रकार धर्माधर्म असंग जीवात्मा का विषय से सम्पर्क नहीं करा सकते। कुशल भी कुलाल अघटादि स्वभाव नभ को घट नहीं बना सकता और न वायु अग्नि में शीतलता उत्पन्न कर सकता है।[496] यदि यह कहा जाय कि जीवात्मा स्वभाव से कर्ता-भोक्ता रूप है, तो उपयुक्त नहीं क्योंकि ऐसी स्थिति में उसकी मुक्ति की वार्ता निराधार हो जायगी। जैसे सूर्य का औष्ण्य नहीं बदला जा सकता, उसी प्रकार किसी भी पदार्थ के स्वभाव को नहीं हटाया जा सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वाभाविक है तो यह सदैव बना रहेगा तथा जीव के मोक्ष की सम्भावना दुराशामात्र हो जायगी कर्तृत्व भी बना रहे और मोक्ष भी सिद्ध हो जाय, यह असम्भव है।[497] मीमांसक यदि यह कहें कि कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के कार्य रूप से स्थित रहने पर जीवात्मा बन्धन- ग्रस्त होता है तथा जब कर्तृत्व-भोक्तृत्व शक्तिमात्रतया स्थित रहते हैं तब जीव मोक्ष-लाभ करता है क्योंकि शक्ति मात्र से स्थित रहने पर उनमें अनर्थ उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती, तो

---

[493] सम्बन्ध वार्तिक, वार्तिक ४७-४९

[494] सम्बन्ध वार्तिक, वार्तिक ५०

[495] सम्बन्ध वार्तिक, वार्तिक ५१-५२

[496] सम्बन्ध वार्तिक, वार्तिक ५३-५४

[497] सम्बन्ध वार्तिक, वार्तिक ५५-५७

सन्तोषजनक नहीं क्योंकि सुरेश्वर का कहना है कि शक्ति और कार्य न एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न है, न पूर्णतः अभिन्न हैं और न भिन्नाभिन्नमय रूप से आत्मा में स्थित है, अतएव दोनों अनिर्वाच्य हैं। यदि शक्ति और कार्य को एक दूसरे से पूर्णत: भिन्न माना जाय तो 'इयं शक्तिरिदं च कार्यम्' यह व्यवस्था अनुपपन्न हो जायगी और कारण तथा कार्य का सम्बन्ध समाप्त हो जायगा क्योंकि परस्पर दो भिन्न वस्तुओं (जैसे याग तथा अश्व) का कारण और कार्य के रूप में योग नहीं बन सकता। शक्ति और कार्य को एक दूसरे से अभिन्न भी नहीं माना जा सकता क्योंकि अभिन्न होने पर एक ही वस्तु में कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता तथा कार्य के नष्ट होने पर तदभिन्न कारण भी नष्ट हो जायगा । कार्य-कारण दोनों के नष्ट हो जाने से बौद्ध सम्मत 'नैरात्म्यवाद' प्रसक्त होगा ।[498] कहने का अभिप्राय यह है कि कार्य या शक्ति किसी भी रूप में कर्तृत्व-भोक्तृत्व के बने रहने पर मोक्ष असंभव होगा। यदि यह कहा जाय कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व का नाश नहीं, प्रत्युत् कर्तृत्वादि की अनभिव्यक्ति मोक्ष है, तो भी उपयुक्त नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य के कारणभूत धर्म और अधर्म आदि मोक्षकाल में भी नहीं समाप्त होंगे। कारण तथा उसके कार्य के बीच एक प्रकार का शक्तिरूप संबंध है जो कारण और कार्य को वह्नि और औष्ण्य के समान सम्बन्धित रखता है, अतः जब शक्तिभूत धर्माधर्म तथा उसके कार्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि मोक्ष में भी अविच्छिन्नतया स्थित हैं तब जैसे अग्नि से औष्ण्य सदैव उत्पन्न रहता है उसी प्रकार धर्माधर्म से तत्कार्यभूत कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि क्यों नहीं उत्पन्न होता- इस विषय में कोई तर्क नहीं । यदि कार्य-कारणतंत्र हो तो सदैव कारण स्थिति होने से कार्य की निदाध में धूप के समान सदैव उत्पत्ति होती रहनी चाहिए और यदि कार्यशक्ति-निरपेक्ष हो तो शक्तिमान् अर्थात् कारण के बिना वह उसी प्रकार नहीं उत्पन्न हो सकेगा जैसे ग्रीष्मकाल में शीत नहीं होता ।[499] कार्य-कारणतंत्र होने पर यह इसका कार्य है, यह अभिधान भी अनुपपन्न हो जायगा।

कर्म के द्वारा मोक्ष-सिद्धान्त व्यावहारिक भी नहीं है। सुरेश्वर का कहना है कि प्रयत्नशीन तथा ध्याननिष्ठ कुशल पुरुष भी राग-द्वेष तथा लोभादि दोषों से अनिवृत्त होने के कारण काम्य तथा प्रतिषिद्ध कर्मों के वर्णन में समर्थ नहीं हो सकते । अत्यन्त सावधान पुरुष के द्वारा भी सूक्ष्म अपराध की संभावना की जा सकती है ।[500] यह सूक्ष्म अपराध आजीवन संपादित कर्मों को असफल कर देगा क्योंकि कर्म कैसा भी हो स्वफल देगा ही । कर्म के द्वारा मोक्ष-सिद्धान्त में पद-पद पर प्रत्यूह है। अतः कोई भी विवेका ऐसा नहीं होगा कि श्रेय के इस अनिश्चित पथ पर चलने की कामना करेगा । कर्म के द्वारा मोक्ष केवल अदृष्ट पर अवलम्बित है, मनुष्य के प्रयत्नों पर नहीं, अतः आचार्य सुरेश्वर ने इसे 'दैवगोचर'[501] कहा है । मनुष्य के प्रयत्नों के पश्चात् यदि मोक्ष मिल भी जाय तो मोक्ष स्वरूप नित्य नहीं

[498] सम्बन्ध वार्तिक, वार्तिक ५९-६४

[499] सम्बन्ध वार्तिक, वार्तिक ६५-६९

[500] सम्बन्ध वार्तिक, वार्तिक ७०-७१

[501] सम्बन्ध वार्तिक, वार्तिक७४-७५

हो सकता। सुरेश्वर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अप्रज्ञातात्मतत्त्व यदि अनन्तकालपर्यन्त दिवानिश महत् शुभ कर्म करता रहे तब भी उसे आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं प्राप्त हो सकती क्योंकि यह कर्मफल भोग के कारण प्रतिक्षण अन्तवत् है, अतः निश्चय ही मोहादिकों के समान अपचय भाजन हो जायगा जगत् में यह अत्यन्त प्रसिद्ध है कि कृत का क्षय होता है अकृत का नहीं।

'अप्रज्ञातात्मतत्त्वः सन्यदि नाम दिवानिशम् ॥
कल्पकोटि सहस्राणि कुर्यात् कर्म कहच्छुभम् ॥
तदप्यस्य तथाभूतमन्तवत्वात्प्रतिक्षणम्।
विध्वंसमेत्यपचयात्कोष्ठागारादिवत्ध्रुवम् ॥
कृतस्य हि क्षयो वश्यमकृतस्याक्षयात्मता ॥
प्रसिद्धातीव जगति श्रुत्येवं तेन भण्यते' ॥[502]

कर्म-कृत-मोक्ष भाग्याधीन आकस्मिक होते हुए भी क्षय युक्त है, अतः कोई भी बुद्धिमान पुरुष यह नहीं चाहेगा कि मैं उस मार्ग का अवलम्बन करूं, जहाँ की सफलता केवल आकस्मिक और भाग्याधीन ही नहीं, प्रत्युत् भोग के साथ समाप्य भी है।

४.२.२४ विधियों का ब्रह्मज्ञान में अनुपयोग

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/५ तथा ४/५/६) आदि श्रुतिवाक्यों से कुछ महाधी मीमांसक ज्ञान में अपूर्वविधि मानते हैं, कुछ नियम विधि मानते हैं और कुछ परिसंख्या विधि मानते हैं। **'केचिद्व्याचक्षतेऽपूर्व विधिमेतं महाधि यः ॥ नियमेत्वपरे धीराः परिसंख्यामथापरे ॥'** [503] इन विधियों का स्वरूप अघोलिखित है **'विधिरत्यन्तमप्राप्तो नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्यति गीयते'।।सिद्धान्तलेश संग्रहः** [504]

(१) अपूर्वविधि - किसी भी दूसरे प्रमाण से जो नहीं प्राप्त है, उसकी प्राप्ति कराने वाली विधि अपूर्वविधि है। यथा- 'व्रीहीन् प्रोक्षति'। यहाँ व्रीहियों का प्रोक्षण रूप संस्कार नियोग के बिना अन्य किसी मानान्तर से नहीं प्राप्त था, किन्तु 'व्रीहिन्प्रोक्षति' इस नियोग परक वाक्य से व्रीहि-प्रोक्षण प्राप्त हो गया, अतः इस वाक्य में अपूर्वविधि है।

(२) नियम विधि - पक्ष प्राप्त के अप्राप्त अंश की परिपूर्त्ति कराने वाली विधि नियम विधि है। यथा 'व्रीहीनवहन्ति' (अर्थात् तंडुलनिष्पत्ति के लिए मूसल से व्रीहियों का अवघात करे) यहाँ विध्यर्थ का

---

[502] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्त्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक १६८०-८२

[503] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ७५१ तथा अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक १४६

[504] ज्ञानोत्म कृत नैष्कर्म्यसिद्धिः व्याख्या, पृष्ठ ५० तथा, प्रथमपरिच्छेद, पृष्ठ ४-९

यदि अभाव भी होता तब भी आक्षेपवश नखविदलनादि से तंडुल-निष्पत्ति की प्राप्ति हो जाती पर 'अवहन्ति' के द्वारा मूसलावघात रूप अप्राप्त अंश का विधान हो गया। अतः इस वाक्य में नियम विधि है। अपूर्वविधि से नियमविधि में यह वैशिष्ट्य है कि नियमविधि में श्रुति के बिना भी अन्य प्रमाण से एक पक्ष में क्रिया प्राप्त रहती है, यथा उपर्युक्त उदाहरण में अर्थापत्त्या 'नखविदलन' रूप विधि की प्राप्ति होती पर अपूर्वविधि में ऐसा नहीं होता प्रत्युत् पूर्णतः अप्राप्त की विधि की जाती है।

(३) परिसंख्या विधि - दो शेषियों अर्थात् अंगियों में एक शेष (अंग) की नित्यप्राप्ति होने पर दूसरे शेष की व्युदास करने वाली विधि को परिसंख्या विधि कहा जाता है। एक शेषी से दो शेषों को नित्यप्राप्ति होने पर अन्य शेष की निवृत्ति करने वाली विधि भी परिसंख्याविधि है । 'इमामगृम्णन्नरशनामृतस्येत्ययश्वाभिधानोत्सादत्ते' आादि मंत्रों में परिसंख्या विधि मानी जाती है। अग्निचयन के प्रसंग में 'अश्वरशनाग्रहण' तथा 'गर्दभरशणनाग्रहण' दोनों अनुष्टेय होता है। अतः जब अग्नि-चयन के प्रसंग में 'इमागगृणन्' यह मंत्र पढ़ा जाता है तब 'रणनाग्रहण' के प्रकाशनसामर्थ्य रूप लिंग मे अश्व और गर्दभ इन दोनों शेषियों में 'रशना' इस शेष की प्राप्ति होती है पर जब 'अश्वामिधानीमादत्ते' कहा जाता है तब परिसंख्या विधि से गर्दभरशणनाग्रहण की व्यावृत्ति हो जाती है । यद्यपि नियमविधि में भी नखविदलनादि की निवृत्ति होती है, पर इस नखविदलनादि की निवृत्ति अप्राप्तअंश के परिपूर्ण करने पर होती है। इसके विपरीत परिसंख्या विधि में दो नित्य प्राप्त के अप्राप्त अंश का परिपूर्ण नहीं हो सकता, केवल एक की निवृत्ति होती है। यह दोनों अर्थात् नियमविधि और परिसंख्या विधि का अन्तर है।[505]

विधियों का खंडन - श्रुतिवाक्यों में अपूर्व नियम या परिसंख्या कोई भी विधि नहीं मानी जा सकती। **'नात्रापूर्वविधिः प्राप्तेरनन्योपायतो न च । नियमः परिसंख्या वा श्रवणादिषु संभवेत्' ।**[506] श्रुतियों में विधि संस्पर्श नहीं माना जा सकता। सुरेश्वर ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर विधि का वर्णवान में अनुपयोग सिद्ध किया है।[507] उनका स्पष्ट कथन है कि आत्मा ज्ञान कूटस्थ एवं वस्तु-तंत्र है । **'आत्मज्ञानस्य कूटस्थवस्तुतन्त्रत्वहेतुतः' ।** [508] वस्तुतंत्र होने के कारण आत्मज्ञान का नित्यत्व स्वतः सिद्ध है।[509] आकाश कुसुम के समान जिन वस्तुओं का नित्य-भवन नहीं अथवा आकाश के समान जिनकी नित्यभूतता सिद्ध है, ऐसी वस्तुओं की क्रियमाणता कथमपि युक्तिसंगत नहीं, **नित्यं**

---

[505] कल्पतरुपरिमल, पृष्ठ ९२०

[506] कल्पतरुपरिमल, पृष्ठ ९२९

[507] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २,ब्राह्मण ४, वार्तिक ११५-९०; अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ७५२-८५८; संबंधवार्तिक, वार्तिक १९०-

३१२,४१२-१३ तथा नैष्कर्म्यसिद्धि,अध्याय १, पृष्ठ ५०

[508] संबंध वार्तिक, वार्तिक १६८

[509] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक,अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक १११

भवनं यस्य यस्य वा नित्यभूतता ॥ न तस्य क्रियमाणत्वं खपुष्पाकाशयोरिव ॥ [510] अतः उनमें विधि-विधान अनर्थक है । आत्म-ज्ञान आकाश के समान नित्यसिद्ध है, अतः उसमें विधि नहीं हो सकती। यदि आत्मज्ञान पुरुष तन्त्र होता तो उसमें विधि को प्रवृत्ति हो सकती थी, पर यह अनृतंत्र है अतः इसमें विधि का उपयोग उसी प्रकार नहीं माना जा सकता है जैसे बन्ध्या के पुत्र को उत्पत्ति में कोई भी विधि इष्ट नहीं होती । **'अतोऽपुरुषतन्त्रत्वान्नाऽऽत्मज्ञाने विधिमंवेत्' ॥ अनृतन्त्रे विविर्नेष्टो वन्ध्यापुत्रोद्भवेयथा ॥ मातृतन्त्रे तथैवायं न विधिः प्रत्यगोक्षणे ॥** [511] आत्मैक्य बोध में अज्ञानातिरिक्त अन्तराय नहीं ।[512] विधि अज्ञान का कार्य है। कार्य कारण का विनाश करता हो, यह कभी न सुना गया है और न देखा गया है, अतः विधि को अपने कारणभूत अज्ञान के बाध में प्रभविष्णुता नहीं हो सकती। केवल यथास्थित आत्मवस्तुल्य ज्ञान-अज्ञान के अपनोदन में समर्थ है अतएव त्रयी के अन्त अर्थात् वेदान्त में कहीं भी आत्मज्ञान के लिए विधि का समर्थन नहीं प्राप्त होता । **यथास्थितात्मवस्तूत्थ ज्ञानं मुक्त्वा तमोहनुतो । नान्यो हेतुर्यतस्तस्मान्न त्रयूयन्ते विधिः प्रभा ॥** [513] आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान कोई वह अवस्था नहीं जो जीव के द्वारा वस्तुतः प्राप्त की जाती है क्योंकि जीव सदैव शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म स्वरूप है। यह केवल अविद्या है जिसके कारण जीव का स्वरूप अप्राप्त सा तथा अज्ञात सा रहता है। अज्ञात एवं अप्राप्त की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार की क्रिया या विधि की आवश्यकता नहीं केवल अज्ञान-निवृत्ति की आवश्यकता है । अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर अप्राप्त स्वतः भासित होने लगता है। द्रष्टा का स्वात्मसमीक्षण रूप आत्मज्ञान सदा संप्राप्त है, अतः उसमें विधि अनर्थक है । **क्रियाविरोधः प्राप्नोति द्रष्टुः स्वात्मसमीक्षणे । तदृष्टेर्नित्यसंप्राप्तेवि ध्यार्थक्य संगते ॥** [514] इस प्रकार के सदा संप्राप्त आत्मज्ञान में विधि की कल्पना नहीं की जा सकती और यदि हठात् इसकी कल्पना कर भी ली जाय तो आत्मज्ञान में उसका अनुपयोग होने के कारण विधि का आनर्थक्य प्राप्त होगा क्योंकि विधि के (१) उत्पत्ति(२) आप्ति (३) संस्कार और (४) विकार - यह चार फल माने जाते हैं जब कि आत्मज्ञान से प्राप्त होने वाली मुक्ति इन चारों प्रकार के विधि फलों से विलक्षण है ।[515] आत्मा व्रीह्यादि प्रोक्षण के समान कालत्रय में प्राप्त नहीं प्रत्युत् नित्य मुक्त स्वभाव, स्वतः सिद्ध एवं सदैव संप्राप्त है, केवल अज्ञान के कारण अप्राप्त सा प्रतिभासित हो रहा है अतः उसके ज्ञान में अपूर्व विधि का नियोग नहीं किया जा सकता । **नाऽपूर्वविधिरित्येष कदाचिदपि गृह्यते ।**

---

[510] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक,अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक११६

[511] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक – अध्याय २,ब्राह्मण ४, वार्तिक१२१ तथा बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक -अध्याय २,ब्राह्मण ४, वार्तिक१४३

[512] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक - अध्याय १,ब्राह्मण ४,वार्तिक १४४९; तथा अध्याय २,ब्राह्मण ४, वार्तिक ४३६

[513] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक,अध्याय २, ब्राह्मण ४,वार्तिक१५१

[514] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २,ब्राह्मण ४,वार्तिक१३७

[515] सम्बन्धवार्तिक, वार्तिक २३५-३६

सर्वदेव तु तत्प्राप्तेस्तथा नान्योऽपि कश्चन ॥ [516] ऐकात्म्यदर्शन में ज्ञान की प्राप्ति मूसलाघात किं वा शेषद्वय या शेषिद्वय में से किसी एक शेष या शेषि की पाक्षिकी प्राप्ति के समान नहीं विवक्षित है अत: आभासवादी आचार्य सुरेश्वर के अनुसार नियम या परिसंख्या विधि भी अद्वैत तत्त्व के ज्ञान में उपपन्न नहीं। **यतोऽतः पाक्षिकी प्राप्तिर्नेहास्यैकात्म्य दर्शने ॥ नियमः परिसंख्या वा न तेनेहोपपद्यते ॥** [517]

साध्य-साधन के बोध में उपर्युक्त किसी भी विधि का प्रामाण्य भले संभव हो किन्तु अतीन्द्रिय, प्रमाणाविषय, स्वतः सिद्ध, साध्य-साधन व्यपास्तअद्वयतत्त्व के ज्ञान में विधि की अपेक्षा नहीं। उक्त अक्षाद्यविषय आत्मज्ञान केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१०) तथा 'तत्त्वमसि' (छान्दग्योपनिषद् ६।८।७) इत्यादि अभिधा श्रुतियों के द्वारा बोधित होता है।[518] ऐकात्म्य स्वतः सिद्ध है, अतः उसमें क्रिया की अपेक्षा नहीं। भावना क्रियाश्रित रहती है अतः क्रिया के न रहने से ऐकात्म्य के प्रति भावना का अभाव सिद्ध है। भावना के विरह में आत्मज्ञान के प्रति विधि-प्रामाण्य भी खंडित हो जाता है। अतः स्वतः सिद्ध अर्थ की बोध कराने वाली केवल उक्त अभिधा श्रुतियों का प्रामाण्य आत्मज्ञान में सुरेश्वर के द्वारा स्वीकृत है

ऐकात्म्यस्य स्वतः सिद्धेर्न क्रियाऽपेक्ष्यते यतः।
ततश्च भावनाभावो भावनायाः क्रिया श्रयात् ॥
विरहे भावनायाश्च न विधेस्तत्र मानता ||
स्वतः सिद्धार्थबोधित्वादमिधायास्तु मानता। [519]

लोकवर्त्म का आधार लेकर यदि यह आशंका की जाए कि तत्त्वमस्यादि अभिधा श्रुति अप्रमाण है तथा 'सरित्तीरे फलानि' इस उक्ति के समान इन विधि विरहित अभिधा श्रुतियों के पदों की संहृति अनुपपन्न है (क्योंकि पद संहृति सर्वत्र आख्यातहेतुक माना जाता है); तो उपयुक्त नहीं क्योंकि आचार्य सुरेश्वर का कहना है कि इन तत्त्वमस्यादि अभिधा श्रुतियों में भी 'अस्ति' और 'अस्मि' इत्यादि आख्यात पद अन्तर्गत है, अतः पदसहित हो जायगी। **आख्यातपदसद्भावात्स्यादेव पदसंहतिः ॥ अस्यसम्पाद्याख्यातपदमस्त्येवेहामिधा श्रुतौ ॥** [520] पदान्वय केवल क्रिया की आकांक्षा करता है, विधि की नहीं, और यह क्रिया पद इन अभिधा श्रुतियों में सुलभ है फिर पदान्विति न होने का कोई प्रश्न नहीं है **'पदान्वयः क्रियामात्रमाकांक्षति विधि न तु ॥ अस्त्यस्यस्मीत्येवमादि सुलभं तु क्रियापदम् ॥** [521] इन 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य रूप अभिधा श्रुतियों के श्रवण समनन्तर 'अंश ब्रह्म' यह अलौकिकी प्रभा उपजात होती है अत: इन अभिधा श्रुतियों को प्रमाण नहीं माना जा सकता, हाँ

---

[516] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ७५२

[517] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २,ब्राह्मण ४,वार्तिक १४६

[518] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २,ब्राह्मण ४, वार्तिक१५३-५५

[519] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक - अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक १५७-५८

[520] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २,ब्राह्मण ४,वार्तिक १६१

[521] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २,ब्राह्मण ४,वार्तिक ६५

विधि का अप्रामाण्य अवश्य प्राप्त होता है।[522] विधि को आचार्य सुरेश्वर ने भावनातिरिक्त पदार्थ नहीं माना है - **'भावनानी न चान्यत्र विधिरन्युपगम्यते।'**[523] यह भावना स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकती प्रत्युत् प्रत्यगज्ञान हेतूत्थ है, अज्ञान हेतूत्थ के कारण अज्ञानरुप होगी, अतः प्रत्यग्यायात्म्य की जिज्ञासा करने वालों की विषय नहीं हो सकती। **'प्रत्यगज्ञानहेतुत्था भावनेयं न तु स्वतः ।। प्रत्यग्यायात्म्य जिज्ञासोः कथं सा विषयो भवेत्' ॥** [524] आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक २/४/५) इत्यादि वाक्यों में प्रतीयमान विध्यर्थ भी आभासवादी सुरेश्वराचार्य के शब्दों में अप्रवृत्त-प्रवृत्ति रुप नहीं प्रत्युत् अज्ञात-ज्ञापन रूप है। विधि का इस अर्थ में उपयोग आभास प्रस्थान में माना जा सकता है, पर अकृत क्रियारूप उपर्युक्त अपूर्वादि विधियों की संगति नहीं बनती। **'अज्ञात ज्ञापनं विधिरस्रामिधीयते॥ अप्रवृत्तप्रवृत्तिश्चन्यायाभावान्न युज्यते ।।' अज्ञात ज्ञापनं तस्माद्विधिरयोपद्यते। अकृतस्य क्रियात्वत्र विधिर्नेवोपद्यते ।।'** [525] नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, स्वतः सिद्ध, अनन्यायत्तसंसिद, निरविद्यक, आत्मस्वरूपावगम का क्रियात्व, फलत्व एवं कारकत्व सभी अनुपपन्न है, अतः आभास प्रस्थान में अपूर्वादि विधियों का अस्वीकरण कोई दूषण नहीं, प्रत्युत् भूषण ही है। **'अतोऽव विध्यभावोऽयं न कथंचन दूषणम् ॥ अलंकृतिरियं साध्वी वेदान्तेषु प्रशस्यते' ॥** [526]

४.२.२५ उपसना विधि

भाष्यकार भगवान् शंकर, उनके शिष्य सुरेश्वर तथा अन्य अद्वैत वेदान्तियों ने बृहदारण्यक उपनिषद् के आत्मेत्येवोपासीन् (१।४।७) मंत्र के भाष्य एवं वार्तिकादि में एक ऐसे मत का उल्लेख किया है[527] जो इस प्रकार की उपास्ति श्रुतियों में अपूर्व विधि मानता है।[528] प्रस्तुत मत ज्ञान और उपासना शब्दों को एकार्थक समझता है तथा ऐसे अवान्तर श्रुति का उद्धरण भी प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर

---

[522] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक,अध्याय २, ब्राह्मण ४,वार्तिक १७६-६८

[523] संबन्धवार्तिक, वार्तिक २५२

[524] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २,ब्राह्मण ४,वार्तिक १९३

[525] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २,ब्राह्मण ४, वार्तिक१५५ या बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २,ब्राह्मण ४,वार्तिक १९८

[526] सम्बन्ध वार्तिक, वार्तिक ३३८

[527] शंकराचार्य:, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य १ ४ ३ पृष्ठ११६-१७; सुरेश्वाराचार्य: बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक,अध्याय १, ब्राह्मण ४,वार्तिक ७७०, तथा

आगे; आनन्दगिरी बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य टीका, पृष्ठ ११६-१७ तथा बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य टीका,पृष्ठ ५७० तथा आगे ; विद्यारण्य,

बृहदारण्यकोपनिषद् वार्तिकसार, अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक ७४० पृष्ठ ३८३

[528] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ७७०

स्वानुमोदित निष्कर्ष उपपन्न हो सके ।[529] यह मत अधोलिखित कारणों से उपासना में अपूर्व विधि मानता है--

(१) ज्ञान और उपासना दोनों शब्द पर्यायवाची हैं, अतः श्रुतियों में प्रयुक्त ज्ञान शब्द उपासनापरक है। साक्षात्कार पर्यन्त एकार्थोल्लेखिवृत्तियों के आभ्रेडन रूप उपासना **एकार्थोल्लेखि वृत्तीनामातात्म्याभिमानतः ॥ आभ्रेडनं हि शब्दार्थः सर्वोत्रोपासनश्रुतेः ॥** [530] के ऐक्य ज्ञान से अभिन्न होने के कारण और ऐक्यज्ञान के सर्वथा अप्राप्त होने के कारण उपासना अपूर्वविधिविषय है ।

'तथेतत्सर्व वेदेति यत्र यत्र श्रुतिभवेत् ॥
अभ्यासस्य तदा प्राप्तेरपूर्वविधिरिष्यते ॥ [531]

(२) वस्तु स्वरूप के अन्वाख्यान में स्वतः पुरुषं प्रवृत्ति असंभव है अतः आत्मोपासन में प्रवर्तक विधि मानना आवश्यक है ।[532]

(३) कर्म विधि और आत्मोपासन का स्वरूप एक है उनमें किंचिन्मात्र विशेष नहीं, इसलिए जैसे कर्म में विधि-स्वीकार होता है, उसी प्रकार आत्मोपासन में भी विधि स्वीकार करना होगा । कर्म और आत्मोपासन दोनों का अविशेष क्या है ? इसके उत्तर में प्रस्तुत मत प्रवर्तक आचार्य का कहना है कि जैसे 'वषट् करिष्यन्' इत्यादि कर्मपरक वाक्यों में मानसी क्रिया का विधान किया जाता है, उसी प्रकार 'आत्मेत्येवोपासीत्' इस आत्मोपास्ति वाक्य में भी मानसी क्रिया विधेय है ।[533] फलतः अपूर्व विधि की प्राप्ति होती है।

(४) उपासना विधि में 'यजेत्' इत्यादि वाक्यों के समान भावना का अंश त्रय **'सा च भावनांशत्रयमपेक्ष्यते साध्यं साधनमितिकर्तव्यता न किं भावयेत, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति'** [534] संभाव्य है । 'आत्मेत्येवोपासीत्' में भावना के अंशत्रय की उत्पत्ति सिद्ध करते हुए एतन्मतावलम्बियों का कहना है कि यहां विज्ञेय आत्मा किमंश अर्थात् साध्यांश है, मन साधनांश है तथा त्याग और ब्रह्मचर्यादि साधन इति कर्तव्यतांश हैं। इस प्रकार भावना के तीनों अंशों की उत्पत्ति उपास्ति श्रुति में हो जाती है। अतः इसमें अपूर्वविधि मानना युक्तियुक्त है। यदि यह कहा जाय कि 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' (बृहदारण्यकोपनिषद् ३।८८) इत्यादि श्रुतिवाक्य इस निष्कर्ष के बाधक हैं, तो उपयुक्त नहीं क्योंकि उपास्य अर्थ (आत्मा) के समर्पण में उपास्ति वाक्यों का भी उपयोग हो जाता है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि उपास्ति विधि का कोई उपयोग नहीं, क्योंकि उपासना का फल मोक्ष

---

[529] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ७७२-७४

[530] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय-१, ब्राह्मण ४ वार्तिक ७७१

[531] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक ७७८

[532] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक ७७९

[533] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक ७८०-८२

[534] अर्थसंग्रह, पृष्ठ ६

या अविद्या निवृत्ति माना गया है।[535] उपासना और ज्ञान इस मत में एक हैं अतः ज्ञान में अपूर्व विधि विषयत्व प्राप्त हो जाता है।

४.२.२५.१ उपासना में अपूर्व विधि का खंडन

आभासवादी सुरेश्वराचार्य ने ज्ञान में अपूर्व का ही नहीं, प्रत्युत् समस्त विधियों का खंडन किया है, यह हम निरूपित कर चुके हैं। उपासना श्रुति में भी आचार्य शंकर एवं सुरेश्वर ने अपूर्व विधि का अप्रामाण्य सिद्ध किया है। **तथा 'नापूर्व विधिरेष स्यात् पक्षे प्राप्तत्वकारणात्','आत्मेत्येवोपातेति नापूर्वविधि: ।'** [536]

४.२.२५.२. शंकर सम्मत उपासना में नियमविधि का समर्थन

आचार्य शंकर उपासना को पक्षान्तर में प्राप्त मानते हैं, अतएव उन्होंने उपासना में नियमविधि स्वीकृत किया है। **'पक्षे प्राप्तत्वात्।' (बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य) तथा उनके (शंकर) के मत में ज्ञान से उपासना भिन्न है। शंकर उपासना के विषय में विधि मानने पर भी (ब्रह्म सूत्र १।१।४) ज्ञान के विषय में विधि नहीं मानते हैं।** [537] आचार्य सुरेश्वर ने अपने गुरु की इस मान्यता को ग्रहण किया है। **नियमार्थो विधिरयमिति भाष्यकृतो वचः अन्युपेत्यापि वक्ष्यामि इत्येवमेतत्समंजसम्।**[538] उपास्ति श्रुतियों में शंकर सम्मत नियमविधि का उपपादन करने के लिए उन्होंने 'व्रीहीन् अवहन्यात्' उदाहरण का आश्रय लिया है। उनका कथन है कि जैसे तंडुल-निष्पत्ति के लिये अवघातादि की अपेक्षा होती है उसी प्रकार दर्शन- निष्पत्ति के लिए आत्मादि की अपेक्षा होती है तथा जैसे नखविदलनादि से तंडुल-निष्पादन संभव होने से अवघात की पाक्षिकी प्राप्ति होने पर 'अवहन्यात्' से उसका मूसलावघात रूप अप्राप्त अंश में नियमन कर दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मोपास्ति का भी नियमन होता है अर्थात् अनात्मोपासन को पाक्षिकी प्राप्ति होने पर 'आत्मार्नध्यायेत्' इत्यादि नियम विधि के सामर्थ्य से आत्मोपासन रूप अप्राप्त अंश में उपासना का नियमन हो जाता है। अतः आत्मोपासन नियम विधि विषयक है।[539]

उपासना में नियमविधि भी नहीं -- सुरेश्वराचार्य के द्वारा भाष्यकार सम्मत उपासना में नियमविधि का समर्थन केवल प्रौढिवाद का समाश्रयण है, वस्तुत: न्याय गौरव होने के कारण उन्हें

---

[535] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ७८३-७९१

[536] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य, १ ४,७ पृष्ठ ११५ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ७५८

[537] महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज, ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य भूमिका, पृष्ठ १३

[538] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य, अध्याय १ ब्राह्मण ४, वार्तिक ९२०

[539] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य -अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक९२३-२६

उपासना में कोई भी विधि अभीष्ट नहीं है । **न कश्चिदपि संभाव्यो यथोक्तन्यायगीरवात् । विधिर्यतोऽभ्युपगमन्नियमोक्तिरियं ततः ।** [540] यदि आत्मोपासना की प्राप्ति किसी देशादि में अवघातादि के समान संभावित होती तो उपासना में नियम विधि सिद्ध हो सकती थी, पर प्रत्यर्थ का आलिंगन किए बिना कोई पराग्वर्ति (अनात्म विषयक) विज्ञान भी नहीं सिद्ध होता है अतः आत्मोपासन सदैव प्राप्त है ।[541] आत्मोपासन ज्ञान से अतिरिक्त नहीं और निखिल विज्ञान अनात्म संबंध के पूर्व भी जन्मना आत्मकर्मक है, अतएव उपासना की नित्य प्राप्ति है ।[542] फलतः इसमें नियमविधि नहीं स्वीकृत हो सकता । यदि उपासक एवं उपास्य इन दोनों में कोई भेद होता, तो नियम विधि बन जाती पर अद्वैत वेदान्त में उपासक तथा उपास्य में कोई भेद नहीं माना गया, अतएव उक्त विधि असंभव है । **उपास्यार्थातिरेकेण न चोपासनकृद्धिरु | संमायोनियम विचिरतो नात्यन्यभेदत : ॥** [543]

४.२.२६ सुरेश्वर मत का भाष्यकार के मत के साथ सामंजस्य

भाष्यकार अभिमत नियमविधि को स्वीकार करके फिर उसी का उपासना में अनुपयोग सिद्ध करने से वार्त्तिककार का मत अप्रमाणित हो सकता था, अतएव वार्त्तिककार ने अपने मत के साथ भाष्यकार के मत का समन्वय भी किया है। सुरेश्वर का स्पष्ट विचार है कि नियमविधि का अगर भाष्यकार ने अपूर्व विधि के दीर्घल्यद्योतनार्थं किया था, न कि उनका यह अभिप्राय था कि उपासना में नियम विधि अपेक्षित है । **उक्तं च न्यायमापेक्ष्य नियमोत्यन्त दुर्लभः । विधेदीर्घल्यसिद्धयर्थंगतोभाष्यकृदुक्तवान् ।**[544] इस प्रकार भाष्यकार और वार्त्तिककार के मतों में वास्तविक विरोध नहीं है ।

४.२.२७ श्रवण-मनन और निदिध्यासन

श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को सभी अद्वैतवेदान्तियों ने ब्रह्म साक्षात्कार का अंतरंग साधन माना है। नैष्कर्म्य सिद्धि की चन्द्रिका नामक व्याख्या से यह स्पष्ट है **योगाभ्यास: श्रवणमननिदिध्यास**

---

[540] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ९२६

[541] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य, अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक९२७-२८

[542] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य, अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक९२९

[543] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य -- अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक१३०

[544] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य - अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक १३१

नादीनामनुष्ठागम । अत्र चित्तस्य प्रत्यक प्रवणता नाम प्रत्यगात्मन्य प्रयत्नेनावस्थानम् ।[545] कि आचार्य सुरेश्वर ने इन तीनों का समुदित नाम 'योग' माना है, जिसके अनुष्ठान से मुमुक्षु चित्त का प्रत्यगात्मा में अनायास अवस्थान होता है । प्रस्थानानुसार इनके स्वरूप में मतभेद है---

'सर्वापेक्षाधिकरण' (३।४।२६) की भाष्यावलम्बिनी भामती में अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति ने ब्रह्म में चार प्रकार की प्रतिपत्ति स्वीकृत कर श्रवणादि का लक्षण इस प्रकार दिया है **'अपि च चतस्रः प्रतिपत्तयो ब्रह्मणि प्रथमा तावदुपनिषद्वाक्यश्रवणमात्रागवत यां किलाचक्षणे श्रवणमिति । द्वितीया मीमांसासहिता तस्मादेवोपनिषद्वाक्याद्यामाचक्षते मननमिति । तृतीय चिन्तासन्ततिमयी यामाचक्षते निदिध्यासनमिति । चतुर्थी साक्षात्कारवती वृत्तिरूपा नान्तरीयकं हि तस्याः कैवल्यमिति ।'**[546] उपनिषद् वाक्य के श्रवणमात्र से उत्पन्न होने वाली प्रथम प्रतिपत्ति श्रवण है। उक्त उपनिषद् वाक्य की मीमांसा सहितोद्भुत द्वितीय प्रतिपत्ति मनन है। चिन्ता सन्ततिमयी तृतीय प्रतिपत्ति निदिध्यासन है तथा चतुर्थ प्रतिपत्ति साक्षात्कारवती वृत्तिरूप है। इस चतुर्थ प्रतिपत्ति का नान्तरीयक कैवल्य है । इन लक्षणों से यह स्पष्ट है कि भामतीकार शाब्द प्रतिपत्ति को श्रवण, मीमांसा के साथ उत्पन्न प्रतिपत्ति को मनन तथा चिन्ता अर्थात् ध्यान को संततिमयी प्रतिपत्ति को निदिध्यासन मानते हैं। प्रतिपत्ति श्रवणादिकों का सामान्य लक्षण है, इसलिए उन्होंने श्रवणादि में कर्म को अपेक्षा नहीं मानी है ।[547]

प्रतिबिम्ब प्रस्थान प्रवर्तक पद्मपादाचार्य-सम्मत श्रवणादि स्वरूप इस प्रकार है **'तथा च श्रवणं नाम आत्मायगतेये वेदान्तवाक्य विचारः शारीरकश्रवणं च । मननं वस्तुनिष्ठवाक्यापेक्षिनदुन्दुभ्यादि दृष्टान्तजन्म स्थिति लया वाचारम्भणत्वादियुक्तयर्थवादानुसंधानं वाक्यार्थाविरोध्यनुमानानुसंधानं च । निदिध्यासनमिति मननोपवृंहितवाक्यार्थविषये सथरीभावः ।**[548]– 'आत्मा की अवगति के लिए वेदान्त वाक्यों का विचार और शारीरिक का श्रवण है। वस्तुनिष्ठ वाक्यापेक्षित दुन्दुभ्यादि श्रुति रूप दृष्टान्तों तथा जन्म-स्थिति-लय के वाचारम्भणत्वादि युक्ति के अर्थवादों का अनुसंधान तथा वाक्यार्थविरोधि अनुमान का अनुसंधान मनन है । मननोपवृंहित वाक्यार्थ के प्रति स्वयं निदिध्यासन है ।'

सुरेश्वराचार्य के आभास प्रस्थान के अनुसार शब्दशक्तिविवेककृत अर्थात् शक्ति तात्पर्यनिश्चय श्रुति, लिंग आदि न्यायों से एक अद्वयब्रह्म में वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य निरूपण श्रवण है । **'श्रुतिलिंगादिको न्यायः शब्दशक्तिविवेककृत ।' बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्त्तिक, अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक २१४, तथा 'बह्मानन्दी (अद्वैतसिद्धि व्याख्या) पृष्ठ ८६७ पृष्ठ ७-९ । इन श्रुत्यादिलिंगों के अतिरिक्त अद्वैतवेदान्त में, (१) उपक्रमोपसंहार(२) अभ्यास (३) अपूर्वता(४) फल(५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति वह षड्विध लिंग और माने गये हैं। इन लिंगों**

---

[545] ज्ञानोत्ममिश्र, नैष्कर्म्य सिद्धि चन्द्रिका, पृष्ठ ३३

[546] भामती, पृष्ठ ८०१, ८०२ पंचपादिका ६-२

[547] भामती, पृष्ठ ८०२, पंचपादिका २५

[548] पंचपादिका, नवमवर्णक, पृष्ठ ३५२-५३

के द्वारा भी वेदान्तवाक्य का तात्पर्यावधारण श्रवण कहा जाता है। 'श्रवणं नाम षड्विधलिंगेरशेषवेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानांतात्पर्यावधारणम् । [549] श्रुत्यादि लिंगों के द्वारा ज्ञाततत्त्व के विनिश्चयार्थ असंभवादि मानसिक दूषणों का व्युदासक तर्क मनन है ।[550] यद्यपि श्रवण के द्वारा प्रमाणगत असंभावनाओं की निवृत्ति के फलस्वरूप वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य निश्चय हो जाता है, तथापि निश्चित तात्पर्य के प्रति प्रमेयगत असंभावनाओं का उत्थान संभव है। अतः इन्हीं प्रमेयगत असंभावनाओं का निवर्तक है। स्पष्ट शब्दों में मनन द्वैत मिथ्यात्व साधक है और श्रवण के द्वारा निर्धारित तात्पर्य का तर्क से समर्थन करता है। **श्रुत आगमतो योऽयसंतर्केणापि समर्थितः**[551] । मनन को सुरेश्वर ने तर्क भी कहा है । **पदार्थविषयायेयं युक्तिस्तर्कोऽभिधीयते ॥ पदार्थविषयस्तकंः तथैवानुमितिर्भवेत् ॥**[552] निदिध्यासन को वार्तिक कार के अनुसार ब्रह्मसाक्षात्कार की प्रथम अवस्था कही जा सकती है क्योंकि उन्होंने सर्वत्र अपरायत्त बोध **अपरायत्तबोधोऽन निदिध्यासनमुच्यते ॥**[553] या ऐकात्म्यसंबोध **ईदृगे कात्म्यसंबोधो निदिध्यासनमुच्यते ।** [554] या सम्यग्ज्ञान् **निदिध्यासनशब्देन सम्पन्शानं विवक्षितम् ॥** [555] को निदिध्यासन शब्द से विवक्षित माना है। स्पष्ट शब्दों में श्रवण के द्वारा श्रुत एवं मनन अर्थात् तर्क के द्वारा समर्थित वेदान्तवाक्यों के तात्पर्य भूत अद्वय ब्रह्म का बोध निदिध्यासन है । **'श्रुत आगमतो योऽर्थस्तर्केणापि समर्थितः । स एवार्थस्तु निष्णातो निदिध्यासनमुच्यते ॥** [556] निदिध्यासन ब्रह्मज्ञान की वह प्रारम्भिक अवस्था है, जहाँ वाक्यार्थ ज्ञान के समस्त अन्तराय का अभाव हो जाता है तथा मुमुक्षु के अनुभवात्मक ज्ञान का स्फुरण हो जाता है। यद्यपि सुरेश्वराचार्य ने निदिध्यासन को सम्यग्ज्ञान कह कर पारिभाषित किया है तथापि यह निष्कर्ष निकालना अनुपपन्न होगा कि निदिध्यासन तथा ब्रह्मज्ञान में कोई अन्तर नहीं । आभास प्रस्थान में भी निदिध्यासन को ध्यानरूप न मान लिया जाय, इसी शंका की निवृत्ति के लिए वार्तिककार ने निदिध्यासन को विज्ञान रूप कहा है। **'ध्यानशंका निवृत्यर्थ विज्ञानेनेति भण्यते ॥ निदिध्यासनशब्देन ध्यानमाशंक्यते यतः' ॥** [557] निदिध्यासन को ध्यानरूप कहने से उसकी सिद्धि के लिए प्रयत्न की आवश्यकता होती पर विज्ञानरूप मानने से

---

[549] वेदान्तसार: पृष्ठ ८३

[550] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिकम् , अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक २१४

[551] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २ ब्राह्मण ४ वार्तिक १५

[552] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २ ब्राह्मण १ वार्तिक ८ तथा बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक २२६

[553] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक - अध्याय २ ब्राह्मण ४ वार्तिक२१७

[554] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १ ब्राह्मण ५ वार्तिक १६

[555] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १ ब्राह्मण ४ वार्तिक ८९९

[556] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक अध्याय २, ब्राह्मण ५, वार्तिक १५

[557] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक अध्याय २ ब्राह्मण ४ वार्तिक २३३

निदिध्यासन की सिद्धि के लिये प्रयत्न की कोई अपेक्षा नहीं होगी । **'निदिध्यासन सिद्धयर्थो यत्नोऽतोऽयमनर्थकः । प्रत्यग्याथात्म्य संबोध नात्रत्वादेव हेतुतः ।** [558]

४.२.२७.१ श्रवण-मनन और निदिध्यासन का सम्बन्ध

वाचस्पति ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन को ब्रह्म साक्षात्कार का सहायक साधन माना है और इनका क्रम 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५) श्रुति विहित स्वीकार किया है। उनका कहना है कि श्रवण-मनन एवं निदिध्यासन के अभ्यास के संस्कार से युक्त मन के द्वारा अन्तःकरणवृत्तिभेदरूप ब्रह्म साक्षात्कार उसी प्रकार समुन्मीलित होता है, जैसे गान्धर्वशास्त्र के श्रवणाभ्यास से संस्कृत मन में षड्जादिभेद साक्षात्कार समुदित होता है। **'ब्रह्मसाक्षात्कारश्चान्तः करणवृत्तिभेदःश्रवणमननादिजनितसंस्कार सचिवमनोजन्माषड्जादिभेदसाक्षात्कार इव गान्धर्वशास्त्रश्रवणाध्याससंस्कृतमनोयोनिः' ॥**[559] सर्वापेक्षाधिकरण (३।४।२६) की भामती से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रवण मनन का कारण है, मनन निदिध्यासन का कारण है तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन की ब्रह्म साक्षात्कार में समप्रधान साधनता है अतएव श्रवणादि में परस्पर अंगांगिभाव नहीं।[560]विवरणकार नें ब्रह्मसाक्षात्कार में श्रवण को अंगि अर्थात् प्रधान तथा मनन और निदिध्यासन को श्रवण का अंग माना है । **'मननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकायडिगाभ्यां सह श्रवणं नाम अंगिविधीयते । मनन निदिध्यासनयोश्चश्रवणांग त्वमुत्तरत्र वक्ष्यामः ।' तथा 'सर्वथा तावत् मननिदिध्यासनाभ्यां अंगभूताभ्यां सह श्रवणविधानमस्त्येव'।** [561] प्रमेयावगम के प्रति प्रमाण अव्यवहित कारण होता है अतः प्रमाणरूप श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण है मनन और निदिध्यासन चित्त की एकाग्रवृत्तिकार्यता के द्वार से ब्रह्मानुभव प्राप्त करते हैं, अतः श्रवण के अंग है।[562] मनन और निदिध्यासन का यह अंगत्व पूर्वमीमांसा सम्मत अवघातादि के समान स्वरूपोकारित्व नहीं प्रत्युत् प्रयाजादि के समान श्रवणादि के फलभूत ब्रह्म साक्षात्कार का उपहारित्व है। **'नावधातादिवत् स्वरूपोपकारित्वम्, किन्तु प्रयाजादिवत् फलोपकार्यऽगत्वात् न विरोधः'** [563] जैसे मृत्तिका घट में प्रधान कारण है तथा चक्र चीवरादि उपसर्जन कारण है, उसी प्रकार श्रवणबह्म साक्षात्कार का अव्यवहित प्रधान कारण है और मनन-निदिध्यासन व्यवहित अर्थात् सहायक कारण है। अतएव विवरणकार के मत में श्रवण को अंगि तथा मनन- निदिध्यासन को श्रवण का अंग माना गया है।

---

[558] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक अध्याय २, ब्राह्मण ५,वार्तिक १७

[559] भामती, पृष्ठ ९४, पंक्ति ६-७

[560] भामती, पृष्ठ ८०२, पंचपादिका २-५

[561] पंचपादिकाविवरण, प्रथम वर्णक पृष्ठ ३०
भामती पृष्ठ ५३ भामती, पृष्ठ ३८

[562] भामती, पृष्ठ ४१०-१३

[563] तात्पर्यदीपिका, पंचपादिका विवरण व्याख्या पृष्ठ ३०

आभास प्रस्थान के प्रतिष्ठापक सुरेश्वराचार्य ने श्रवण, मनन निदिध्यासन को स्रोत क्रमानुसार का साक्षात्कार का साधन माना है [564]। उनके अनुसार सर्वप्रथम आगमाध्ययन से मुमुक्षु को जगत् की आभासरूपता का ज्ञान हो जाता है तथा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एकमात्र सत्य ब्रह्म है, जिसके अज्ञान तथा अन्यथा ज्ञान से जगत् का अवभासन होता है। इसके पश्चात् कुशल तथा आगमार्थ वेत्ता आचार्य के उपदेश से प्राप्त श्रवण बह्म के विषय में परोक्ष किन्तु असंभावनाद्यविरहित ज्ञान उत्पन्न कर देता है तथा जीव को मनन का अधिकारी बना देता है श्रवण और मनन जन्य निष्पातता के द्वारा परीक्षा असंभावनादि रहित हो जाता है तदनन्तर वही ज्ञान निदिध्यासन की अवस्था में अपरोक्ष हो जाता है।[565] यह निदिध्यासन ब्रह्म साक्षात्कार का साक्षात् साधन है और श्रवण तथा मनन निदिध्यासन के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार में परम्परा कारण है।

४.२.२७.२ श्रवणादि में विधि-विचार

वाचस्पति मिश्र ने श्रवण-मनन तथा निदिध्यासन-इन तीनों में कोई विधि नहीं मानी है। **'मनन निदिध्यासनयोरपि न विधिः, तयोरन्वयव्यतिरेक सिद्धसाक्षात्कारफलयोर्विधि सरुपैर्वचरनुवादात् ।।' 'न च चिन्तासाक्षात्कारयोर्विधिरितितत्त्वसमीक्षायामस्माभिरुपपादितम् । विस्तरेणचायमर्थस्तत्रैव प्रपंचितः । तस्मात् 'जतिलयवाग्वा जुहुवात्' इतिविदिवधिमरुपा एते आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादयो न तु विधय इति ।'** [566] यद्यपि सर्वत्र वह विधि का निषेध करते हैं तथापि 'सहकार्यन्तरविध्यधिकरण'[567] (३।४।१४) के 'अपूर्वत्वाद्विधिरास्थेयः' इस पंक्त्यंश से प्रतीत होता है कि वह श्रवणादि में विधि का अंगीकार कर रहे हैं। प्रकटार्थ विवरणकार ने इसे वाचस्पति की पूर्वापर व्याहतभाषिता मानी है तथा उनके पांडित्य पर कटाक्ष किया है। '**वाचस्पतिः समन्वयसूत्रे श्रवणादि विधि निराचचक्षे, अत्र तु तद्विधिमूरोचक्रे अहो वतास्य पांडित्यम्' ।**[568] इसके विपरीत भामती के व्याख्याकार अमलानन्द[569] तथा अप्पय दीक्षित[570] ने वाचस्पति मिश्र के इस विरोधात्मक पंक्त्यंश का उनकी पूर्व टीका-पंक्तियों के साथ सामंजस्य किया है। कल्पतरु परिमलकार अप्पय दक्षित का कहना है कि यहा अपूर्व विधि नहीं है, प्रत्युत् 'सहाकार्यन्तरविधि पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्।' (ब्रह्म सूत्र ३।४।४७) सूत्र के 'विध्यादिवत्' पद तथा 'एवमविधिप्रकाशने यस्मिन्विविधिवाक्ये

---

[564] बृहदारण्यकोपनिषद् -- अध्याय २,ब्राह्मण ४, वार्तिक २१८-२०

[565] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक – अध्याय २, ब्राह्मण ५, वार्तिक १५

[566] भामती, पृष्ठ ९७, पंचपादिका ५-६ , भामती, पृष्ठ ६५०, पंचपादिका १-२ पृष्ठ ८०८, पंचपादिका ३-४

[567] भामती, पृष्ठ ८१८, पंचपादिका ९

[568] प्रकटार्थविवरण

[569] कल्पतरुः, पृष्ठ ९१९-२१

[570] कल्पतरुपरिमल, पृष्ठ ९१९-२१

मौनविधिः ।' इस सूत्र पद-भाष्य में प्रकट भेददर्शन के व्यामंग के कारण ध्यान में अनुत्सहमान (मुमुक्षु) के उत्साह-जनन के लिए विधिस्वरूप अर्थवाद है **'सौत्रपदतद्भाष्ययोर्भेदनदुदर्शनव्यासंगाद् ध्यानेऽनुजुत्सहमानस्योत्साहजननार्थं विधि सरुपोऽयमर्थवाद इत्यत्रैव तात्पर्यमिति भावः' ।।** [571] कल्पतरुकार के शब्दों में यहाँ पुराणादि प्राप्त वेदान्तनियम का व्याख्यान है अतएव न तो वाचस्पति की पूर्वापरव्याहतभाषिता मानी जा सकती है और न सूत्र भाष्यानभिज्ञता हो ।[572] कहने का अर्थ यह है कि वाचस्पति तथा उनके अनुयायियों को वेदान्त के श्रवणादि में कोई भी विधि नहीं स्वीकृत है । **भावापूर्व विधिः प्राप्तेरनन्योपायतो न च || नियमः परिसंख्या वा श्रवणादिषु संभवेत् ॥** [573] विवरणकार प्रकाशात्मयति ने श्रवणादि में नियमविधि अंगीकृत किया है । **'सर्वथा तावत् मननिदिध्यासनाभ्यां अंगभूताभ्यां सह श्रवणविधानमस्त्येव ।। तथा 'मनन निदिध्यासोपबृंहितम्य श्रवणस्य सम्यग्दर्शनाय विधेयत्वमंगीकृत्य प्रथम सूत्रं प्रवृत्तमित्यर्थः ।'** [574] सिद्धान्तलेशसंग्रह ने श्रवण के विषय में परिसंख्याविधि मानी है तथा इसे वार्तिक मतानुसार बताया है ।[575] अमलानन्द अपने कल्पतरु **'युत्त वार्तिककृद्धिरुक्तम्-- सर्वमानप्रसक्ती सर्वमानफलाश्रयात् । श्रोतव्य इत्यत प्राह वेदान्तावरुरुत्सया इति । प्रमाणफलं साक्षात्कारं नियम्पन्ते इत्यत्रापि प्रमाणनियमउक्तो न श्रवणनियमः ।'**[576]में यह सिद्ध करना चाहा है कि भामतीकार का यह अभ्युपगम कि श्रवण में कोई विधि नहीं, सुरेश्वर के अभ्युपगम के समान है । अमलानन्द के इस निष्कर्ष से कल्पतरु के अध्येता को यह ज्ञान हो सकता है कि सुरेश्वराचार्य श्रवण में कोई विधि नहीं मानते। पर अमलानन्द का यह मत वार्तिक के तात्पर्य-परिज्ञान का परिचायक नही, क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक में ऐसे अनेक वार्तिक है **'एवं श्रोतव्य आत्माऽयं समाप्तः श्रवणे निधिः । अथ मन्तव्य इत्यस्य प्रपंच पर उच्यते।'** [577] जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुरेश्वर का विधि विषयत्व स्वीकार करते हैं। वह निदिध्यासन के साधन भूत श्रवण एवं मनन दोनों में विधि मानते हैं तथापि निदिध्यासन के लिए कोई विधि नही स्वीकार करते। उनके आभास प्रस्थान के अनुसार निदिध्यासन सम्यज्ञान है, फलतः निदिध्यासन सिद्धि के लिए विधि अनर्थक है । **'निदिध्यासन सिद्धयर्थो यत्नोऽयमनर्थकः'**[578] चित्तवृत्तिनिरोध जिसे योगशास्त्र सम्मत निदिध्यासन फलित केवल्य

---

[571] कल्पतरुपरिमल, पृष्ठ ९१९

[572] कल्पतरुपरिमल, पृष्ठ ९२१

[573] कल्पतरुपरिमल, पृष्ठ ९१९

[574] पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ ३८ वर्णक प्रथम पंचपादिकाविवरण नवम वर्णक, पृष्ठ ७७३

[575] सिद्धान्तलेशसंग्रह, परिच्छेद १, पृष्ठ ३८-४०

[576] कल्पतरुः पृष्ठ ९२१

[577] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक २१२-२०, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक २६३ तथा
सम्बन्धवार्तिक, वार्तिक ८०४

[578] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २ ब्राह्मण ५, वार्तिक १७

का साधन माना जाता है, भी आचार्य सुरेश्वर के द्वारा निदिध्यासन में मान्य नहीं। उनका कहना है कि चित्तवृत्तिनिरोध को श्रुतियों में मुक्ति का साधन नहीं माना गया है, प्रत्युत एकमात्र प्रत्यग्बोध को कैवल्य का साधन बताया गया है ।[579] जिसे सुरेश्वर ने ब्रह्माक्षात्कार की प्रारम्भिक अवस्था मानी है, ऐसे निदिध्यासन में चित्त वृत्तिनिरोध का क्या स्थान हो सकता है ?

४.२.२८ ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद

सभी वेदान्ती (जिसमें कुछ मायावादी भी हैं) यह नहीं मानते कि एकमात्र ज्ञान ब्रह्म साक्षात्कार का साधन है। ज्ञान को ब्रह्म साक्षात्कार का अपरिहार्य साधन स्वीकार करते हुए भी इनका विचार है कि ज्ञान मोल का साधन तभी हो सकता है, जब इसका कर्म के साथ समुच्चय हो । सुरेश्वराचार्य ने अपने वात्तिकों और नैष्कर्म्य सिद्धि में ज्ञान कर्म का समुच्चय मानने वाने तीन मतों का उल्लेख तथा खंडन है।

४.२.२९ प्रथम मत

कार्य सिद्धि को सम्बन्धोक्ति में प्रथम मत का उपन्यास निम्नलिखित शब्दों में किया गया है – 'यदेतन् वेदान्तवाक्य ग्रहोति विज्ञानं समुत्पद्यते तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्पति कि तह अन्यहनि द्राधीयमा कालेन उपासीनस्य सतः नावनोपचयात् निःशेषमज्ञानमपगच्छति, 'देवो भूत्वा देवानस्येति' इति श्रुतेः ।

नैष्कर्म्य सिद्धि की विद्या सुरभि व्याख्या में यह मत ब्रह्मदत्तसम्बन्धित बताया गया है- **ब्रह्मदत्तादयः सम्प्रदाय प्रदाय व नष्ट न प्रमाण युक्ति बलावष्टम्मात् ॥** महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने अच्युत से प्रकाशित भाष्य रत्न प्रभा की भूमिका में लिखा है[580] कि शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।७) के भाष्य[581] में ब्रह्मदत्त के मत का उल्लेख किया है। अतः यह कहना अप्रमाणित नहीं कि सुरेश्वर ने विस्तारपूर्वक १७ वार्तिकों में प्रस्तुत मत का उपवृंहण किया है ।[582] सम्बन्धवार्तिक (७६७) में भी आनन्दगिरि के मतानुसार **'इह तु ब्रह्मदत्त दिमतेन मनायाने विधिमा पुनरिया नियोगेति'** |[583] सुरेश्वर के द्वारा ब्रह्मदत्त के मत का उल्लेख किया गया है। अन्य ग्रन्थों[584] में

---

[579] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ४,वार्तिक ८४८-४९

[580] १४ ग्रन्थमाला

[581] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक १९८

[582] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक १०४ वार्तिक ७६२-६०८

[583] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक वार्तिकटीका पृष्ठ २२०

[584] यामुनाचार्य विनय प्रारम्भ निमंजरी ६१३३ टीका गया , वेदान्न हिराचार्य पृष्ठ १६

भी इनके व्यक्तित्व या सिद्धान्त की भनक प्राप्त होती है। इन सब उद्धरणों से यह ज्ञान होता है कि ब्रह्मदत्त एक प्रसिद्ध और प्राचीन वेदान्ती थे। आभासवादी सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थों में इनके जिन मुख्य सिद्धान्त का निर्देशन किया है, वह इस प्रकार है उपनिषदों का वास्तविक तात्पर्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में नहीं है किन्तु 'आत्मा वा अरे दृष्टव्यः' इत्यादि नियोग वाक्यों में है। केवल नियोगानुप्रवेश के द्वारा वस्तु का अवबोध होता है, अतएव विधिशून्य वाक्यों का प्रमाण्य नही स्वीकृत हो सकता है। सुरेश्वर के समान यह ज्ञानकांड प्रधान उपनिषदों को सिद्धवस्तु विषयक नही मानते हैं प्रत्युत् साध्यविषयक मानते हैं। ब्रह्मदत्त का विचार है कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य वस्तु के स्वरूप के बोधक हैं, अतएव आत्मा उपसना विधि का शेष है। अज्ञान- निवृत्ति भावनाजन्य साक्षात्कारात्मक ज्ञान से होती है, वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञान से नहीं। वेदान्तवाक्य करने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् दीर्घकाल तक उपासना करनी पड़ती है। इस प्रकार भावना के उत्कर्ष से अपरोक्ष ज्ञान आविर्भूत होता है, जिसके द्वारा अज्ञान पूर्णतया निवृत्त हो जाता है। इस मत में साधना का क्रम इस प्रकार बताया गया है - सर्वप्रथम उपनिषद् सेवा का परोक्षज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसके पश्चात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक भावना का अभ्यास करना चाहिए। इस ज्ञानाभ्यास की दशा में भी कर्म का समुच्चय आवश्यक है। जीवनपर्यन्त कर्म का त्याग नहीं होता; इसलिए ब्रह्मदत्त का सिद्धान्त ज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय स्वीकार करता है। ज्ञानोत्तम ने भी नैष्कर्म्य सिद्धि की चन्द्रिका नामक टीका में इन्हें ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी कहा है। **वन्यज्ञानोत्तरकाली न भावनोत्कर्षात् भावनाजन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञाता स्तरेणैव अज्ञानत्य निवृत्तेः ज्ञानाभ्यातदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तिः** [585] कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मदत्त के अनुसार केवल ज्ञान नहीं प्रत्युत् ज्ञान का अभ्यास, भावना या प्रसंख्यान **'असंस्थानं नाम तत्त्वमस्या दिशब्दार्यान्वयव्यतिरेक्युक्ति विषयबुद्ध्या मेडनमभिधीयते।** [586] ब्रह्मज्ञान का साधन है और इस प्रांख्यान में कर्म के साथ समुच्चय अनुपपन्न है।

४.२.३० द्वितीय मत

इस मत का उल्लेख सुरेश्वर के बृहदारणकोनिषद्भाष्यवार्तिक के १४ वार्तिकों में उपलब्ध होता है।[587] आनन्दगिरि की शास्त्रप्रकाशिका टीका में यह मत मंडन संबंधित बताया गया है। **संप्रत्यकार्यकारणासामान्य विशेषं प्रत्यग्नो त्युपगच्छतां मंडनादीनां तद्व्याज्यामुत्या पयति।**[588] नैष्कर्म्य सिद्धि (१६७) की संबन्धोक्ति में **'अपरे तु द्रवते वेदात वात्यजनितमहं ब्रह्मेति विज्ञानं**

---

[585] नैष्कर्म्यसिद्धि टीका, पृष्ठ ३८

[586] नैष्कर्म्यसिद्धि ३ सम्बन्धोक्ति कारिका ६० पृष्ठ १६०

[587] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक - अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक ७६६-८१०

[588] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक टीका, पृष्ठ १८५२

संसर्गात्मकदात्मस्तु याघात्म्यावगाहोव न भवति । कि तहि एतदेव गंगास्त्रोसोवत्सतत मन्यस्तो देश वार्थात्मकं विज्ञानन्तर मुत्पद्यते । तदेवाशेषज्ञानतिनिरोत्सारीति' विज्ञाय प्रज्ञां कुर्यात् ब्राह्मण: ।' [589] भी यही मत अपर मत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह मत भी ब्रह्मदत्त के समान क्रिया अथवा उपासना में हो उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य मानता है तथा 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों को विधि संश्लिष्ट स्वीकार करता है। इनका कथन है कि श्रावणज्ञान के अनन्तर उपासना अथवा ध्यान अपेक्षित है क्योकि वेदान्त वाक्य से जो 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह संसर्गात्मक है अतः उसमें असंसर्गि आत्म-स्वरूप की यथावत् प्रतिपत्ति नहीं हो सकती । निरन्तर इन (वेदान्तवाक्योत्थ संसर्गात्मक ज्ञान) के अभ्यास से एक असंसर्गि तथा अशेषतमोहन्त्री प्रज्ञा का उदय होता है और उसी से ब्रह्म का बोध होता है । **'तस्माद्वाक्यो त्यविज्ञानसाधनाम्यासतोऽनिशम् ।। प्रज्ञां कुर्याद संसगि ब्रह्मयाथात्म्यवोचिनीम् ॥ अपेताशेपसंमगं तथैव ब्रह्म गम्यते ॥ यतोऽशेष तमोहन्नी प्रज्ञासवात इप्पते ॥** [590] विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत (बृहदारण्यकोपनिषद् ४४४-१२१) यह श्रुति मंडन के द्वारा इस विषय में प्रमाण रूप से प्रत्युपस्थापित की गयी है । मंडन के अनुसार इस श्रुति का अभिप्राय यह है - विज्ञान के अनन्तर अर्थात् संसृष्ट रूप ब्रह्म को जानकर प्रज्ञा का साधन करना चाहिए अर्थात् साक्षात्कारात्मक अथवा असंसर्गात्मक ज्ञान का सदैव अभ्यास करते रहना चाहिए । स्पष्ट है कि इस मत में समुच्चय की आवश्यकता है मंडन के मत में लौकिक और वैदिक अखिल वाक्य संसर्गात्मक है अतः अपने स्वभाव का उल्लंघन करके वे असंसर्गात्मिक ब्रह्म का साक्षात् बोध करने में समर्थ नहीं हो सकते । **'स्वभावतोऽखिलं वाक्यं संसर्गात्मकमेव हि । परीक्षावृत्त्या तथा वस्तु बोधयति स्वतः । स्वस्वभावं न चोल्लङ्घ्य स्वभावान्तरमंत्र्यात् । ब्रह्मासंगण साक्षाच्न शब्दः शक्नो तिबोधितुम् |** [591] इनसे सर्व प्रथम 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक संसर्गात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर प्रत्यगात्मगोचर 'अहं ब्रह्म' ऐसा अवाक्यार्थरूप ज्ञान जब तक अविभूर्त न हो जाय तब तक निदिध्यासन जो इस मत के अनुसार व्यान स्वरूप माना जाता है **निदिव्यागनणदेन गाधनं ध्यानलक्षणम् ॥** [592] का अभ्यास अपेक्षित है। इस निदिध्यासन अर्थात् ध्यान के अभ्यास से अवाक्यर्थ प्रतिपत्तिकारक अन्यतम ज्ञान उत्पन्न होता है और यही केवल्यदायक है । यही गम्भीर न्यायवेत्ता मंडन का मत है । अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस मत में भी ब्रह्मदत्त के समान अभ्यास या प्रसंख्यान का ब्रह्मज्ञान में उपयोग बताया गया है । इन दोनों मतों में अन्तर इतना है कि ब्रह्मदत्त के अनुसार अभ्यास प्रसंख्यान स्वयं ही मोक्ष का कारण है । इसके के विपरीत मंडन का विचार है कि प्रसंख्यान या अभ्यास के द्वारा परिभाजित ज्ञान मोक्ष का साधन है ।[593] एक यह भी अन्तर है कि प्रथम

---

[589] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, संबन्धोक्ति, अध्याय ३ कारिका ६, पृष्ठ ११४-१५

[590] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक ८०७-८ ।

[591] बृहदारण्यकोपनिषद् वार्तिक अध्याय ८ ब्राह्मण ४ वार्तिक ८०१-२

[592] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक ८०६

[593] but he differs from the latter in that he makes not this meditation, itself means to moksa, but a

मत में कर्म के ज्ञान साथ का समुच्चय है तथा दूसरे मत में ज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय है अर्थात् प्रथम मत में कर्म की और दूसरे मत में ज्ञान की प्रधानता है ।[594] मंडन की ब्रह्मसिद्धि में इस प्रसंख्यान सिद्धान्त अर्थ का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके पश्चात् अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अपनी भामती में भावनापराभिधाना ब्रह्मोपासना अर्थात् प्रसंख्यान के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार के सिद्धान्त का समुपन्यास किया है । **सत्यं तथा चोध्वरेतसां चाश्रुमिणां विनापि तैविशुद्धोदय इष्यते किन्तु कालकृतोवि शेषः साधनविशेषाद्धि सा क्षिप्रं क्षिप्रं तरं चा व्यज्यते तदभावे चिरेण चिरतरेण च तदुक्तम्-सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत् ।' एपो थं: यज्ञेन दानेन 'इति श्रवणात् कमण्यपेक्षन्ते विद्यायामभ्यासलम्यायमदि, यथान्तरेणाप्यशं ग्रामप्राप्तो सिद्धान्त्यो शैघ्रया यावलेशाय वाश्वोऽपेक्ष्यते ।** [595] 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत् ब्राह्मणः' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४४-२१) इस श्रुति का अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है- 'विज्ञाय तर्कोप्रकरणेन शब्देन प्रज्ञां भावना कुर्वीत'[596] अमलानन्द ने भी कल्पतरु में प्रसंख्यान सिद्धान्त को वाचस्पति से सम्बन्धित बताया है तथा यह मत व्यक्त किया है। वाचस्पति मंडन मिश्र के समान प्रसंख्यान के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार मानते हैं ।[597]

प्रसंख्यान विधिपरक प्रथम द्वितीयमत का खंडन: -

प्रथम तथा द्वितीय यह दोनों पक्ष प्रसंख्यान या भावना के द्वारा मोक्ष मानते है अतः सुरेश्वर ने इन पक्ष द्वय का खंडन एक साथ किया है । **अस्य पक्ष द्वयस्य निवृत्तये इदानीमभिधीयते** [598] सुरेश्वराचार्य ने प्रसंख्यान का खंडन करने के पूर्व प्रसंख्यानवादियों से यह जानने की इच्छा की है कि प्रसंख्यान का संभव प्रयोजन क्या है ? यदि उत्तर हो कि वस्तु की सिद्धि प्रसंख्यान का प्रयोजन है तो उपयुक्त नहीं, क्योंकि आत्मवस्तु स्वतः मुक्त है केवल अज्ञान के कारण उसकी बद्धता प्रतीत होती है। जो वस्तु साध्य है उनके लिए साधन की अपेक्षा है किन्तु आत्मवस्तु स्वतः सिद्ध है,

---

different type of Jnana, distilled, so to sped out of the meditation" prof. Hirriyanna, Introduction Naiskermya. Siddhi, p. xxv

[594] Dr V. P. Upadhya, Lights on Vedanta, page 228-29,

[595] ब्रह्मसिद्धिः पृष्ठ १६, पंचपादिका २१,२३,

[596] भामती, पृष्ठ ३०, पंचपादिका २६ तथा पृष्ठ ३१, पंक्ति १-२३

[597] भामती, पृष्ठ ३०, पंक्ति १५-१६ ३. कल्पतरु, पृष्ठ २१८, पंक्ति २-३

[598] नैष्कर्म्य सिद्धि, ११६७ १० ३८ नैष्कर्म्यसिद्धि अध्याय ३ कारिका ८३६३, पृष्ठ १५७-१६१ तथा अध्याय ३, कारिका १२३-२६, ३७ पंचपादिका १-३

पृष्ठ १७५-७७ संबन्धवार्तिक ७६७-८४२० २१९३१; बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक अध्याय १, ब्राह्मण ४ वार्तिक १५१,१२७ अध्याय २ ब्राह्मण

४,वार्तिक २८

तथा अध्याय ४, ब्राह्मण ४ वार्तिक ८११-३५

अतः प्रसंख्यान से उनकी सिद्धि असंभव है। प्रसंख्यान से असाध्य होने पर इस प्रत्यगात्मवस्तु के प्रति भावना या प्रसंख्यान की क्या अपेक्षा होगी।[599] यह भी नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म की परोक्ष्यनिवृत्ति प्रसंख्यान का निश्चित प्रयोजन है, जिसके आभास से परोक्ष वस्तु भी अपरोक्षवत् प्रतीत होते हैं, उस स्वमहिमसिद्ध, सर्वप्रत्यक्तम् एवं सर्वदा अपरोक्ष ब्रह्म में पारोक्ष्य की कल्पना कैसे ?[600] ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति भी प्रसंख्यान का प्रयोजन नहीं माना जा सकता क्योंकि अज्ञान-निवृत्ति का निश्चित साधन एकमात्र ज्ञान है। यदि यह कहा जाय कि प्रमाणान्तरविरुद्ध होने के कारण तत्त्वमस्यादि वाक्यों या स्वतः वस्तुबोधकत्व अनुपपन्न है केवल प्रसंख्यान के द्वारा वस्तुवोधकता स्वीकृत हो सकती है, तो तर्क सही नहीं क्योंकि जब उपक्रमोपसंहारादि से विचार्यमाण तत्त्वमस्यादि वाक्यों की क्रियाविषयता कटाक्ष से भी नहीं वीक्षित होती, तब उनका प्रसंख्यानादि विधिपरत्व दुस्संभाव्य है। **'यदा तु तत्वमस्यादिवाक्यं सर्व प्रकारेणापि विचार्यमाणं न क्रियां कटाक्षेणापि बोक्षते सदादिव्यापारो दुम्मनाथ' ॥**[601] यदि यह कहा जाय कि जैसे तेल, वर्तिका एवं अग्नि तीनों को प्रदीप प्रकाशोत्पत्ति में कारण माना जाता है उसी प्रकार उपनिषद् युक्ति और प्रसंख्यान यह तीनों ब्रह्म साक्षात्कार रूपफल की प्राप्ति कराते हैं, तो प्रश्न होता है कि क्या यह तीनों परस्पर मिलकर ब्रह्म साक्षात्कारात्मक फल के आधायक है अथवा पृथक्-पृथक् ? प्रथम विकल्प संभव नहीं क्योंकि युक्ति तथा प्रसंख्यान ब्रह्म-साक्षात्कार में सहायक हो सकते हैं, पर ब्रह्म साक्षात्कार का साक्षात् कारण औपनिषद् ज्ञान है। द्वितीय विकल्प अर्थात् उपनिषद्, युक्ति और प्रसंख्यान को पृथक्-पृथक भी ब्रह्म साक्षात्कार का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि यह मान्यता एक ही ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए अनेक कारणों की विधायिका होगी तथा उल्लिखित दूषणों की विषय बन जायगी - (१) यदि किसी एक साधन से आकांक्षित ब्रह्ममाक्षात्कार हो तो अन्य दो साधन स्पष्टत: निरर्थक हो जायेंगे | (२) युक्ति और प्रसंख्यान यह दोनों साक्षात् ब्रह्ममाक्षात्कार के कारण नहीं हो सकते और (३) यह मान्यता ज्ञान-कर्म समुच्चय पक्षानुकूल भी नहीं अर्थात् इस मान्यता से ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादियों का सिद्धान्त अपहस्तित हो जाता है।[602] तत्वमस्वादि वाक्यार्थ का अन्य व्यतिरेकभूत युक्ति विषयिणी बुद्धि के द्वारा आम्रेडन अर्थात् अभ्यास रूप प्रसंख्यान का प्रमोत्पादकत्व अनुपपन्न कैसे हैं, जब कि यह अनुष्ठीयमान ही ऐकाग्रवर्धन के द्वारा नहीं प्रत्युत प्रमिति वर्धन के द्वारा परिपूर्ण प्रमिति उत्पन्न करता है। यह प्रसंख्यावादियों की शंका भी आचार्य सुरेश्वर के अनुसार समुपपन्न नहीं क्योंकि अभ्यास के द्वारा केवल बुद्धि का ऐकाग्रय संभव है। प्रमाण अभ्यास की अपेक्षा किए बिना स्वतः विषयावबोधन करते हैं। **अभ्यासोपचयादबुद्धैर्यत्स्यादेकाग्र चमेवतत् । नहि प्रमाणान्यभ्यासाकुर्वन्त्यर्थावबोधनम् ॥**[603] प्रसंख्यानवादियों का यह

---

[599] सम्बन्ध वार्तिक ७६८-६९

[600] संबन्धवार्तिक, ७६३

[601] नैष्कर्म्यसिद्धि सम्बन्धोक्ति, अध्याय ३ ब्राह्मण ८२ वार्तिक १५६

[602] सम्बन्ध वार्तिक, वार्तिक ८११-१५

[603] नैष्कर्म्यसिद्धि, अध्याय ३, कारिका ६०, पृष्ठ १६०

अभ्युपगम कि अभ्यासोपचित भावना समस्त सांसारिक दुःखों का निर्वतन कर देगी, उपयुक्त नहीं क्योंकि भावनाजन्य होने के कारण यह निवृत्ति फल ऐकान्तिक नहीं हो सकता । **अभ्यासोपचिता कृत्स्नं भावनायेन्न निवर्तयेत् । नैकान्तिको निवृत्तिस्यादभावनाज हि तत्फलम्**[604]॥

संसृष्ट स्वभाव तत्त्वमस्यादि वाक्यों के श्रवण से संसृष्ट परोक्षतया अवगत ब्रह्म के असंसृष्टापरोक्ष बाध के लिए संसर्गात्मक ज्ञान का निरन्तर ध्यान या अभ्यास अपेक्षित - इस मंडन मत का आचार्य सुरेश्वर ने इस प्रकार यत्नतः प्रतिवाद किया है[605] मानान्तर से अपरिज्ञात प्रमेय के अज्ञातत्व का बाध कर प्रमेय का बोध कराना प्रमाण का लक्षण है। अतः प्रमान्तर से अनधिगत ब्रह्म के अज्ञान का बाध कर ब्रह्म का निश्चित ज्ञान कराने वाले तत्त्वमस्यादि वाक्यों को अप्रमाण नहीं माना जा सकता | **मानान्तरापरिज्ञाते प्रमेयाथं प्रभां स्फुटाम् । मेथाज्ञातत्ववाचेन कुर्वन्म(नामितियंते । ब्रह्मान पिंगतंदं वाध्यादन्यैः प्रमातन् । तयथावोधयेद्वानयं तत्तयैवेति गृह्यताम् ।।** [606] तत्त्वमस्यादि वाक्य से प्रचीयमान होने वाले ब्रह्म के विषय में यह कथन कि पहले संसर्गात्मक ब्रह्म का बोध होता है और तत्पश्चात् तदभ्यासोत्थ ज्ञान से असंसर्गात्मब्रह्म का बोध होता है, प्रमाणविरुद्ध होने के कारण अनुपपन्न है। यह मान्यता -कि जैसे दूरस्थ चक्षु से सर्वप्रथम वृक्ष के विषय में (यह कोई वस्तु है) इत्याकारक सामान्य ज्ञान होता है और पुनः समीप गमन से 'वृक्षोऽयम्' यह विशेष संविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार स्वस्वभावानुसार शब्द सर्वप्रथम संसृष्ट-परोक्ष ब्रह्म का ज्ञान कराता है और इसके पश्चात् अभ्यास सचिव हो असंसृष्ट अपरोक्ष ब्रह्म का बोध कराता है यह भी उपर्युक्त नहीं, क्योंकि कारक के विषय में यह तारतम्य स्वीकृत हो सकता है, पर 'तत्त्वमसि' इत्यादि बोधक वाक्यों में नहीं । **न चापि स्वप्रमेयेस्ति मानांनां वोवहेतुतः । तारतम्यं ययाकार्ये कारकाणांम संभवात् ।** [607] जैसे दीपक युगपत् अनेक विषयों का प्रकाशक होता है उसी प्रकार इन बोधक वाक्यों में बिना किसी क्रम के अर्थात् युगपत् अनेक व्यंजकता होती है। ब्रह्म चाहे ज्ञानान्तर से ज्ञात हो अथवा अज्ञात दोनों विकल्पों में शाब्दज्ञान को अयथावस्तुविषयक नहीं माना जा सकता |[608] शाब्दज्ञान समकाल ही अविद्या निराकृति और पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है अतः विधि का अभ्युपगम निरर्थक है। **'प्रजायाश्च समाप्तत्वादविद्यायाव निराकृतेः ॥ पुरुषार्थस्य चाप्तत्वात्किंग विधिशासनम्' ॥** [609] वाक्य प्रमाणोद्मत ज्ञान अयथावस्तुविषयक है एवं अप्रमा अर्थात् अभ्यासोत्थ ज्ञान वस्तुविषयक है-यह कथन केवल पांडित्य का सूचक है, वस्त्वगाहक नहीं क्योंकि यदि मिथ्याज्ञान के अभ्यास से सम्यक् ज्ञान का समुद्भव स्वीकार किया जाय तो (मिथ्याज्ञान का सदैव अभ्यास करने वाले) देहियों को बिना किसी प्रयत्न के ही मुक्ति होने लगेगी । **वाक्यमानोदूनवं ज्ञानमययावस्वितीयते ॥ यथावस्वप्रमोत्यं च चियं सर्वज्ञचेष्टितम् नव मिश्राावियोऽन्यासात्मम्यग्नानं समुद्भवः || तथा सत्यप्रयत्नेन मुक्तिः स्यात्मवंदेहिनाम्** || [610] प्राणी सदैव मिथ्या विज्ञान का अभ्यास करते हैं, किन्तु

---

[604] नैष्कर्म्यसिद्धि, अध्याय ३, कारिका ६१, पृष्ठ १६०

[605] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक अध्याय ४ वार्तिक ४००-८३५

[606] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४,ब्राह्मण ४ वार्तिक ८११-१२

[607] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक -अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक ८१५

[608] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक ८१६-१८

[609] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४,ब्राह्मण ४, वार्तिक ८१६

[610] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, वार्तिक ४, वार्त्तिक ८२०-२१

यह देखा जाता है कि उन्हें ब्रह्म ज्ञान नहीं होता। अतः मिथ्या-ज्ञान का अभ्यास सम्यग्ज्ञान के जन्म के कारण नहीं माना जा सकता।[611] माना के व्यंजक मात्र होने के कारण प्रसंख्यानवादियों का यह कथन भी युक्ति सह नहीं कि 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीन' यह श्रुति मिथ्याज्ञानाभ्यास अर्थात् प्रसंख्यान को सम्यग्ज्ञान के जन्य में कारण मानती है । **अपि मियाथियोऽन्यासः सम्यग्ज्ञानस्य जन्मने । स्वादेवानमिव्यंजकत्वतः ॥**[612] जैसे लोक में जिसका अभ्यास किया जाता है उसी का दाढर्य देखा जाता है, उसी प्रकार मिथ्याज्ञान के अभ्यास से मिथ्याज्ञान ही दृढ़ होगा। इस प्रकार भावना अभ्यास या प्रसंख्यान (जो सुरेश्वर के शब्दों में मिथ्याज्ञान है।) कभी भी सम्यग्ज्ञान का उत्पादक नहीं हो सकता। अतएव प्रसंख्यान विधि का ब्रह्मज्ञान में साक्षात्कारणत्व असंभव है।

४.३ अवच्छेदवाद

यह मत भामतीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र का है। शंकराचार्य के शिष्य वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म-जीव सम्बन्ध में अवच्छेदवाद को स्वीकार किया है। इनका मानना है कि जैसे एक आकाश होने पर भी घट तथा मठ आदि उपाधियों से अवच्छिन्न होकर घटाकाश और मठाकाश आदि अनेक रूपों वाला हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म स्वयं एक होकर अन्त:करण से अवच्छिन्न होकर अनेक जीवों के रूप मे प्रतीत हो जाता है। आत्मा या ब्रह्म का जीवत्व अन्त:करण से सीमित होने पर होती है। वह अन्त:करण अणु है अत: जीव भी अणुरूप ही है –'बुध्यादिकृतमस्य जीवत्वमिति बुद्धेरन्त:करणस्याणुतया सोऽप्यणुदेशभाग्भवति नभ इव कारकोपहितं'।

[611] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, वार्तिक २२

[612] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ८, ब्राह्मण ४, वार्तिक ८२५

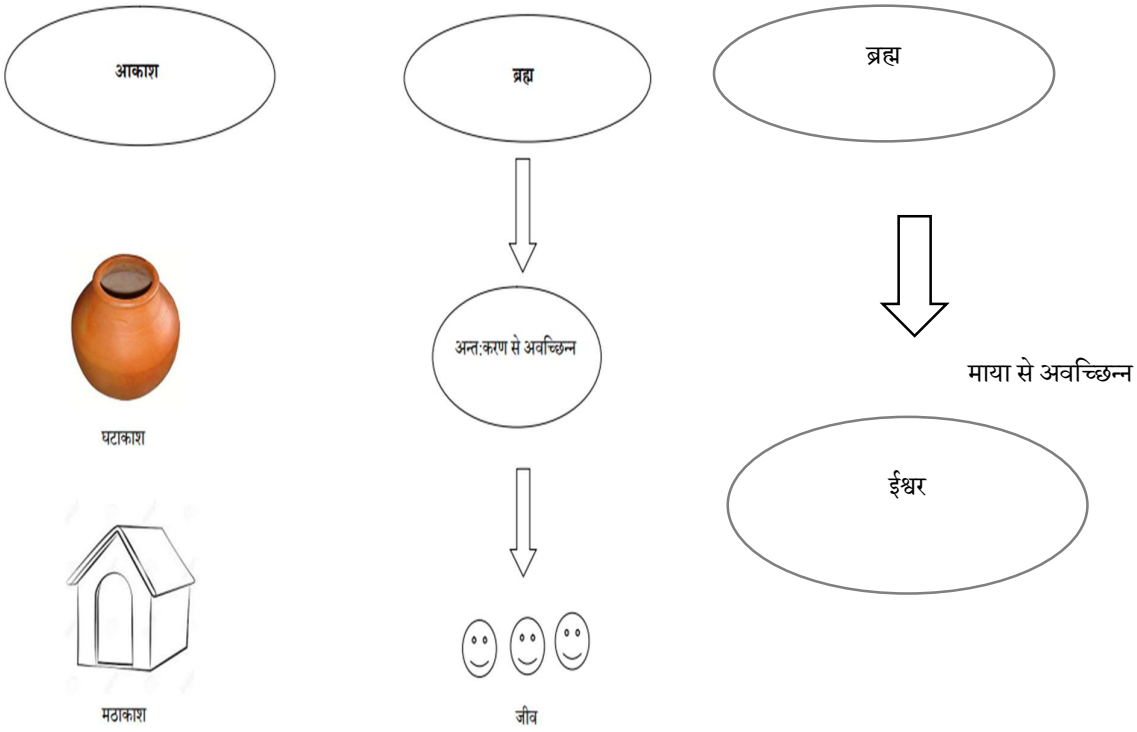

४.२.१. शांकर ग्रन्थों में अवच्छेद की शब्दावली

४.३.१.१. ब्रह्म अपरिच्छिन्न है।

नैत्रेन्द्रियगोचर संसृति के समग्र सांव्यवहारिक--प्रातिभासिक पदार्थसार्थ तथा कार्याधिगम्य अव्याकृतादि देश, काल या वस्तु से अनन्त तथा वस्तुत: परिच्छिन्न है। उदाहरणार्थ देशत:परिच्छेद रहित आकाश काल और वस्तु से अनन्त न होने के कारण कालत: वस्तुत: परिच्छिन्न है। कालत: अनन्त गोत्वबुद्धि नितान्त भिन्न अश्वत्व बुद्धि नामक वस्तु से निवृत्त होने के कारण वस्तु परिच्छिन्न

है ।[613] इसी प्रकार काल से अपरिच्छिन्न है अर्थात् निकालातीत, कार्याधिगम्य अव्याकृत (अज्ञान) तथा सूत्रादि भी वस्तुपरिच्छिन्न हैं -**'यच्चान्यत्त्रिकालातीतं कार्याधिगम्यं कालापरिच्छेद्यम् अव्याकृतादि'[614]।** बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य ने संपूर्ण भूतों तथा निखिल लोकों को कार्य, स्थूल एवं परिच्छिन्न सिद्ध किया है[615]। पर श्रुति-स्मृति युक्ति-समधिगत ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप, प्रकाशस्वरूप, विगलितसमस्त प्रपंच, अद्वैत, अनन्त तथा अमेय अर्थात् इयत्ता रहित होने के कारण परिच्छेदशून्य है ।[616] ब्रह्म की त्रिविध परिच्छेद शून्यता शंकर ने इस प्रकार सिद्ध की है ।

४.३.१.२. काल से अपरिच्छिन्न[617]

'न तस्य कार्य करणं च विद्यते' इस श्रुति से आत्मा अकार्य तथा कारण रहित समधिगत है अतः यह काल से परिच्छिन्न नहीं हो सकता । जो वस्तु-व्रात प्राणादि नाम पर्यन्त कलाओं से युक्त होते हैं वही कालत्रय से परिच्छिन्न हो उत्पत्ति एवं विनाश के भाजन होते हैं पर यह ब्रह्म अकल (निष्प्रपंच) है, इसलिए कालत्रय इसके अवच्छेदक नहीं हो सकते । उत्पत्ति-संशीलक सम्पूर्ण पदार्थों के परिच्छेदक दिन और रात्रि भी इसके अतिक्रामक नहीं । अन्य सांसारिक पदार्थसार्थ निश्चयतः इस अहोरात्रादि रूप काल से परिच्छेद है, पर ब्रह्म नहीं -- यह 'यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोमि: परिवर्तते'[618] इस श्रुत्यन्तर से भी ज्ञात होता है - **सेतुमात्मानमहोरात्रे सर्वस्य जनिमतः परिच्छेदके सती नैवं तरतः । यथाऽन्ये संसारिणः कालिनाऽहोरात्रादिलक्षणेन परिच्छेद्या न तथार्य कालपरिच्छेद्य इत्यभिप्रायः । यस्मादर्वावसवत्सरोऽहोभिः परिवर्तत इति श्रुत्यन्तरात्[619]।**

४.३.१.३. वस्तु से अपरिच्छिन्न[620]

---

[613] तैतिरीयोपनिषद् शांकर भाष्य २।१५० ५५

[614] माण्डूक्योपनिषद् शांकर भाष्य आगम प्रकरण पृष्ठ ११)

[615] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य ३।६।१, पृष्ठ ४२४

[616] विज्ञान नौका, श्लोक ५ पृष्ठ ३ कुम्भकोणम् से प्रकाशित तथा वि० स० ना०मा० पृष्ठ ५२८ तथा श्वेताश्वेतारोपनिषद् पृष्ठ २५७ गीता प्रेस

[617] तैतिरीयोपनिषद् शांकर भाष्य २।१ पृष्ठ ५५ तथा श्वेताश्वेतारोपनिषद् पृष्ठ २३७ गो० प्रेस

[618] बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।१६

[619] छान्दोग्योपनिषद् शांकर भाष्य ८४११ पृष्ठ ४०१-४०२

[620] तैतिरीयोपनिषद् शांकर भाष्य २११ पृष्ठ ५५

सजातीय, विजातीय, स्वगत इन त्रिविध भेदों से रहित[621] ब्रह्म वस्तुपरिच्छिन्न नहीं हो सकता। आत्मातिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है, इसलिए उसकी अपरिच्छिन्नता यथावत् है। एक वस्तु से भिन्न दूसरी वस्तु एक दूसरे को परिच्छिन्न करती है। इस अद्वय तत्व से अतिरिक्त अन्य कोई तत्समान-सत्ताक वस्तु नहीं, जो उसको परिच्छिन्न कर सके।

४.३.१.४. देश से अपरिच्छिन्न

आकाश जैसे अनन्त तथा सर्वगत वस्तु का कारण होने के कारण ब्रह्म देश से भी अपरिच्छिन्न है क्योंकि लोक में यह देखा जाता है कि कोई सर्वगत वस्तु उससे अधिक वस्तु से ही आविर्भूत होती है।[622] इसके अतिरिक्त यदि ब्रह्म देश परिच्छिन्न हो तो मूर्त द्रव्य के समान सादि सान्त पराश्रित, सावयव, अनित्य और कृतक हो जाएगा - **"यदि हि देशरिच्छिन्नं ब्रह्म स्यान्मूर्तद्रव्यवदाद्यन्तवदन्याश्रितं सावयवमनित्यं कृतकं च स्यात्। न त्वैवैविधं ब्रह्म भवितुमर्हति।"**[623] जब कि श्रुतियों से एतद्विपरीत वर्णित होने के कारण वह एकविध नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मदेशतः अपरिच्छिन्न है।

कहने की अभिसंधि यह है कि ब्रह्म का देश काल या वस्तु किसी से अन्त या परिच्छेद नहीं है - **'अस्यान्तः परिच्छेदो देशतः कालतो वस्तुतो वा न विद्यत इति'**[624] और इसीलिए शांकर सम्मत यह सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म त्रिविध परिच्छेद शून्य है।

४.३.२. ब्रह्म का पारमार्थिक और व्यावहारिक द्विविध रूप

४.३.२.१. पर ब्रह्म

४.३.२.२. अपर ब्रह्म

ब्रह्म के दो रूप है। उसका पारमार्थिक रूप पर ब्रह्माख्यक है जिसका उपदेश अविद्याकृत नाम-रूपादि विशेषों के प्रतिषेधपरक अस्थूलादि शब्दों से श्रुतियों में किया गया है। यही ब्रह्म नामरूपादि विशेषों से विशिष्यमाण हो जब उपासना के लिए मनोमयः प्राणशरीरो भारुपः (छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।२) इत्यादि शब्दों में उपदिष्ट होता है तब उसे अपर ब्रह्म कहा जाता है - **यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषत्प्रतिषेदास्थूलादि शब्दैब्रह्मादिश्यते तत्परम्।**

तदेव यत्र नामरुपादिविशेषेण केनचिद् विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'गमनोमयः प्राण शरीरो भारुपः॥[625] पर ब्रह्म समस्त उपाधिविशेषों से रहित, सम्यग्दर्शनविषय, अज अजर, अमर, अभय, वाणी और मन का भी अविषय है तथा अद्वैत होने के कारण वेदान्त ग्रन्थों में नेति-नेति रूप से

---

[621] सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह - ६६२-६३ पृष्ठ १८६-६

[622] तैतिरीयोपनिषद् शांकर भाष्य २।१ पृष्ठ ५६

[623] मुण्डकोपनिषद् शांकर भाष्य ३।२। ६ पृष्ठ ४८

[624] प्रवे० उ० शांकर भाष्य ११६ १० ११७, गीता प्रेस तुलनीय बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य १।३।१। पृष्ठ ५२

[625] छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।२ इत्यादिशब्देस्वदपरम ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य ४।३।१४ पृष्ठ ८८६ तथा वही १।१।१२ पृष्ठ११६

निर्दिष्ट किया जाता है। इसे ही निरुपात्य या निरुपाधिक ब्रह्म कहा जाता है। अपर ब्रह्म पंतभूतजनित देह और इन्द्रिय से सम्बद्ध तथा तज्जनित वासनारुप वाला है। यह सर्वज्ञ है,सर्वशक्तिमत् है तथा शब्दप्रत्ययविषयी होने के कारण सोपाख्य या सोपाधिक पदाभिधेय है। 'नेति' 'नेति' निषेधात्मक पदों के द्वारा उल्लेख्य ब्रह्म के ही यह दोनों रूप है। ब्रह्म का निरूपाधिक रूप अमूर्त (निराकार) अमृत (मरणविपरीत), यत् (यातीति यत्) अर्थात् व्यापक, अपरिच्छिन्न, स्थित, विपरीत स्वभाव तथा त्यत् अर्थात् इन्द्रियगोचर होने के कारण परोक्षाभिधानार्ह है। इसके विपरीत ब्रह्म का सोपाधिक रूप मूर्त (साकार) मर्त्य (मरणधर्मी) स्थित अर्थात् परिच्छिन्न या गति पूर्वक स्थाम्नु तथा सत् अर्थात् घटादि अन्य पदार्थों में विशेष्यमाण असाधारण धर्मवाला कहा गया है।[626] ब्रह्मसूत्र भाष्य में - **'स तेजसि सूर्य संपन्नः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम् इति च तद्विदो देशपरिच्छिन्नस्य फलस्योव्यमानत्वात्' । न हि परब्रह्मविद्देशपरिच्छिन्नं फलमश्नुवीतेति युक्तम्, सर्वगतत्वात् परम्य ब्रह्मणः ।**[627] आचार्य शंकर ने पर तथा अपर इन दो ब्रह्मरूपों का उल्लेख करते हुए अपर ब्रह्मोपासक के लिए देश-परिच्छेद युक्त फल का तथा ब्रह्मवेत्ता के लिए देश परिच्छेद रहित फल का विधान किया गया है तथा इन दोनों के फल के अन्तर की पुष्टि के लिए श्रुतियों का उद्धरण भी प्रस्तुत किया है।

४.३.३. निरुपाधिक तथा सोपाधिक ब्रह्म का सम्बन्ध

सोपाधिक और निरुपाधिक दो रूपों में वर्णन करने का अभिप्राय यह नहीं है कि ब्रह्म के दो भेद है क्योकि व्यापक, निरंतर तथा निरुपाधिक परब्रह्म ही अविद्या प्रत्युपस्थापित नाम रूप विशेषों में प्रविष्ट व्यवहारापन्न सा होकर सोपाधिक प्रतीत होता है | सोपाधिक रूप में प्रतीत भी ब्रह्म अपने पारमार्थिक स्वरूप में निरन्तर पूर्ण बना रहता है अर्थात् कार्यात्मक विशेषरूपों में उद्रिक्त होता हुआ भी अपने निरुपाधिक स्वरूप पूर्णत्व अर्थात् ब्रह्मभाव को नहीं छोड़ता।[628] ब्रह्म का यह नामरूपोपाध्यनुरोधि सोपाधिक रूप शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर है।[629] व्यवहारावस्थापर्यन्त इस सोपाधिक ईश्वर की सत्ता है और यह सत्ता व्यावहारिकी है- **विशेषवतो हि सोपाधिकस्य संव्यवहारार्थो गुणगुणिभावो न विपरीतस्य । निरुपाख्यो हि विजिज्ञापयिषितः सर्वस्यामुपनिषदि । स एष नेति नेति इति उपसंहारात् ।**[630] क्योंकि परमार्थावस्था में तो ईशित्व तथा ईशियव्यत्यादिक सम्पूर्ण व्यवहारों की सत्ता असंभव है ।

---

[626] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य २।३।१ पृष्ठ २८३-८४

[627] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १|३|१३ पृष्ठ२२

[628] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य ५।१। पृष्ठ ६८०-८१

[629] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य २।३।१

[630] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य २।१।१५ पृष्ठ २४१

४.३.४. अविद्या स्वरूप तथा नामान्तर

यदि पर ब्रह्म एक है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं तो फिर यह उच्चावच प्रपंच कैसे प्रतिभासित होता है ? इसके उत्तर में शंकर ने श्रुति, युक्ति एवं अनुभव के आधार पर एक ऐसी बीजभूत परमात्मशक्ति का सद्भाव माना है जिसके व्यपाश्रय से अद्वय ब्रह्म इस नामरुपात्मक प्रपंचजात की कारणता का निर्वहण करता है। अविद्या न सत् है न असत्। यदि सत् होती तो सर्वदा सर्वत्र होती और कभी बाधित न होती किन्तु 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है कि तत्व ज्ञान से इसकी निवृत्ति हो जाती है। अविद्या असत् भी नहीं क्योंकि ऐसा होने पर वह नामरूपात्मक प्रपंच के पदार्थ सार्थ की अवभासिका न हो पाती । जिसकी स्वयं न सत्ता हो और न प्रतिभास हो वह कैसे प्रपंचावभासिका हो सकती है ? 'अहमज्ञः' इत्याकारक अनुभव गोचर अविद्या को असत् नहीं कह सकते। अतः सत्, असत् तथा तदुभयविलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है –

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ॥[631]

शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थों में स्थान स्थान पर अविद्या का अनादि, अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मिका, भावरूपा -**'सदसदविलक्षणासौ परमात्माश्रयादनादिः।**

सा च गुणत्रयरुपा सृजते चराचरविश्वम्' ॥[632] तथा नैसर्गिकीं - **'सत्यां च नैसगिक्यामविद्यायाम्'**।[633] आदि शब्दों से वर्णन किया है। इस अविद्यात्मिका बीजशक्ति का आश्रय परमेश्वर है ।[634] यद्यपि शांकर ग्रन्थों में अविद्या बहुशः परमेश्वराश्रिता तथा परमेश्वर की शक्ति रूप में वर्णित की गयी है तथापि यह आत्मा के स्वाभाविक धर्म के रूप में नहीं स्वीकृत हो सकती। यदि इसे आत्मा के स्वाभाविक धर्म के रूप में स्वीकृत किया जाय तो इसको उच्छित्ति कदापि संभव नहीं, जैसे सविता का स्वाभाविक वीपण्य एवं प्रकाश किसी भी उपाय से नहीं निवृत्त किया जा सकता है - **'सा चाविद्या नात्मनः स्वाभाविको धर्मो यस्माद् विद्याया मुत्कृप्यमाणायां स्वयमपचीयमाना सती काष्ठां गतायां विद्यायां परिनिष्ठते सर्वात्मभावे सर्वात्मना निवर्तते रज्ज्यामिव सर्पज्ञानं रज्जुनिश्चये । तच्चोक्त यत् त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कंपश्येदित्यादि । तस्मान्नात्मधर्मोऽविद्या नहि स्वाभाविकम्योच्छित्तिः कदाचिदप्युपपद्यते सवितुरिवीष्ण्यप्रकाशयोः'**[635]**।** यद्यपि परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने माया तथा अविद्या इन दोनों में

---

[631] विवेकचूडामणि, श्लोक १११ तथा ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।१।१४ पृष्ठ३४२

[632] प्रबोध-सुधाकर ६६ पृष्ठ ७४ तथा विवेकचूडामणि श्लोक ११० पृष्ठ २२८

[633] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य ३।२। १५, पृष्ठ ६४३

[634] द्रष्टव्य- ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।४।३ पृष्ठ २६७-६८ आदि

[635] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य ४।३।२० पृष्ठ ५५६

अन्तर किया है पर आचार्य शंकर ने अविद्या माया तथा अज्ञान में कोई अन्तर नहीं किया है[636] तथा उनमें से किसी एक का यथावसर प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अविद्या बोधनार्थ तम, मोह, अव्याकृत अनवबोध, अप्रतिबोध, अनवगम, आकाश प्रभृति पदों का भी प्रयोग किया है। कतिपय उद्धरणों से इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है :--

(१) अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देशया परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरूप प्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। तदेतदव्यक्तं क्वचिद् आकाशशब्दनिर्दिष्टं 'एतस्मिन्नु खत्वक्षरे

गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च[637] इति श्रुतेः क्वविदक्षर शब्दोदितम् अक्षरात्परतः परः[638] इति श्रुतेः । क्वचिन्मायेति सूचितम् 'मा यां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'[639] इति मन्यवर्णात्।[640]

(२) अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयं तस्यैवोपाधिभूतं सर्वस्माद्विकारात्परो यो विकारस्तस्मात्परतः परं इति भेदेन व्यपदेशात्परमात्मानमिह विवक्षितं दर्शयति[641] ।

(३) 'मोहस्तु विपरीतप्रत्ययप्रभवोऽविवेको भ्रमः स चाविद्या सर्वस्यानर्थस्य प्रसवबीजम्[642] ।'

(४) अप्रतिबोधादब्रह्मास्म्यसर्व चेत्यात्मन्यक्यारोपात्कर्त्ताऽहं क्रियावान् फलानां च भोक्ता सुखी दुःखी

---

[636] While Sankara uses avidya and maya indiscriminately, later Advaitins draw a distinction between the two.

S. Radhakrishnan. The Advaita Vedanta of Sankara P. 135

[637] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य ३/८/११

[638] मुण्डकोपनिषद् २/१/२

[639] श्वेताश्वेतारोपनिषद् ४।१०

[640] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।४।३ पृष्ठ२६७-६८

[641] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।२।२२ पृष्ठ १९१-९२

[642] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य ३।५।१ पृष्ठ ४१०

संसारी इति चाध्यारोपयति[643] ।

(५) विज्ञानघातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते[644] ।

४.३.५. अविद्या का कार्य

अविद्या का मुख्य कार्य परम परावभास रुप अध्यास है । अविद्यासंवृत सत् सर्वदा रहता हुआ भी लक्षित नहीं होता - **अविद्ययासंवृतं सन्नलक्ष्यते तत्रस्यमेवाविद्वभि : ।**[645] मिथ्याचाररूपा माया या अविद्या आत्मा को बाह्य रूप से अन्यथा प्रकाशित कर अन्यथा ही कार्य करती है **- माया नाम बहिरन्ययाऽऽत्मानं प्रकाश्यान्यथैव कार्य करोति सा माया मिथ्याचाररूपा।**[646] शांकर ग्रन्थों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सकल नाम-रूप-भेद वाचारम्भणमात्र होने के कारण अविद्या कल्पित है **- वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्याकल्पितस्यनामरुपभेदस्य ।**[647] ईश्वरादि स्थावरान्त पदार्थसार्थ अविद्यावस्थापर्यन्त तक ही संभव है। शंकराचार्य ने जगत् के आविघक वस्तुव्रात को भी अविद्या की व्याख्या दी है। उनका कहना है कि अध्यास अविद्या है **- तमैतमेवं लक्षणंध्यासं पंडिता अविद्या इति मन्यन्ते ।**[648] कहने का आशय यह है कि अन्यवस्तु में अन्यवस्तु का धर्माध्यारोप अविद्या है जिस प्रकार प्रसिद्ध रजत का प्रसिद्ध शुक्ति में कि वा प्रसिद्ध पुरुष का प्रसिद्ध स्थाणु में आरोप अविद्या है उसी प्रकार देहादि अनात्मा में 'अहमस्मि' इत्याकारक आत्मबुद्धि अविद्या है - **देहादिअनात्मस्वहमस्वीत्यात्मबुद्धिअविद्या ।**[649] स्पष्ट शब्दों में अविद्या के कार्यों का अविद्याव्यतिरिक्त स्वरुप नही ।

४.३.६. अविद्या तथा कल्पित आत्मपरिच्छेद

---

[643] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य १।४।१० पृष्ठ १४२

[644] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।३।१९ पृष्ठ २३८

[645] मुण्डकोपनिषद् शांकर भाष्य ३।१।७ पृष्ठ ३६

[646] प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य पृष्ठ १३ तथा उपदेश साहस्री, प्रथम भाग प्रकाश २ पृष्ठ ३३

[647] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य पृष्ठ ४०१

[648] अध्यास भाष्यं पृष्ठ १६

[649] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।३।२ पृष्ठ२००

आनन्दरुप आत्मा अविद्या के कारण परिच्छिन्न प्रतीत होता है **स एवात्मा आनन्दरुपो विद्यया परिच्छिन्नो विभाव्यते पाणिभिरित्यर्थः ।**[650] अपरिच्छिन्न पर ब्रह्म अविघकवस्तु की भ्रान्ति से उसी प्रकार परिच्छिन्न सा प्रतीत होता है जैसे अवच्छिन्न, पृथिवी ग्राम्, क्षेत्रादि उपाधियों से छिन्नवत् दृष्टिगोचर होती है ।[651] कहने का आशय यह है कि अविद्या एवं उसके कार्यजात आत्मपरिच्छेद के कारण है जिससे परिच्छिन्न हो आत्मा ईश्वर तथा जीवादि रुपों में प्रतीत होता है परमार्थत: आत्मा का परिच्छेद से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह सर्वगत है उसको एक स्थान पर परिच्छिन्न मान लेने पर आत्मा के अनित्यत्व का प्रसंग होगा तथा उसकी सर्वात्मकता व्याहत होगी । आत्मपरिच्छेद कल्पित है क्योंकि परिच्छिन्न होते हुए भी आत्मा सर्वगत[652] नित्य[653] तथा महाप्रपन्चमात्रच्छिन्न होते हुये एक[654] माना जाता है ।

४.३.७. ब्रह्म का ईश्वरत्व , सर्वज्ञत्व तथा जगत्कारणत्व ---

इस अविद्यारुप उपाधि से परिच्छिन्न ब्रह्म का ईश्वरत्व , सर्वज्ञत्व तथा जगत्कारणत्वादिक सिद्ध होता है क्योकि अपास्तसमस्तविशेषरुप ब्रह्म में स्वत: इन व्यवहारों का उपपत्ति असंभव है -
'तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च न परमार्थतो विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आन्मनीशित्रौशितव्यसर्वज्ञत्वादि व्यव्हार उपपद्यते ।'[655]

तथा 'चैतन्यं तदवच्छिन्नं सत्यज्ञानादिलक्षणम् ।
सर्वज्ञत्वेश्वरत्वांतर्यामित्वादिगुणैर्युतम्' ॥

अदृश्यत्वादिगुणभूतयोनि परमात्मा है, सांख्यशास्त्राभिमत अचेतन प्रधान या उपाधिपरिच्छिन्न जीव नही क्योकि "अदृश्यत्वादिगुण धर्मोत्के" (ब्रह्म सूत्र १।२।२१) न्याय से सर्वज्ञत्व और सर्वविित्त्व परमेश्वर के धर्म कहे गये हैं ।[656]'विशेषणभेदव्यपदेशाम्यां च नेतरो' (१।२।२२) सूत्र से भी परमेश्वर का भूतयोनित्व सिद्ध होता है।[657] अन्तर्यामी भी यही परमात्मा हे जीव नहीं । यद्यपि द्रष्टृत्वादिक जीव के

---

[650] तैतिरीयोपनिषद् शांकर भाष्य

[651] सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह, श्लोक ६९६-९७ पृष्ठ १६०

[652] विवेक चूडामणि, श्लोक ५४५ पृष्ठ २६७

[653] प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य ६।२ पृष्ठ ६१

[654] सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह, श्लोक ४५३ पृष्ठ१६९

[655] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।१।२१ पृष्ठ ३८२ तथा सर्ववेदान्त सिद्धान्तसारसंग्रग्रह पृष्ठ १६१

[656] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।२।२१ पृष्ठ १८६ से १९०

[657] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।२।२२ पृष्ठ १९१-९२

धर्म हो सकते है, परन्तु घटाकाशवत् उपाधिपरिच्छिन्न जीव न तो पृथिव्यादि के अन्तर्गत अवस्थित हो सकता है और न उनका नियामक बन सकता है।[658]

४.३.८. जीव- मुख्यत, एकत्व तथा औपचारिकत, नानात्व—

जिस प्रकार घट कारक इत्यादि उपाधियों के कारण अपरिच्छिन्न आकाश घटाकाश करकाकाश इत्यादि परिच्छिन्न रूप में अवभासित होता है उसी प्रकार अनवच्छिन्न परमात्मा ही देहेन्द्रियमनोबुद्धि उपाधियों से परिच्छिद्यमान सा ही शरीर (जीव) रूप से व्यपदिष्ट होता है - **पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धयुपाधिभि: परिच्छिद्यमानो बालै: शारीर इत्युंपचयंते । यथा टकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपिनम: परिच्छिन्नवदवभासते तद्वत्[659]।** मधुसूदन सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तबिन्दु तथा अप्पय दीक्षित ने निज ग्रन्थ सिद्धान्तलेशसंग्रह में दृष्टि सृष्टिवाद और एक जीववाद को मुख्य वेदान्त सिद्धान्त माना है - **'अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वर:, अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति वा, अज्ञानानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वर:, अज्ञानोपहितं जीव इति वा, मुख्यो वेदान्त सिद्धान्त एकजीववादाख्य: । इयमेव च दृष्टिवादमाचक्षते ।'[660]** श्रीचन्द्रशेखर दीवान ने सिद्धान्तबिन्दु की मुख्यो वेदान्त एकजीववादाख्य पंक्ति की टिप्पणी में एक जीववाद अथवा दृष्टि सृष्टि वाद को शंकराचार्य का मत बतलाया है।[661] वस्तुत: शंकर के ग्रन्थों के परिशीलन से यही स्पष्ट होता है कि शंकर जीव को मुख्यत: एक और उपाधिवशात् नाना मानते थे—

---

[658] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।२।२१ पृष्ठ १८८

[659] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।२।६ पृष्ठ १६५) : ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।२।२० पृष्ठ १८५, १।२।२१ पृष्ठ ८८ : १।२।२२ पृष्ठ १९१, १।३।१४ पृष्ठ २२६
तथा १।४।१८ पृष्ठ ३२६

[660] सिद्धान्त बिन्दु: । सिद्धान्तलेशसंग्रह: प्रथम परिच्छेद पृष्ठ १२१

[661] The three theories above set forth are propounded by the followers of Sankaracharya who differed from him in some minor particulars His own theory is known as the एक जीववाद (onesoul-theory) or दृष्टिसृष्टिवाद Theory of Idealism.
In that theory the Supreme Being is either the self which being qualified by ignorance becomes the dix or which remains pure i, e., unqualified by ignorance and the individual soul is either the self reflected in or qualfied by ignorance
Notes on Siadhanta Bindu, P.94 (G.O.S तुलनीय Dinesh Chandra Bhattacharya: Mandana, Suresvara and Bhavabhuti "Sankara and his host of followers generally favours Ekajivavada Indian Historical Quarterly for 1931 Vol VII P. 302

एवमेकत्वं नानात्वं च हिरण्यगर्भस्य तथा सर्वजीवानाम् ।[662] अर्थात् जीव हिरण्यगर्भवत् समष्टिबुद्धयुपाध्यवछिन्न चैतन्य के रूप में एक है किन्तु नाना व्यष्टि बुद्धयुपाध्यवच्छिन्न चैतन्य के रूप में नाना प्रतीत होता है। जीवों की औपाधिक अनेकता का स्पष्टीकरण करते हुए शंकराचार्य का कहना है[663] कि जैसे सुदीप्त अर्थात् प्रज्वलित हुए अग्नि से उसी के से रूप वाले सहस्रों (अनेक) अग्नि-अवयव रूप विस्फुलिंग निकलते है या जैसे घटादि उपाधि भेद के अनुसार उन घटादि से परिच्छिन्न आकाश से बहुत से सुपिर (घटाकाशादि) अवभासित से होने लगते हैं उसी प्रकार अनेक देह रूप उपाधि भेद से परिच्छिघमानवत् अक्षर ब्रह्म से नामरूप कृत देहोपाधि प्रभवसमकाल तदुपहित नाना जीव अवभासित होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि मुख्यतः ब्रह्म एक ही है पर उपाधि से अवच्छिन्न होने के कारण वह अनेक नाम रूपों में निर्भासित सा होता है । परमात्मा का यह जीवभाव उपाधिनिबन्धन है।[664] उपाधि संबन्ध के बिना जीव का स्वतः कोई आधार नहीं क्योंकि उपाधि संबन्ध के अभाव में ब्रह्म से पृथक् न होने के कारण जीव स्वमहिमप्रतिष्ठ है। **'न ह्युपाधिसम्बन्धमन्तरेण स्वत एव जीवस्य आधारः कश्चित् संभवति, ब्रह्मव्यतिरेकेण स्वमहिम प्रतिष्ठितत्वात्।**[665]

४.३.९. जीवपरिमाण विचार

दिगम्बर (आर्हत) जीव को शरीरपरिमाण मानते हैं। पर जीव को शरीर परिमाण रूप मानने पर आत्मा अकृत्स्न, असर्वगत एवं परिच्छिन्न हो जायगा और घटादि के समान उसके अनित्यत्व तथा अन्तवत्त्व का प्रसंग होगा। आर्हत मत की मान्यता कर्म सिद्धान्त से भी उक्ति नहीं, क्योकि मानव शरीर-परिमाणी-जीव यदि कर्म विपाकवश हस्तिजन्म प्राप्त करे तो तत्परिमाणीजीव सकल हस्तिशरीर को नहीं, व्याप्त कर सकेगा, इसी प्रकार पुत्तिकाजन्मलाभ करने पर पुत्तिकाशरीर में सम्पूर्ण जीव का समावेश संभव न हो सकेगा। पुनर्जन्म क्या एक जन्म में भी आर्हतसिद्धान्त सम्मत शरीरपरिमाणावच्छेदरुप, बाल्यावस्था, युवावस्थाजन्य तथा वृद्धावस्था शरीर के उपचयापचय के कारण सर्वगत न हो सकेगा। अत: आर्हतों की उपर्युक्त मान्यता पूर्णतः कल्पित है, युक्ति और अनुभवगम्य नही।[666] अद्वैत शास्त्र सम्मत जीव का पारमार्थिक स्वरूप अद्वैत है। इसे हम सांख्यसमयसम देहपरिच्छिन्न भी नहीं मान सकते। **'स्वदेहपरिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा च सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृती विशेषो न स्यात्।**[667] जीव अणु परिमाण है या मध्यम परिमाण या विभु इस विषय में आचार्य शंकर जीव का पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म को मानने के कारण विभु मानते हैं किन्तु व्यवहार दशा में अर्थात् अध्यासावस्था में बुद्धि परिमाण के अनुसार उसका अणूत्व भी स्वीकार करते हैं। जीव की

---

[662] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य १।४।६ पृष्ठ ९७

[663] मुण्डकोपनिषद् शांकर भाष्य २।१।१ पृष्ठ २०

[664] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।१।१४ पृष्ठ ३८२

[665] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य ३।२।७ पृष्ठ ६३३ तथा ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।३।३

[666] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।३४ पृष्ठ ४८४-८५

[667] माण्डूक्योपनिषद् शांकर भाष्य १।२ पृष्ठ १६

अणुता का व्यपदेश क्यों होता है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ 'तदुण सारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' (ब्रह्म सूत्र २।३।२९) इस सूत्राश्रित भाष्य है में उनका स्पष्ट कथन है कि बुद्धि के इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख इत्यादिक जो गुण है उनकी सार या प्रधानता आत्मा के संसारित्व की प्रयोजिका है। नित्यमुक्त, सत्, अकर्ता, अभोक्ता तथा असंसारा आत्मा का कर्तत्व भोक्तृत्वादि-लक्षणरूप संसारित्व बुद्धि रूपोपाधि के उक्त धर्मो के अध्यास के कारण है। बुद्धि के धर्मो की प्रधानता से बुद्धि परिमाण-व्यपदेश जीव के परिमाण का किया जाता है।[668]

४.३.१०. ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध

जीव वस्तुतः ब्रह्म है इसलिए शंकराचार्य ने द्वितीय- अध्याय के आत्माधिकरण भाष्य में कहा है[669] कि जीवोत्पत्ति विषयक श्रुति का अभाव होने के कारण जीव की उत्पत्ति संभव नहीं है, क्योंकि श्रुतियों में जीव के नित्यत्व, अजत्व और अविकारित्व का उपदेश किया जाता है तथा अविकृत ब्रह्म का ही जीवात्मना तथा ब्रह्मात्मना अवस्थान विदित होता है। ये श्रुतियाँ कौन हे ? 'न जीवो म्रियते' (छान्दोग्योपनिषद् ६।११।), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४|४|२५), 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठोपनिषद् २।१८), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठोपनिषद् २।१८), 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तैतिरीयोपनिषद् २।६।१),'अनेन जीवेनोत्मना-ऽनुप्रविश्य नाम - रूपे व्याकरणाणि'(छान्दोग्योपनिषद् ६।३।२), 'स एष इह प्रविष्ट आनखग्रेम्यः' बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य १|४|७), 'तत्वमसि'(छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।१०) तथा 'अयमात्मा ब्रह्म हा सर्वानुभूः' (बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१९), आदि जीव नित्यत्ववादिनी श्रुतियाँ जीव के उत्पत्ति की विरोधिनी हैं।

अपहतापाप्मत्वादिधर्मक ब्रह्म जीव का पारमार्थिक स्वरूप है, उपाधिपरिच्छिन्न नहीं, यह उपर्युक्त श्रुतियों से सुप्रतिपादित है।[670] यद्यपि परमात्मा और जीव का तात्त्विक भेदाभाव है पर औपाधिक भेद रहता ही है । जीव का औपाधिक भेद कैसे है इसके स्पष्टीकरण के लिए शंकर का कहना है कि जैसे चर्मखड्गधारी तथा सूत्र द्वारा आकाश में चढ़ते हुए मायावी से परमार्थरूप भूमिष्ठ मायावी अन्य है या उपाधि परिच्छिन्न घटाकाश अनुपाधि एवं अपरिच्छिन्न
आकाश अन्य है उसी प्रकार अविद्या कल्पित कर्त्ता, भोक्ता, विज्ञानात्मा जीव से परमेश्वर अन्य है।

परमेश्वरस्त्व विद्याकल्पिताच्छरीरात्कर्तृभोक्तुविज्ञानात्माख्यादन्यः । यथा मायाविनश्चर्मखट्द्वधरात्सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायायी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः । यथा वा घटाकाशदुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधि (र) परिच्छिन्न आकाशोऽन्यः ।[671]

अविद्या काम-कर्म-कृत तथा भय अध्यारोपित होने के कारण जीव में अमृतत्व तथा अभयत्व उपपन्न नहीं । **यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मा परमात्मनोऽनन्य एव, तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं**

---

[668] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।३४ पृष्ठ ४८४-८५

[669] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।३।१७ पृष्ठ ५२७

[670] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १|३|१९ पृष्ठ २३४

[671] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।१।१९ पृष्ठ १२४

तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयंचेत्यमृतत्वाभयत्वे नोपपद्यते।[672] अविद्या प्रयुक्त स्वरूपापरिज्ञान के कारण नानाविध क्लेशपाशों से बद्ध होकर जीव त्रिविध तापों का भाजन सा बना रहता है।[673] स्थाणु में पुरुषबुद्धिमम द्वैतलक्षणा अविद्या के कारण कूटस्थ ,नित्य तथा दृक्स्वरूप आत्मा की 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक प्रतिपत्ति जब तक जीव को नहीं होती तभी तक उसका जीवन है। जब देहेन्द्रिय मनोबुद्धि के संघात से व्युत्थापित होकर जीव को 'नासित्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातः', 'नासि संसारी' किन्तु, 'तद्यत्सत्यं सा आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूपः' 'तस्वमसि' इत्यादि श्रुतियों से प्रतिबोधन हो जाता है तब कूटस्थ नित्य दृक्स्वरूप आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है।[674] जीव के स्वमहिम प्रतिष्ठ होने के पूर्व सम्पूर्ण कर्म कर्तृत्वादि रूप भेद व्यवहार बने रहते हैं।[675]

४.३.११. जगत् तथा उसका भेद

नाम रूपों से व्याकृत, अनेक कर्त्ता तथा भोक्ता से संयुक्त प्रतिनियत देशोत्पादक, प्रतिनियत कालोत्पादक, प्रतिनियत निमित्त प्रतिनियत क्रिया तथा प्रतिनियत फल वाले पदार्थों के आश्रयभूत जगत्[676] को आचार्य शंकर ने बाह्य तथा आध्यात्मिक इन दो रूपों में विभक्त किया है **तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोगयोग्यं बाह्ययम् आध्यात्मिकं शरीरादिनानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं दृश्यमानम्** [677]।

१. बाह्य जगत्- नानाविध शुभ, अशुभ तथा व्यामिश्र-कर्मो के सुख-दुःख रुप फलों के साधन पृथिव्यादि लोक बाह्य जगत् है।
२. आध्यात्मिक जगत्- देव, तिर्यक्र, मनुष्य आदि अनेक प्रकार की जातियों से अन्वित प्रतिनियत (असाधारण) अवयवों की संघटना (विन्यास) वाले उक्त नानाविधकर्मों के सुख-दुखात्मक फलों के अधिष्ठानभूत दृश्यमान शरीरादि आध्यात्मिक जगत् हैं।

यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त उभयविध जगत् परस्पर भिन्न नहीं प्रत्युत प्ररस्पर संबंधित हैं। बाह्य जगत् भोग का साधन है तथा आध्यात्मिक जगत् भोग का आयतन। यदि एक जगत् भोग्य है तो दूसरा जगत् भोक्ता। भोगभावसिद्धयर्थ भोग्य तथा भोक्ता भूत इन आध्यात्मिक और बाह्य जगत् की परस्पर अपेक्षा स्वभावसिद्ध है।

४.३.१२. जगत्कारणत्व

---

[672] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।२।१७ पृष्ठ १८१
[673] मुण्डकोपनिषद् शांकर भाष्य ३।१।२ पृष्ठ ३५
[674] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।३।१० पृष्ठ २३४
[675] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।२।६ पृष्ठ १६६
[676] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।१।२ पृष्ठ ४८
[677] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।१।१ पृष्ठ ४१५

आचार्य शंकर ने जगत् की कारणता का परीक्षण करते हुए सांख्यों के प्रधान कारणवाद[678] काणादाभिमत परमाणुकारणवाद[679] बाह्यार्थवादियों के समुदायवाद[680], विज्ञानवादियों के विज्ञानवाद[681] आर्हतों के कर्मकारणतावाद,[682]माहेश्वरों के ईश्वर कारणतावाद,[683] तथा भागवताभिमत प्रकृति पुरुषोभयात्मक कारणता का निराकरण[684] किया है। उनके ग्रन्थों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह मायावश ब्रह्म को जगत् का कारण मानते हैं।

उनका स्पष्ट कथन है **यत्सर्वज्ञ सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः राष्ट्र बूमः** | [685] कि जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत् नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव तथा शारीर (जीव) से अधिक (विशिष्ट) ब्रह्म है वही जगत् का स्रष्टा है। जगत् का उपादान तथा निमित्त दोनों कारण ब्रह्म है मात्र निमित्त कारण नहीं; **प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्मास्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणम्।** [686] यद्यपि यह जगत् और तत्कारणता दोनों मायामूलक हैं।

४.३.१३. दृष्टि सृष्टिवादात्मक जगत् का स्वरूप

अद्वैतसाहित्य में दृष्टिसृष्टिवाद और सृष्टिदृष्टिवाद दोनों का निरूपण प्राप्त होता है। पहले के अनुसार सत्ताद्वैविध्यवाद और दूसरे के अनुसार सत्ता त्रैविध्य समर्थित होता है। पहला शंकर का मुख्य पक्ष है और दूसरा जगत्सत्यत्वप्रतीति सामंजस्यात्मक गोणपक्ष है। विभिन्न दृष्टिकोण से दोनों संगत हैं। इसलिए शंकर के ग्रन्थों में दोनों पक्ष उपन्यस्त हैं। क्रमशः अवच्छेद तथा आभास शब्दावली के परिसर में इन द्विविध पक्षों की उपयोगिता सिद्ध होगी।

परमार्थतः कार्यकारणातीत निष्प्रपंच ब्रह्म से प्रपंचप्रभव संभव नहीं। इसलिए अविद्या प्रभूत जगत् तथा तत्सम्बद्ध वस्तु-व्रात इन दोनों को आचार्य शंकर स्वप्नसम, अमृत, क्षणिक, दृष्टनष्ट स्वभाव, असार, अशुद्ध, अनित्यादिरूप वाला मानते हैं। **दृष्टनष्टस्वरुपत्वात् स्वरूपेणानुपाख्यत्वात् तथा अविद्याप्रभवं सर्वम सत्तस्मादिदं जगत्। तद्वत्ता दृश्यते यस्मात् सुषुप्ते न च गृह्यते॥** [687] जगत् के

---

[678] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।१।१-१० पृष्ठ ४१२-४२९

[679] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।१०-११ पृष्ठ ४२९-४४९

[680] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।१।१८ -२७ पृष्ठ ४४९-४६६

[681] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।१।२८-३२ पृष्ठ ४६७-४७९

[682] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।३३-३५ पृष्ठ ४८०-४८६

[683] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२३७- ४१ पृष्ठ ४८६-४९४

[684] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।४२-४५ पृष्ठ ४९४-९७

[685] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।१।२२ पृष्ठ ३९४

[686] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।४।२३ पृष्ठ ३३९

[687] उ०मा० २।१७।२०

पदार्थों के दो ही रूप हो सकते हैं। कुछ तो चित्तकालिक अर्थात् चित्तपरिच्छिद्य होते हैं तथा कुछ द्वयकालिक अर्थात् परिच्छेद्यपरिच्छेदक रूप वाले होते हैं। स्पष्ट शब्दों में प्रथम प्रकार के पदार्थ स्वप्न या भ्रम स्थलों में उपलब्ध होते हैं, जिनकी स्थिति मात्र कल्पनाश्रिता होती है और इनका परिच्छेदक केवल वित्तकाल होता है। द्वितीय प्रकार के पदार्थ जाग्रत्प्रपंच सम्बन्धित होते हैं। इन्हें बाह्य पदार्थ कहा जाता है। यह दो काल वाले भेदकालिक अर्थात् अन्योन्य परिच्छेद्य होते हैं यथा-गोदहनमास्ते। सुस्पष्ट है कि जब तक गोदोहक दोहन करेगा तब तक बैठेगा या जब तक बैठेगा तब तक गोदोहन करेगा। इस प्रकार दोहन तथा दोहक के अवस्थान में परस्पर परिच्छेद्य परिच्छेदक सम्बन्ध है। पर उपर्युक्त दोनों प्रकार के वित्तकालिक (आन्तरिक) और द्वयकालिक (बाह्य) पदार्थसार्थ पारमार्थिक दृष्टि से कल्पित है क्योंकि परमात्मव्यतिरिक्त सत् नही हो सकता। निम्नश्लोक से भी जगत् का दृष्टिसृष्टिपत्र समर्थित है—[688]

यो यो दृग्गोचरोऽर्थो भवति स तदा तद्गतात्मस्वरुपा—

विज्ञानोत्पद्यमानः स्फुरति ननु यथा शुक्तिकाऽज्ञानहेतुः।

रोप्यामासो मृषैव स्फुरति च किरणज्ञानतोम्भोभुजङ्गो---

रज्ज्वज्ञानान्निमेपो सुखभयकृदतो दृष्टिसृष्टं किलेदम्॥

४.३.१४ ज्ञान और मोक्ष

जीव के प्रसंग में यह उल्लिखित किया गया है कि परमात्मा ही अविद्याकृत नाम रूप उपाधि से अवच्छिन्न सा ही जीवभावापन्न होता है और वस्तुदृष्टि से परमात्म स्वरूप होने पर भी जीव अज्ञानकृत बुद्धादि उपाधि से परिच्छिन्न होने के कारण मर्त्यत्व,अल्पत्व आदि का परिग्रह कर अपने पारमार्थिक स्वरूप से अनभिज्ञ नानाविध योनियों में परिभ्रमण करता है। इस दु.खोदधि से मुक्त होने का एकमात्र उपाय ज्ञान है अतः भगवान् शंकराचार्य सम्मत ज्ञान तथा उसके फलभूत मोक्ष का संक्षिप्त स्वरूप परिच्छेद की शब्दावली में प्रस्तुत किया जाता है।

४.३.१४.१ ज्ञान

शांकर ग्रन्थों में जैसे माया के लिए अज्ञान, अविद्या, तम, प्रकृति प्रभृति अनेक शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है उसी प्रकार ज्ञान के लिए भी विद्या, बोध, सम्यक् ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, सम्यक् दर्शन, आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार आदि अनेक शब्दों का प्रयोग सुलभ है। ज्ञान अत्यन्त प्रसिद्ध है अतः उसकी प्राप्ति

[688] शतश्लोकी, श्लोक ८१ पृष्ठ ११९

के लिए प्रयत्न अपेक्षित नहीं । आत्मा में अनात्मबुद्धि निवृत्ति होते हो वह प्राप्त हो जाता है । **अत्यन्तप्रसिद्ध ज्ञानं ज्ञाताप्यत एव प्रसिद्ध इति । तस्माऽज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः किंत्वात्मन्यानात्मबुद्धिनिवृत्तावेव ।**[689] वस्तुस्वरुपावधारण ही शंकर के शब्दों में विद्या या ज्ञान है । **वस्तुस्वरुपावधारणं विद्यामाहुः ।**[690] अज्ञान के कारण अवच्छिन्न आत्मा अज्ञान के नाश से उसी प्रकार स्वयं प्रकाशित होता है जैसे मेघ के अपाय होने पर सूर्य **- अवच्छिन्न इवाज्ञानात्तानाशस्येति केवलम् । 'स्वयंप्रकाशो ह्यात्मा मेघापायेऽशुमानिव' ॥४॥**[691] आत्म स्वभावलम्बिनी विद्या अविद्या के कारण अध्यस्त कर्तृत्वादि बुद्धि को उसी प्रकार निवृत्त कर देती है जैसे ऊखर देश में उत्पन्न उदक बुद्धि को रवा ऊखरस्वभावावलम्बक ज्ञान बाधित कर देता है । **कारकाण्युपगृह्णाति विद्या बुद्धिमिवोषरे ॥**[692] अविद्या के कारण परिच्छेदापन्न आत्मा जब विद्यावशात् निजस्वरुपावगम कर लेता है तब उसे यह अवगति हो जाती है कि मैं अविद्या जनित उपाधिपरिच्छिन्न अन्य मायात्मा (जीव) नहीं अपितु उपाधिविलक्षण अशनादिद्वन्द्वापगत, संसार धर्मशून्य सर्वभूतस्य सर्वात्म परमेश्वर ही हूँ[693] क्योंकि विद्या का कार्य अविद्या के कार्य (परिच्छिन्नात्मभाव) से पूर्णतः विरुद्ध सर्वात्मभावरूप माना गया है - **'ते एते विद्याविद्याकार्ये सर्वात्मभावः परिच्छिन्नात्ममावश्च ।**[694] वस्तु स्वरूपावगाही तथा अनुभवावसानक होने के कारण आत्मज्ञान प्रत्यक्षादिप्रमाण प्रभव ज्ञान से नितान्त भिन्न है ।[695] प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ब्रह्म ज्ञान संभव नहीं किन्तु तत्वस्वरुपनुभवात्मक ज्ञान 'अहं''मम' इत्याकारक अज्ञान की प्रसवसमकाल बाधित कर देता है । **'तत्त्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमंजसा । अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत्' ॥** [696] कहने का अभिप्राय यह है कि मिथ्याज्ञानापाय का एकमात्र साधन ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान है जो भाष्यकार के मतानुसार न संपद्रुप है, न अध्यासन है, न विशिष्ट क्रियायोग निमित्त है और न संस्कार रूप है[697] तथा 'तत्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों का श्रवण-मनन-निदिध्यासनानुगामी है क्योंकि श्रवणादि को ज्ञेय का साक्षात् साधन माना गया है । **'वेदान्तस्रवणमननिदिव्यासनानां च साक्षात् अज्ञेय साधन विषयत्वात् ।** [698]

---

[689] शांकर भाष्य गीता० प्रेस पृष्ठ ३७४

[690] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य १।१।१ पृष्ठ १९

[691] आत्मबोध पृष्ठ १३

[692] उप० सा० २।१।१४ पृष्ठ ७३

[693] द्रष्टव्य, मुण्डकोपनिषद् शांकर भाष्य ३।१।३ पृष्ठ ३५-३६

[694] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य ४।३।२० पृष्ठ ५५५ बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य १।४।९ पृष्ठ १३१-३२

[695] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य १।३।१ पृष्ठ ५०

[696] आत्मबोध, श्लो० ४६ पृष्ठ १६

[697] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य, १।१।४ पृष्ठ ७६-७८

[698] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य १।४।२ पृष्ठ ८९-९०

४.३.१४.२ मोक्ष

मोक्ष को स्थान-स्थान पर ब्रह्मज्ञान का फल बताया गया है **'फलं च मोक्षोऽविद्यानिवृत्तिर्वा'।** [699] किन्तु मोक्ष को फल मानने का अभिप्राय यह कथमपि नहीं कि मोक्ष एक नियत काल में ज्ञान से आभ्रादि वृक्षों के फल के समान उत्पन्न होता है क्योंकि यह सदा प्राप्त है केवल अविद्या के कारण अप्राप्त सा रहता है। आत्मज्ञान का फल मोक्ष की प्रतिबन्धभूत अविद्या की निवृत्ति मात्र , इसीलिए अविद्या-निवृत्ति को कभी-कभी शंकराचार्य ने मोक्ष कह दिया है । **'मोक्षप्रतिबन्धनिमित्त मात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयति' ।**[700] अज्ञान के कारण अनवच्छिन्न आत्मा अज्ञान के नाश से उसी प्रकार प्रकाशित होता है जैसे मेघ के अपाय होने पर सूर्य **अवच्छिन्न इवाज्ञानात्तन्नाशस्येति केवलम् । स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुंमानिव ॥** [701] ब्रह्म ही मुक्त्यवस्था है, **ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था.....।** [702] इसीलिए मोक्ष को पारमार्थिक, कूटस्थ नित्य, व्योमसम सर्वव्यापक, सर्वक्रियारहित, नित्यतृप्त, निरवयव तथा स्वयं ज्योतिःस्वभाव कहा गया है ।[703] मोक्ष उत्पाद्यादि चतुर्विध क्रियाओं के फल से विलक्षण है।[704] अतएव मुक्ति प्राप्ति के पश्चात् जीव के समस्त क्लेशलेश विनष्ट हो जाते हैं, उसकी पुनरावृत्ति आदि का भय समाप्त हो जाता है।

४.३.१५. अवच्छेदवाद का स्वरूप

शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के औपाधिक भेद के प्रदर्शन के लिये घटाकाश आदि अवच्छेद परक दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। उन्होंने देहेन्द्रियमनबुद्धयवच्छिन्न को जीव कहा है। उनका कथन है कि जैसे अपरिच्छिन्न आकाश घटकरकादिरूप उपाधियों के कारण परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है, वैसे ही अपरिच्छिन्न आत्मा देहादिरूप उपाधियों के कारण परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है । ब्रह्मसूत्र के "ईक्षत्यधिकरण" में वे कहते हैं कि संसारी जीव ईश्वर से अन्य नहीं। जैसे घटकरकागिरिगुहादि उपाधियों के संसर्ग से तदवच्छिन्न व्योम भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही देहादिसंघातरूप उपाधि के संबन्ध से आत्मा में भेद की प्रतीति होती है। देहादिसंघातरूप उपाधि संबन्ध के अविवेक के कारण ईश्वर तथा संसारी जीव के भेद की मिथ्या बुद्धि होती है ।[705] अन्तर्याम्यधिकरणभाष्य में वे कहते हैं कि शरीर (जीव) और अन्तर्यामी को भेद का व्यपदेश अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकारणोपाधि के कारण है,

---

[699] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य १।४।७ पृष्ठ ११७, 'मोक्षाख्यफलं गी० शांकर भाष्य ४१ पृष्ठ ३५६ तथा बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य ... ४।३।२० पृष्ठ ५५५

[700] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।४।४, पृष्ठ ७५

[701] आत्मबोध श्लोक ४, पृष्ठ १३

[702] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य ० ३।४।५२, पृष्ठ ८२३

[703] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य १।१।७ पृष्ठ ७५

[704] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य १११।४ पृष्ठ ७६-८

[705] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य १।१।५

पारमार्थिक नहीं। एक ही प्रत्यगात्मा का उपाधि कृत भेद से घटाकाश और महाकाश के समान भेदव्यवहार होता है।[706] इसी प्रकार आत्माधिकरण भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा के विभाग का प्रतिभान बुद्ध्यादि उपाधियों के निमित्त है जैसे आकाश का भेदप्रतिमान घटादिसम्बन्ध के कारण होता है।[707] इसी तरह आरम्भणाधिकरणभाष्य में शंकराचार्य ने ईश्वर के ईश्वरत्व को भी अविद्याकृतना मरूपोपाधिनिमित्त ही माना है। वे कहते हैं कि ईश्वर का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तिमत्व अविद्यात्मक उपाधिपरिच्छेद की अपेक्षा से ही है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि विद्या के द्वारा सभी उपाधियों के विनष्ट हो जाने पर आत्मा में ईशितृ, ईशितव्य, सर्वज्ञत्व आदि का व्यवहार उत्पन्न नहीं होता।[708] इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि आनन्दरूप आत्मा ही अविद्या से परिच्छिन्न होकर जीव रूप में भासित होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि शंकराचार्य ने जीव और ईश्वर के स्वरूप के प्रतिपादन के लिए अपने भाष्यग्रन्थों में अनेकस्थलों पर घटाकाशादि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने भाष्यकार की इस प्रकार की पंक्तियों के आधार पर अवच्छेदवाद का प्रतिपादन किया है। उन्होंने नीरूप चिदात्मा के प्रतिबिम्बित होने की असंभावना को प्रदर्शित कर प्रतिबिम्बवाद के अनौचित्य को भी प्रदर्शित किया है। अध्यासभाष्य में वे कहते हैं कि रूपवान् द्रव्य अत्यधिक स्वच्छ होने के कारण पृथक रूप से गृह्यमाण रूपवान् द्रव्यान्तर की छाया को ग्रहण करने में समर्थ होता है। किन्तु चिदात्मा तो रूपरहित विषयी है, अतः वह विषय की छाया को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। कहा भी गया है कि शब्द, गन्ध, रस आदि का प्रतिबिम्ब नहीं होता।[709]

इस तरह भामतीकार ने नीरूप चिदात्मा के प्रतिबिम्बित होने की असंभावना को प्रदर्शित करते हुए प्रतिबिम्बवाद के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की है। साथ ही उन्होंने भामती में अनेक स्थलों पर अवच्छेदवाद का प्रतिपादन एवं समर्थन किया है। ब्रह्मसूत्र के इतर व्यपदेशाधिकरण में वे कहते हैं कि जैसे घटकरकादि उपाधियों से आकाश भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा अविघोपाधिभेद से भिन्न प्रतीत होता है।[710] इसी तरह आत्माधिकरण में भामतीकार कहते हैं कि जीव और ब्रह्म के भेद के औपाधिक होने के कारण घटकरकाघुपहित आकाश के समान इनके विरुद्धधर्मसंसर्ग की उपपत्ति होती हैं।[711] कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण में वे कहते हैं कि जैसे घटाकाश परमाकाश से अन्य नहीं, तथापि घट की सत्ता तक वह अन्य-सा प्रतीत होता है वैसे ही अनादि अनिर्वचनीय उपाधि से कल्पित

---

[706] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य १।२।२

[707] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य २।३।१७

[708] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य २।१।१४

[709] भामती, पृष्ठ ७-८

[710] ब्रह्म सूत्र २/१/२१, भामती, पृष्ठ ४७२

[711] ब्रह्म सूत्र २/३/१७, भामती,, पृष्ठ ६०२

जीव वस्तुतः परमात्मा से भिन्न नहीं है। उपाधि के उद्भव और अभिभव से वह उद्भूत-सा एवं अभिभूत-सा प्रतीत होता है।[712] भामतीकार की उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि उनके मत में उपाध्यवच्छिन्न चैतन्य ही जीव है और वे अवच्छेदवाद के समर्थक हैं। भाष्यकार शंकराचार्य द्वारा प्रदर्शित घटाकाश आदि दृष्टान्तों की संगति भी अवच्छेदवाद में ही लग पाती है। इससे सूचित होता हैं कि वे भी अवच्छेदवाद के ही समर्थक हैं। इस पर यह कहा जा सकता है कि जैसे भाष्यकार ने अवच्छेदपरक घटाकाश आदि दृष्टान्तों का प्रयोग किया है, वैसे ही उन्होंने प्रतिबिम्बपरक जलसूर्यक आदि दृष्टान्तों का भी प्रयोग किया है। अतः घटाकाश आदि दृष्टान्तों के आधार पर यह कैसे माना जा सकता है कि भाष्यकार की अवच्छेदवाद में ही अभिरुचि है प्रतिबिम्बवाद में नहीं।

उपर्युक्त शङ्का के संबन्ध में परिमलकार अप्ययदीक्षित का यह कथन है कि यद्यपि भाष्यकार ने अपने ग्रन्थों में प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का भी प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है, तथापि उनका यह प्रयोग "वृद्धिह्रासभाक्त्व" इस सूत्र में वर्णित वृद्धिह्रासादिसादृश्यमूलक होने के कारण गौण है।[713] स्वयं शंकराचार्य ने ''अम्बुवदग्रहात्तु न तथात्वम्'' इस सूत्र के भाष्य में अमूर्त आत्मा के प्रतिबिम्बित होने की संभावना को स्वीकार किया है तथा अगले सूत्र में यह बताया है कि यद्यपि जल सूर्यकादि के समान अमूर्त आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता तथापि जलसूर्यकादि दृष्टान्तों का प्रयोग वृद्धिह्रासादिसादृश्य के प्रतिपादन के निमित्त ही किया गया है।[714] जिस प्रकार सूर्यादिप्रतिबिम्ब-जलाद्युपाधिगतवृद्धिह्रासादि के कारण वृद्धिह्रासादि को प्राप्त करता है। वैसे ही आत्मा भी अन्तःकरणादिगत वृद्धिह्रासादि के निमित्त वृद्धिह्रासादि को प्राप्त होता है, इतना ही जलसूर्यादि दृष्टान्त के द्वारा विवक्षित है, आत्मा का प्रतिबिम्बि होना नहीं क्योंकि दृष्टान्त तथा द्राष्टान्तिक में सर्वथा साम्य अपेक्षित नहीं होता।[715] इसी प्रकार बृहदारण्यक भाष्य में भी ''स एव इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः'' इस वाक्य के व्याख्यान के अवसर पर सर्वगत आत्मा का देहादि में प्रवेश कैसे हो सकता है, यह शङ्का उठाई गई है। पहले इस शङ्का का समाधान देहादि में आत्मा के प्रतिबिम्ब के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु पीछे यह कह कर कि विप्रकुष्टदेशस्थ उपाधि के अभाव के कारण यह संभव नहीं दूसरा समाधान दिया गया है और कहा गया है कि देहादि में आत्मा का उपलभ्यमानत्व ही प्रवेशपद से विवक्षित है। पाषाणादि के समान देहादि में आत्मा की अनुपलब्धि नहीं होती, यही आत्मा के

---

[712] ब्रह्म सूत्र ३/२/९, भामती, पृष्ठ ७०५

[713] ब्रह्म सूत्र, वेदान्त कल्पत परिमल , पृष्ठ १५९

[714] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य ३।२।२

[715] वेदान्त कल्पत परिमल १।१।४, पृष्ठ १५८

देहादि में प्रवेश का तात्पर्य है ।[716] इस तरह बृहदारण्यक भाष्य में भी शंकराचार्य ने प्रतिबिम्बपक्ष में दोष प्रदर्शित किया है। अतः प्रतिबिम्बवाद शंकराचार्य द्वारा अभिमत नहीं है।

इस प्रकार भामतीप्रस्थान में प्रतिबिम्बवाद में दोष दिखला कर अवच्छेदवाद का समर्थन किया गया है तथा जीव को अन्तःकरणोपाध्यवच्छिन्न चैतन्य के रूप में माना गया है। इसके विपरीत विवरण प्रस्थान में प्रतिबिम्बवाद का समर्थन किया गया है तथा जीव को अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चैतन्य के रूप में स्वीकार किया गया है। विवरणकार प्रकाशात्मयति ने अवच्छेदवाद में दोष दिखलाकर इसके निराकरण का प्रयत्न किया है। विवरणप्रस्थानानुयायी अन्य विचारकों ने भी अवच्छेदवाद में अनेक दोष प्रदर्शित किये है। अब हम आगे अवच्छेदवाद में प्रदर्शित दोषों के संबन्ध में समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

४.३.१६. अवच्छेदवाद में प्रदर्शित दोषों पर समीक्षात्मक विचार

अवच्छेदवाद के सम्बन्ध में विवरणकार का यह आक्षेप है कि इसके अनुसार अन्तर्यामिब्राह्मण की संगति नहीं लगती। बृहदारण्यक उपनिषद की "य आत्मानमन्तरोयमयति" (बृहदारण्यको-पनिषद् ३।७।२२) इत्यादि श्रुति में यह बात जीव को अन्तःकरणोपाध्यवच्छिन्न चैतन्य के रूप में मानने पर संभव नहीं है। क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य रूप जीव में अनवच्छिन्न चैतन्य रूप ब्रह्म अवस्थित नहीं हो सकता। जैसे घट में घटावच्छिन्न आकाश अर्थात् घटाकाश की ही वृत्ति होती है , अनवच्छिन्न आकाश की नहीं , वैसे ही अवच्छिन्न जीव में अनवच्छिन्न चैतन्य की वृत्ति संभव नहीं है। अतः अवच्छेदवाद में द्विगुणित चैतन्य की वृत्ति संभव न होने से अन्तर्यामिब्राह्मण को संगति नहीं होती । इसके परिणामस्वरूप ब्रह्म के सर्वगतत्व ,सर्वनियन्तृत्व आदि की हानि होती है ।[717] प्रतिबिम्बपक्ष में तो चैतन्य की द्विगुणितवृत्तिता में कोई आपत्ति नहीं है ; क्योंकि जैसे जल में स्वभावतः रहने वाले आकाश तथा जल में प्रतिबिम्बित आकाश दोनों की एकत्र ही वृत्ति संभव है वैसे ही जीवावच्छेदों के भीतर ब्रह्म का नियन्तृत्वरूप से अवस्थान उपपन्न है ।[718] इस प्रकार विवरणकार ने अवच्छेदवाद में अन्तर्यामिब्राह्मण की असंगति तथा प्रतिबिम्बवाद में इसकी संगति दिखाते हुए प्रतिबिम्बवाद को श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहा है। विवरणप्रमेय संग्रहकार विद्यारण्यमुनि ने भी अवच्छेदवाद में उपयुक्त दोष को प्रदर्शित करते हुए प्रतिबिम्बवाद के साधुत्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है ।[719] किन्तु यदि हम अवच्छेदवाद के विरुद्ध प्रदर्शित दोष पर विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि उपर्युक्त दोष प्रतिबिम्बवाद में भी समान रूप से प्रतीत होता है। अवच्छेदवाद के समान प्रतिबिम्बवाद में भी पूर्वोक्त अन्तर्यामिब्राह्मण की संगति नहीं होती क्योंकि इसमें भी चैतन्य की द्विगुणितवृत्तिता संभव नहीं है ।

---

[716] वेदान्त कल्पत परिमल १।१।४, पृष्ठ १५८

[717] पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २८९-९०

[718] पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २८९-९०

[719] विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ २३२

प्रतिबिम्बपद में भी उसी चैतन्य का उपाधि में प्रतिबिम्ब मानना होगा, जिसका उपाधि में अवस्थान नहीं है। जलचन्द्र के दृष्टान्त से संपूर्ण चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकेगा। उपाधि के अन्तर्गत चैतन्य का उपाधि में प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता ।[720] मेघावच्छिन्न आकाश आदि का जैसे जल में प्रतिबिम्ब होता है वैसे जलान्तर्गत आकाश आदि का जल में प्रतिबिम्ब नहीं होता । उसी प्रकार जैसे बहिःस्थित मुख का जल में प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, वैसे जल में विद्यमान मुख का नहीं । इससे सिद्ध होता है कि उपाधिकुक्षि में अप्रविष्ट का ही प्रतिबिम्ब होता है । उपाधिकुक्षि में प्रविष्ट का नहीं। और क्योंकि अन्तःकरणादि उपाधि के प्रतिबिम्ब के प्रति उपाधि में अप्रविष्ट ही बिम्ब बन सकता है, इस कारण बिम्बभूत चैतन्य के विकार के अन्दर अवस्थान का अयोग होने से प्रतिबिम्बपद में भी अन्तर्यामि ब्राह्मण की असमजसता तुल्य ही है ।[721]

अवच्छेदवाद में एक दूसरे दोष की भी आशङ्का की गई है । यदि जीव को अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो उसके कर्म करने तथा कर्मफल की भोगने के समय में पृथ्वी तथा स्वर्ग आदि में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रदेशों के भिन्न-भिन्न होने के कारण कृतज्ञान तथा अकृताभ्यागम रूप दोष की प्रसक्ति होगी ।[722]

इस शङ्का के समाधान में सिद्धान्तलेशसंग्रहकार अध्ययदीक्षित कहते हैं कि उपर्युक्त दोष प्रतिबिम्बबाद में भी समानरूप से ही प्रसक्त होता है । प्रतिबिम्बपक्ष में भी उपाधि में अनन्तर्गत एवं उपाधि के सन्निहित चैतन्य प्रदेश का ही अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब संभव है । अतएव उस उस स्थल में अन्त:करण के गमन से बिम्ब का भेद होने के कारण प्रतिबिम्ब का भेद भी अवश्यंभावी है । यदि पूर्वोक्त दोष के निवारण के लिये जीव को अन्त: करणप्रतिबिम्बितचैतन्य के रूप में न मानकर अविद्या प्रतिबिम्बित चैतन्य के रूप में माना जाय तो अवच्छेदवाद में भी जीव को अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य मानने के स्थान पर अविद्यावच्छिन्न चैतन्य मानकर पूर्वोक्त दोष का निवारण किया जा सकता है । जैसे प्रतिबिम्बवाद में प्रतिबिम्ब भेदरूप दोष का निराकरण यह कहकर किया जाता है कि अन्तःकरण के समान अविद्या में गति न होने से प्रतिबिम्ब भेद की प्रसक्ति नहीं होती वैसे ही अवच्छेदवाद में भी अन्तःकरण के स्थान पर अविद्या को मानकर पूर्वोक्त दोष का निराकरण संभव है ।[723]

किन्तु अवच्छेदवाद में प्रदर्शित पूर्वोक्त दोष का निराकरण अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है। अवच्छेदवाद के अनुसार एक अन्तः करण से अवच्छिन्न चैतन्य एक जीव है और अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य अन्य जीव है इसलिए अन्तःकरणों के भिन्न-भिन्न होने के कारण जीवन्तरकृत कर्मों के जीवान्तरों से भोग की प्रसक्ति नहीं होती ।

अवच्छेदवाद के सम्बन्ध में विद्यारण्यस्वामी ने एक अन्य दोष भी प्रदर्शित किया है । उनका कथन है कि यदि आभास शून्य अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को प्रमाता माना जाय तो घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य

---

[720] सिद्धान्तलेशसंग्रह पृष्ठ ११२

[721] सिद्धान्तलेशसंग्रह पृष्ठ ११३

[722] सिद्धान्तलेशसंग्रह पृष्ठ ११३ तथा सिद्धान्त बिन्दु विवरणप्रमेयसंग्रह

[723] सिद्धान्तलेशसंग्रहकार पृष्ठ ११४-१५

को भी प्रमाता (जीव) मानना पड़ेगा। क्योंकि घटादि के समान अन्तःकरण भी भूतवर्गों का कार्य होने से भौतिक है। किन्तु प्रतिबिम्बवाद में इस दोष की प्रसक्ति नहीं होती क्योंकि इसमें व्यापक चैतन्य तथा आभास चैतन्यरूप द्विविध प्रकाश से युक्त अन्तःकरण को ही प्रमाता माना जाता है, केवल व्यापक चैतन्य से युक्त घटादि को नहीं अन्तःकरण भूतवर्ग के सत्त्वगुण का कार्य होने से स्वच्छ है और स्वच्छ पदार्थ ही प्रतिबिम्ब ग्रहण में समर्थ है, मलिन पदार्थ नहीं। अत स्वच्छ अन्तःकरण ही चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ हैं, मलिन घटादि नहीं। अतः प्रतिबिम्बवाद के अनुसार घटादि पदार्थ आभास चैतन्य से रहित होने के कारण प्रमाता नहीं है। किन्तु अवच्छेदवाद में तो अन्तःकरण भी घटादि के समान आभास चैतन्य से रहित है। अतः यदि केवल व्यापक चैतन्य के आधार पर अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य को प्रमाता माना जाय तो व्यापकचैतन्य के आधार पर ही घटविशिष्ट चैतन्य को प्रमाता क्यों न माना जाता। इस प्रकार अवच्छेदवाद में घटादिविशिष्ट चैतन्य में भी प्रमातृत्व की प्रसक्ति अपरिहार्य है।

पूर्ववत् शंका के समाधान में अवच्छेदवाद के समर्थकों का यह कथन है कि जैसे प्रतिबिम्बवाद में अन्तःकरण के स्वच्छ होने के कारण अन्तः करण में ही प्रतिबिम्बग्राहिता मानी जाती है, घटादि में नहीं। वैसे ही अवच्छेदवाद में भी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में ही प्रमातृत्व माना जाता है, घटावच्छिन्न चैतन्य में नहीं चैतन्य के व्यापक होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति (प्रकाश) अन्तःकरण में ही होती है, घटादिमलिन पदार्थों में नहीं। अतः अवच्छेदवाद में भी घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य में प्रमातृत्व की प्रसक्ति नहीं होती।

४.४ प्रतिबिम्बवाद

यह मत प्रकाशात्म्यति का है। शंकराचार्य के शिष्य प्रकाशात्म्यति ने ब्रह्म-जीव सम्बन्ध में विवरणकार के अनुसार प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार किया गया है। जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है जैसे एक ही सूर्य/चन्द्र भिन्न जल उपाधियों (कुएँ,तालाब, नदी, सागर आदि) के कारण भिन्न नाम-रूपों वाला हो जाता है उसी प्रकार एक ब्रह्म का एक होने पर भी यह अविद्या या अन्त:करण में प्रतिबिम्बित होकर अनेक जीव रूप हो जाता है - रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, एकधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् इति च श्रुतिस्मृति सूत्रे जीवस्य प्रतिबम्बभावस्य दर्शितत्वात्।

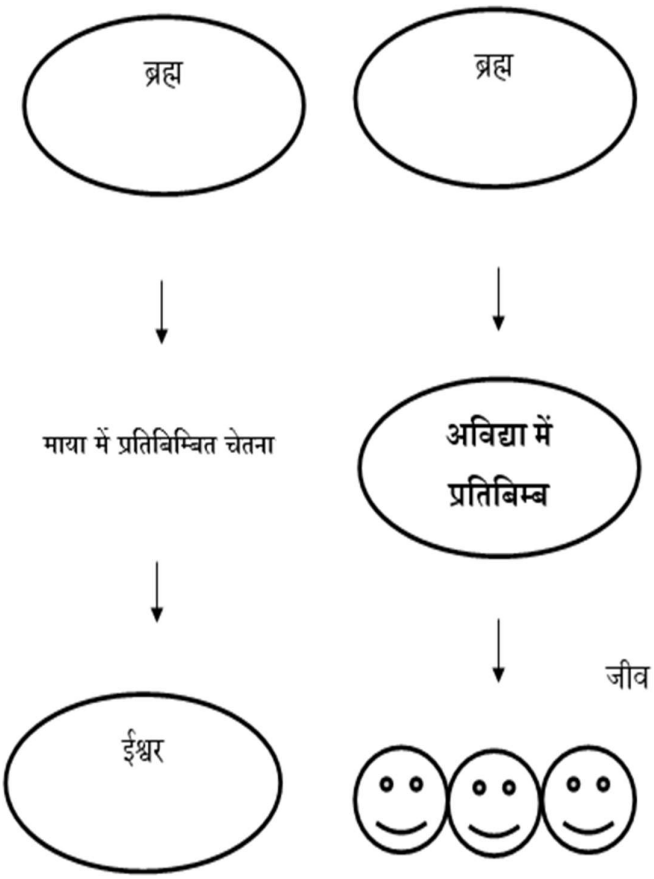

४.४.१. शांकर ग्रन्थों में प्रतिबिम्ब की शब्दावली

प्राक्क्थन का उद्देश्य यह था कि शंकराचार्य के ग्रन्थों में सुलभ अवच्छेद की शब्दावली का समीक्षात्मक अध्ययन उपस्थित करते हुए शंकर सम्मत अद्वैत सिद्धान्त की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की जाय। अब प्रतिबिम्ब शब्दावली के परिसर में उन शांकर पंक्तियों का विवरण दिया जायगा जिनके आधार पर उनके शिष्य पद्मपादाचार्य ने प्रतिबिम्बवाद नामक प्रस्थान को प्रतिष्ठित किया।

४.४.२ बिम्भूत अद्वैत से प्रतिबिम्बात्मक द्वैत का प्रतिभास

सत्, चित्, आनन्दरुप परमात्मा यद्यपि एक, अनन्त, अप्रमेय, अद्वितीय है तथापि अनेक नामरूपात्मक उपाधियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण बिम्बभूत पर ब्रह्म उसी प्रकार अनेकधा अवभासित होता है जैसे एक ही सूर्य या चन्द्रमा घट शराबादि गत उदक में वस्तुत: एक होते हुए भी अनेक सा अव-भासित होता है ---

ज्ञानस्यैकत्वोपत्तेः सर्वदेशकालपुरुषाद्यवस्थमेकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधि भेदात्सवित्रादि जलादिप्रतिबिम्बवदनेकधाऽवभासत इति।[724]

प्रतिफलति भानुरेकोऽनेकशरावोदकेषु यथा।
तद्वदमौ परमात्मा ह्येकोऽनेकेषु देहेषु।[725]
रूपं रूपं प्रतीदं प्रतिफलनवशात्प्रातिरूप्यं प्रपेदे |
ह्यो को द्रष्टा द्वितीयो भवति च सलिले सर्वतोऽनन्तरूप।[726]
सत्त्वप्रधाने चित्तेऽस्मिंस्त्वात्मैव प्रतिबिम्बति।
आनन्दलक्षणः स्वच्छः पयसीव सुधाकरः।[727]

उपाधि प्रतिबिम्बित परमात्मा हिरण्यगर्भ, प्राण तथा प्रजापति आदि रूपों में प्रतीत सा होता है **-स एष प्रज्ञानरूप**

---

[724] प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य ६२ पृष्ठ ६१

[725] प्रबोध सुधाकरः अद्वैत प्रकरणम् श्लोक १२४ पृष्ठ ७६

[726] शतश्लोकी, श्लोक ५०, पृष्ठ ११४

[727] सर्ववेदान्त सिद्धान्तसार संग्रह, श्लोक ६४७, पृष्ठ १८६

आत्माब्रह्मपरसर्वशरीरस्थप्राण:प्रज्ञात्माऽन्त:करणोपाधिष्वनुप्रविष्टोजलभेदगतसूर्यप्रतिबिम्बवद् हिरण्यगर्भ: प्राण प्रज्ञात्मा। एष एवेन्द्रो गुणाद्देवराजो वा।[728]

४.४.३. जीव

४.४.३.१ सत्त्वप्रधान बुद्धि प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है --

इन्द्रो मायाभिरास्ते श्रुतिरिति वदति व्यापक ब्रह्म तस्मात्।
जीवत्वं यात्यकस्मादतिविमलतरे बिम्बितं बुद्धयुपाधो ॥[729]
तत्सारभूतबुद्धौ यत्प्रतिफलितं तु शुद्धचैतन्यम्।
जीव: स उक्त आद्यैर्योहमिति स्फुर्तिकृद्वपुषि ॥[730]

४.४.३.२ अथवा बुद्धिगत चित्प्रतिबिम्ब जीव है --

तस्य प्रतिबिम्बाख्यस्य पुरुषस्य निष्पत्तिरसो: प्राणात्।[731]
चित्प्रतिबिम्बवस्तद्वद्बुद्धिषु यो जीवतां प्राप्त: ॥[732]

४.४.४ जीव की चित्त-प्रतिबिम्बात्मकता में तर्क

यद्यपि परमात्मा सर्वज्ञ है तथापि उसका सर्वत्रावभासन न होकर केवल निर्मलीभूत अथवा स्वच्छ बुद्धि आदि उपाधि में उसी प्रकार विविक्त दर्शन होता है जैसे निर्मल दर्पण में पुरुष को स्पष्ट आत्मदर्शन होता है – यथाऽऽदर्श प्रतिबिम्बभूतमात्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्तविविक्तं तथेहाऽऽत्मनि स्वबुद्धावादर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तमात्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थ:।[733]

---

[728] ऐतरेयोपनिषद् शांकर भाष्य ३१ पृष्ठ ८६

[729] शतश्लोकी, श्लोक, ५० पृष्ठ ११४

[730] प्रबोध सुधाकर श्लोक ११४ पृष्ठ ७५

[731] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य पृष्ठ ४५८

[732] प्रबोध मुधाकर श्लोक ११८ पृष्ठ ७६

[733] कठोपनिषद् शांकर भाष्य २१३५ पृष्ठ ११२

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते |
बुद्धावेवाभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥[734]

जैसे चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब जल धर्मानुविधायी होता है उसी प्रकार चित्प्रतिबिम्ब (जीव) भी अपनी बुद्धि रूप उपाधि के स्वभाव का अनुवर्तन करता है-

बुद्ध्याद्युपाधिस्वभावानुविधायी हि स चन्द्रादिप्रतिबिम्ब इव जलाद्यनुविधायी ।[735]

अर्थात् जैसे जलगत सूर्य चन्द्रादिक का प्रतिबिम्ब जलवृद्धि के साथ बढ़कर जल ह्रास के साथ ह्रसित सा होकर, जल चलन के साथ कम्पित सा तथा जलभेद से भिन्न सा होकर जल धर्म का अनुयायी होता है उसीप्रकार परमार्थतः अविकृत एकरुप सद् ब्रह्मदेहाद्युपाधि के वृद्धि ह्रासादिक धर्मों का अनुगमन सा करता है

तदुच्यते- **वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति । जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्ब जलवृद्धो वर्द्धते जलह्रासे ह्रसति जलचलने चलति जलभेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुविधायी भवति न तु सूर्यस्य तथात्वमस्ति। एवं परमार्थतोऽविकृत रूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्त्र भावाद् भजत इवोपाधिधर्मान्वृद्धिह्रासादिन्।**[736]

चरतरतरङ्स तिबिम्बाभास्करस्य चंचलं स्यात् ।
अस्ति तथा चंचलता चैतन्ये चित्तचांचल्यात् |[737]

४.४.५ उपाधि का प्रभाव प्रतिबिम्ब पर न कि बिम्ब पर -

प्रतिबिम्बभूत जीव अनेक है। एक उपाधि के न रहने से तथा प्रतिबिम्बरुप जीव के चंचल होने पर बिम्ब स्वरूप ब्रह्म उसी प्रकार वर्तमान तथा चांचल्यरहित रहता है जैसे एक शराब के भग्न होने तथा प्रतिबिम्ब को चंचलता के अभाव के कारण बिम्बभूत सूर्य न विलीन होता है और न चंचल होता है -

---

[734] आत्मबोधः, श्लोक १७, पृष्ठ१४

[735] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य २११९, पृष्ठ २४८

[736] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य ३२२०, पृष्ठ ६४५

[737] प्रबोध सुधाकर, श्लोक ११५,पृष्ठ ७५

दैवादेकशराबे भग्ने किं वा विलीयते सूर्य: ।
प्रतिबिम्बचंचलत्वादकं: कि चंचलो भवति ॥[738]

जीव के दुखित होने से परमात्मा दुखी नहीं होता तथा जीव की दुःख प्राप्ति भी अविद्या निमित्तक है यथा चोदशरावादिकम्पनात्तद्गते सूर्य प्रतिबिम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान्सूर्यः कम्पते, एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहिते जीवाख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानी श्वरो दुःखायते । जीवस्यापि तु दुःखप्राप्तिरविद्या – निमित्तैवेत्युक्तम् ।[739]

४.४.६ प्रतिबिम्ब की बिम्बरूपता --

वस्तुत: उपाधिगत चंचलता के द्वारा प्रतिबिम्ब में चंचलता प्रतिभासित होती है और उसका बिम्ब धर्मानुसरणत्व प्रतीत होता है। वास्तविक तथ्य यह है कि प्रतिबिम्ब बिम्ब स्वरुपावगाही होता है उसका उपाधिधर्मानुसरण व्यावहारिक कि वा औपचारिक है। प्रतिबिम्बाख्य जीव बिम्बरूप ब्रह्म सम निष्क्रिय है उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आदि उपचारमात्र है-

चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्य-
मौपाधिकं मूढधियो नयन्ति ।
स्वबिम्बभूतं रविवद्विनिष्क्रयं
कर्त्तास्मि भोक्ताऽस्मि हतोऽस्मिहेति ।[740]

४.४.७. प्रतिबिम्ब जीव का विषय प्रकाशकत्व –

बुद्धिगत चित्प्रतिबिम्बरुप जीव बाह्य विषयों को नेत्र से इन्द्रिय प्रणालिकया उसी प्रकार प्रकाशित करता है जैसे कांस्यादिपात्रप्रतिफलित सवितृतेज गृहान्तर्भूत अन्य विषयों को प्रकाशित करता है--

प्रतिफलितं यत्तेजः सवितुः कांस्यादिपात्रेषु |
तदनुप्रविष्टमंतगृहमन्यार्थान्प्रकाशयति ||
चित्प्रतिबिम्बस्तद्वदबुद्धिषु यो जीवतां प्राप्तः ||
नेत्रादीन्द्रियमर्थवहिरर्थान्सोऽवभासयति ॥[741]

---

[738] प्रबोध सुधाकर, श्लोक १२५, पृष्ठ ७६

[739] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य २२४६ पृष्ठ ५५७-५८

[740] विवेक चूडामणि, श्लोक ५००

[741] प्रबोध सुधाकरः लिंगदेहादिनिरूपण प्रकरणम्, श्लोक ११७-११८, पृष्ठ ७६

४.४.८ जीव की विविध अवस्थाएँ –

परमात्मा से पृथक् प्रतीयमान चित्प्रतिबम्बात्मा (जीव) जाग्रद्दशा में घ्राणन तथा श्रवणादि विशेष विज्ञानों का कर्त्ता सा हो जाता है –

तत्तत्र यस्माद्द्वैतमिव तस्मादेवेतरोऽसो परमात्मनः खिल्यभूत: आत्माऽपरमार्थश्चन्द्रादिप्रतिबिम्ब इतरो घ्राणेतरेण घ्राणेनेतरं घ्रातव्यं जिघति।[742]

स्वप्न में जाग्रत् का प्रतिबिम्ब भूत लोक इसका अनुभव विषय होता है और स्वप्नदृष्ट लोक इस प्रतिबिम्बात्मक जीव का स्वरूप नहीं –

न तावत्स्वप्ने अनुभूत महाराजत्वादयो लोका आत्मभूता: ।
आत्मनोऽन्यस्य त्प्रतिबिम्बभूतस्य लोकस्य दर्शनात् ।[743]

स्वप्नान्तशब्दवाच्य सुषुप्तिकाल में यह चित्प्रतिबम्बरूप जीव मन आदि विशेष ज्ञान के साधनों के अज्ञान में विलीन हो जाने के कारण पुर्यष्टक रुप जीव भाव को त्यागकर अपने स्वरूप को उसी प्रकार प्राप्त किये रहता है यथा दर्पणापनयनोपरान्त दर्पणस्य पुरुष का प्रतिबिम्ब स्वयं बिम्बभूत पुरुष ही हो जाता है। इस सुषुप्ति की स्थिति में यह प्राज्ञ जीव अपने स्वाभाविक स्वरूप पर ज्योति से संपरिष्वक्तं अर्थात् एकीभूत हो निरन्तर तथा सर्वात्म होने के कारण न तो किसी बाह्य वस्त्वन्तर का ज्ञाता होता है और न आन्तर सुख दु:ख का अनुभव करता है—

तत्र ह्यदर्शापनयने पुरुषप्रतिबिम्ब आदर्शगतो यथा स्वमेव पुरुषमपोतो भवति एवं मन आद्युपरमे चैतन्यप्रतिबिम्बस्वरुपेण जीवेनाऽऽत्मना मनसि प्रविष्टा नामरूपव्याकरणाय परा देवता सा स्वमेवाऽऽत्मानं प्रतिपघते जीवरूपतां मन आख्यां हित्वा अतः सुषुप्त एव स्वप्नान्तशब्दवाच्य इत्यवगम्यते।[744]

एवमेव यथा दृष्टान्तोऽयं पुरुषः क्षेत्रज्ञो भूतमात्रासंसर्गतः सैन्धवखिल्यवत्प्रविभक्तो जलादौचन्द्रादिप्रतिबिम्बवत्कार्यकरण इह प्रविष्टः सोऽयं पुरुषः प्राज्ञेन परमार्थेन स्वाभाविकेन स्वेनाऽऽत्मना परेण ज्योतिषा संपरिष्वक्तं एकीभूतो निरन्तर: सर्वात्मा न बाह्यं किंचन वस्त्वन्तरं नाप्यान्तरमात्मन्ययहमस्मि सुखी दु:खी वेति वेद |[745]

---

[742] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य २४१४ पृष्ठ ३१६-२०

[743] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य २११८ पृष्ठ २४६

[744] छान्दोग्योपनिषद् शांकर भाष्य ६८१ पृष्ठ ३१३

[745] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य ४३२१ पृष्ठ ५५९

सुषुप्तिकाल में एकीभवन रहते हुए भी जीव और परमात्मा में कुछ उपाधि भेद बना ही रहता है क्योकि जीव की उपाधि मलिनसत्त्वप्रधान व्यष्टि अज्ञान और ईश्वर की उपाधि शुद्धसत्त्व प्रधान समष्टि अज्ञान है । यह उपाधिद्वय सुषुप्तिदशा में भी बना रहता है । इस व्यष्टि अज्ञान में जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थाओं के सभी अनुभवों के संस्कार शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण के साथ विलीन रहते है तथा स्वप्न जाग्रदवस्थाओं में पुनः उद्भूत हो जाते हैं। इसी प्रकार ईश्वर की प्रलय रूप सुषुप्त्यवस्था में भी समस्त प्रपंचजाल ईश्वरोपाधिभूत अथवा समष्ट्यज्ञानरूप मायोपाधि में संस्कारात्मना विलीन रहता है। इसी कारण सुषुप्ति को आनन्दमय कहा जाता है और मोक्ष को आनन्दस्वरूप माना जाता है क्योंकि पूर्व में कुछ भेद बना रहता है और उत्तर में सर्वथा अद्वैत मात्र हो जाता है। यही मोक्ष और सुषुप्ति का अन्तर हे अतएव न जीवसांकर्य होता है और न प्रपंचवस्तुसांकर्य।

४.४.९ बिम्ब-प्रतिबिम्बाभेद के द्वारा मोक्षोपपादन—

ज्ञातव्य है कि यह प्रतिबिम्ब जीव वस्तुतः बिम्ब अर्थात् आत्मरूप हे तथा उसका पृथगवभासन उपाधि प्रतिफलन वशात् है। शंकराचार्य ने इसीलिए अपने ग्रन्थों में प्रतिबिम्ब के बिम्बैक्याभाव का उपन्यास किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि वह प्रतिबिम्ब को बिम्बसम निष्क्रिय मानते हैं तथा उसके चांचल्य आदि धर्मों को औपाधिक बताते हैं।[746]

प्रतिबिम्ब का एतादृश स्वरूप मानने के कारण उनका मत है कि जैसे दर्पण रूप उपाधि के नाश होने पर दर्पणस्थ प्रतिबिम्बित मुख ग्रीवास्थ बिम्बभूत मुख में एकीभूत हो जाता है उसी प्रकार यह चित्प्रतिबिम्ब जीव बुद्धयादि उपाधियों के नष्ट हो जाने पर बिम्बभूत ब्रह्म में संप्रतिष्ठित या एकीभूत हो जाता है।

अत्रास्मिन्नात्मनि हि यस्मान्निरूपाधिके जलसूर्यप्रतिबिम्बभेदा इवाऽऽदित्ये प्राणाद्युपाधिकृता विशेषा प्राणादिकर्मजनामाभिधेया यथोक्ता ह्येत एकमभिन्नतां भवन्ति प्रतिपद्यंते।[747]

त एते कर्माणि विज्ञानमयश्चाऽऽत्मोपाव्यपनये सति परेऽव्ययेऽनन्तेऽक्षये ब्रह्मण्याकाशेकल्पेऽजेऽजरेऽनन्तरेऽमृतेऽमयेऽपूर्वेऽनपरेऽबाह्ययेऽद्वये शिवे शान्ते सर्वे एकीभवन्तय

[746] द्रष्टव्य, विवेकचूडामणि, श्लोक ५०९ पृष्ठ २६४.

[747] बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य १४७ पृष्ठ ११५.

विशेषतां गच्छन्येकत्वमापघन्ते जलाद्यायाधारापनय इव सूर्यादिप्रतिबिम्बा: सूर्ये घटाद्यपनय इवाकाशे घटाद्याकाशा:।[748]

स च जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बस्य सूर्यादिप्रवेशवज्जगदाधारशेपेऽक्षरे परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते।[749]

बिम्बभूतपरब्रह्ममार्थं भवति केवलम्।
यथापनीते त्वादर्शे प्रतिबिम्बं मुखं स्वयम्॥[750]

प्रतिबिम्ब का उपर्युक्त निरूपण उन शांकर-पंक्तियों को ध्यान में रखकर किया गया है जो प्रतिबिम्ब को बिम्बरूप मानती हैं तथा जिसके आधार पर परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों में से शंकर शिष्य पद्मपादाचार्य ने प्रतिबिम्बवादाख्य प्रस्थान का सुव्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया एवं शाखोपशाख रूप में विवरणकारादि ने उपवृंहित किया।

४.४.१०. प्रतिबिम्बवाद का स्वरूप

शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के अभेद के प्रतिपादन के लिए अपने भाष्यग्रन्थों में अनेक स्थलों पर जलप्रतिबिम्ब आदि का भी दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। ब्रह्मसूत्र के अंशाधिकरण में उन्होंने जीव को परमात्मा का आभास कहा है। वे कहते हैं कि जीव को जलसूर्यकादि के समान परमात्मा का आभास (प्रतिबिम्ब) ही समझना चाहिए। **आभास एव चैष जीव: परमात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्य:।** [751] इसी प्रकार उभयलिंगाधिकरण के "अतएव चोपमा सूर्यकादीवत्" सूत्र के भाष्य मे शंकराचार्य कहते हैं की जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलों में प्रतिबिंबित होकर अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है, वैसे ही यह आत्मा उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होता है। एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूत में व्यवस्थित है। यह एक होते हुए भी जलचंद्र की तरह अनेक रूपों में दिखलाई पडता है। इसी तरह कठोपनिषद् के भाष्य में वे कहते है कि जैसे एक ही सूर्य घट शराब आदि के जल में प्रतिबिम्बित होकर अनेक-सा अवभासित होता है, इसे ही सर्वदेशकालपुरुषादि में अवस्थित एक ही ज्ञान ब्रह्म

[748] मुण्डकोपनिषद् शांकर भाष्य २७ पृष्ठ ४५.

[749] प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य ४९ पृष्ठ ८४.

[750] सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः श्लोक ८०४ पृष्ठ २००.

[751] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य २३५०, पृष्ठ ३०२

नामरूपादि अनेक उपाधियों के कारण अनेक-सा अवभासित होता है। इसी प्रकार ऐतरेयोपनिषद् के भाष्य में वे कहते हैं कि जैसे एक ही सूर्य जलभेद में विभिन्न रूपों में अवभासित होता है, वैसे एक ही आत्मा विविध उपाधियों में प्रतिबिम्बित होकर हिरण्यगर्भ, प्राण, प्रज्ञात्मा आदि रूपों में अवभासित होता है । इस प्रकार शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रंथो में स्थान-स्थान पर जीव और परमात्मा के पारमार्थिक अभेद एवं औपाधिक भेद के प्रतिपादन के लिए जलसूर्यकादि दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की व्याख्या पन्चपादिका में पद्मपादाचार्य ने भी ब्रह्म को बिम्बस्थानीय तथा जीव को प्रतिबिम्बस्थानीय माना है। वह कहते हैं कि 'तत्वमसि' इस महावाक्य के द्वारा प्रतिबिम्बस्थानीय जीव की बिम्बस्थानीय ब्रह्मस्वरूपता का उपदेश दिया गया है |

४.४.११. विवरणकार प्रकाशात्मयति के अनुसार

प्रतिबिम्बवाद के दो मुख्य भेद है :-

१. प्रथम मत के प्रवर्तक संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि है इसके मत में जीव और ईश्वर दोनों ही प्रतिबिम्ब हैं अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर है तथा अन्तःकरण मे चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है।[752] दोनों बिम्बाभिन्न्न होने के कारण सत् है।

२. द्वितीय मत के प्रवर्तक विवरणकार है इनके अनुसार अविद्या (अन्तःकरण) में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है तथा ईश्वर बिम्बस्थानापन्न चैतन्य है। इन्होंने ईश्वर को प्रतिबिम्ब न मानकर बिम्बरूप माना है। इस मत में ईश्वर परमार्थतः ब्रह्मरूप होने से सत् हैं। इस प्रकार दोनों मतों में जीव तथा ईश्वर को ब्रह्माभिन्न तथा सत्य माना गया है |

४.४.१२. प्रतिबिम्बवाद का विस्तृत स्वरुप

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की व्याख्या 'पंचपादिका' में पद्मपादाचार्य ने भी ब्रह्म को बिम्बस्थानीय तथा जीव को प्रतिबिम्बस्थानीय माना है। वह कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के द्वारा प्रतिबिम्बस्थानीय जीव की बिम्बस्थानीय ब्रह्मस्वरूपता का उपदेश दिया गया है।[753] पंचपादिका की व्याख्या पंचपादिकाविवरण में प्रकाशात्मयति ने जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया है। विवरणकार ने श्रुति, स्मृति तथा सूत्र के आधार पर प्रतिबिम्बवाद का समर्थन तथा युक्ति एवं तर्क के आधार पर

[752] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ. ८५

[753] पंचपादिका प्रथमवर्णक, पृष्ठ १०८

प्रतिबिम्बवाद में प्रदर्शित दोषों का निराकरण किया है | इसलिए प्रतिबिम्बवाद के प्रतिष्ठापक के रूप में विवरणकार ही माने जाते हैं विवरणकार प्रकाशात्मयति का यह कथन है कि प्रतिबिम्बवाद श्रुति, स्मृति तथा सूत्र से समर्थित होने के कारण उपादेय है। वह कहते हैं कि 'रूपं रूपं प्रति- रूपो बभूव' यह श्रुति 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते' 'जलचन्द्रवत्' स्मृत्ति तथा 'अतएव चापमा सूर्यकादिवत्' यह ब्रह्मसूत्र स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बवाद के समर्थक हैं[754]।

विवरणकार प्रकाशात्मयति ने न केवल शब्दप्रमाण के ही आधार पर प्रतिबिम्बवाद का समर्थन किया है, वरन् युक्ति के आधार पर अवच्छेदवाद की असाधुता का प्रतिपादन करते हुए प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध प्रदर्शित दोषों का निराकरण भी किया है। प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध प्रदर्शित इस दोष का कि चैतन्य के अमूर्त एवं नीरूप होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं, निराकरण करते हुए विवरणकार कहते हैं कि जैसे अमूर्त आकाश का जल में प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, वैसे ही अमूर्त ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है[755] । प्रतिबिम्बवाद के लिये बिम्ब का मूर्तत्व या रूपवत्त्व आवश्यक नहीं है अपितु अमूर्त एवं नीरूप वस्तु का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है। यहाँ यह शंका होती है कि जल में अमूर्त आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, वरन् जलान्तर्गत आकाश ही अभ्रादि के प्रतिबिम्ब से युक्त दीखाई पड़ता है। इस शंका के निवारण में प्रकाशात्मयति का यह कथन है कि जल में आकाश का प्रतिबिम्ब मानना ही होगा, अन्यथा जानुमात्रप्रमाणजल में दूर विशाल आकाश के दर्शन कि समुचित व्याख्या सम्भव नहीं है[756] । इस प्रकार विवरणकार ने प्रतिबिम्बवाद को श्रुति, स्मृति और सूत्र रूप शब्द प्रमाण से समर्थित तथा युक्ति एवं तर्क से अनुमोदित सिद्ध करने का प्रयास किया है। इन्होंने ही सर्वप्रथम प्रतिबिम्बवाद को एक वाद का रूप प्रदान किया तथा अवच्छेदवाद की तुलना में इसके औचित्य का प्रतिपादन किया। इसलिए प्रतिबिम्बवाद के प्रवर्तक के रूप में विवरणकार ही माने जाते हैं। अद्वैत वेदान्त में इन्हीं के नाम पर एक नये प्रस्थान का प्रवर्तन हुआ जो "विवरणप्रस्थान" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध उत्थापित शंकाओं की समीक्षा

प्रतिबिम्बवाद में जीव को चैतन्य का प्रतिबिम्ब स्वीकार करने में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि लोक में रूपवान् वस्तु का ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, नीरूप वस्तु का नहीं। रूपवान् मुख का दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है। सूर्य, चन्द्र, तारे, सितारे इन सभी रूपवान् पदार्थों का ही जलादि में प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, रूपविहीन वायुप्रभृति पदार्थों का नहीं। इसलिए चैतन्य के निर्विशेष, निरवयव, नीरूप

[754] पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २८९

[755] पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २८९

[756] पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २८९

एवं अतीन्द्रिय होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं। इस सम्बन्ध में भामतीकार वाचस्पतिमिश्र का कथन है कि रूपवान् द्रव्य अतिस्वच्छ होने के कारण रूपवान् द्रव्यान्तर की छाया को ग्रहण कर सकता है। किन्तु चिदात्मा तो अरूप एवं विषयी है, अतः वह विषय की छाया को ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि कहा भी गया है कि शब्द, गन्ध तथा रस की प्रतिबिम्बता कैसे हो सकती है ?[757]

इस शंका के समाधान में विवरणकार प्रकाशात्मयति का यह कथन है कि मूर्त पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब हो यह नियम ठीक नहीं। अमूर्त आकाश का भी जल में प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। इसी तरह अमूर्त ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है ।[758]

इस पर यह कहा जा सकता है कि अमूर्त एवं नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं होता अपितु जलान्तर्वर्ती आकाश ही अभ्रादिप्रतिबिम्ब से युक्त दीख पड़ता है। इस शंका के समाधान में विवरणकार कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं कि अमूर्त आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं होता अपितु जलान्तर्वर्ती आकाश ही अभ्रादिप्रतिबिम्ब से युक्त दीख पड़ता है। क्योंकि आकाश का प्रतिबिम्ब माने बिना जानुमात्रप्रमाण जल में दूरविशालाकाश दर्शन की व्याख्या सम्भव नहीं है।[759]

यहाँ यह शंका होती है कि नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब मानने के स्थान पर आलोक के प्रतिबिम्ब से ही निर्वाह होता है। फिर आकाश के प्रतिबिम्ब को मानने की क्या आवश्यकता है। अतः आकाश का प्रतिबिम्ब स्वीकार करने में गौरव है। इस शंका के समाधान में विवरणप्रस्थान के अनुयायियों का यह कथन है कि पूर्वोक्त पक्ष में गगन प्रतिबिम्ब को भ्रम रूप मानना होगा। और इस भ्रम को सिद्धि के लिये अनिर्वचनीय शुक्ति-रजत सदृश अनिर्वचनीय गगन की उत्पत्ति माननी होगी। अतः इस पक्ष में भी गौरव-दोष समानरूप से ही प्रसक्त होता है। किन्तु अनुभवानुसारी गौरव दोषावह नहीं होता इसलिये रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है, इस नियम से गगन में व्यभिचार मानना ही होगा। इसलिए अमूर्त एवं नीरूप वस्तु का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है।

नीरूप वस्तु के प्रतिबिम्बत्व के सम्बन्ध में दिये गये आकाश के दृष्टान्त के बारे में यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः नीरूप आकाश का जलादि में प्रतिबिम्ब पड़ ही नहीं सकता जलादि में तो उसी आकाश का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है जो कि हमें जल के बाहर ऊपर आसमान में दिखलाई पड़ता है। यद्यपि आकाश सर्वथा नीरूप है तथापि वह आलोकादि के सम्बन्ध से नीला प्रतीत होता है । उसी नीलरूप से प्रतिभासमान अकाश का ही जलादि में प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है, रूप

---

[757] भामती १११, पृष्ठ ८

[758] पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २८९ विवरणप्रमेय संग्रह , पृष्ठ २३१

[759] पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २८९ तथा विवरणप्रमेय संग्रह पृष्ठ २३१

आकाश का नहीं'; क्योंकि रूपहीन वस्तु का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। इस पर यह कहा जाता है कि जैसे जवाकुसुम का रूप नीरूप एवं निरवयव होते हुए भी सन्निहित शुभ्र स्फटिक में प्रतिबिम्बित होता है तथा शुभ्रस्फटिक जवा कुसुम के आरुण्य के कारण अरुण प्रतीत होता है, वैसे ही नीरूप एवं निरवयव चैतन्य का भी अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब पड़ सकता है।[760] रूप के अतिरिक्त संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, चलन, सुखत्व इत्यादि नीरूप वस्तुओं का भी प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है।[761] इस सम्बन्ध में यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि रूप, संख्या, परिमाण इत्यादि सभी गुण है अतएव ये रूप रूपी गुणान्तर का आश्रय नहीं बन सकते, क्योंकि गुण में गुण नहीं रह सकता। अतएव ये सभी रूपहीन हैं। किन्तु रूपहीन होते हुए भी इनका प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है। अतः यह शंका ठीक नहीं कि नीरूप का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है।

इस पर यह शंका हो सकती है कि नीरूप आदि गुणों का प्रतिबिम्ब सम्भव होने पर भी नीरूप द्रव्य का प्रतिबिम्ब सम्भव नही है। किन्तु विचार करने पर यह शंका भी उचित प्रतीत नहीं होती। क्योंकि वेदान्त मत में द्रव्य और गुण की कोई परिभाषा नहीं है। पृथिव्यादि में अनुगत किसी द्रव्यत्वरूपी धर्म की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि उन-उन पदार्थों में यह द्रव्य है, इस प्रकार के किसी अनुगत प्रत्यय का अभाव है।[762] अतएव वेदान्त में गुण के अतिरिक्त गुणाश्रय रूप द्रव्य की सत्ता नहीं मानी जाती। यदि गुण के अतिरिक्त गुणाश्रय रूप द्रव्य (गुणी, की सत्ता) मानी जाय तो इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती। गुण और गुणों में संयोग सम्बन्ध को तो समुचित माना नहीं जा सकता क्योंकि ये एक दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते। इन दोनों के बीच नैय्यायिक सम्मत समवाय सम्बन्ध को भी नहीं माना जा सकता क्योंकि समवाय की कल्पना करने पर अनवस्था दोष की प्रसक्ति होती है अतएव वेदान्त में गुण के अतिरिक्त गुणाश्रय रूप द्रव्य की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक ब्रेडल(Bradley) ने भी गुणाधिष्ठानरूप द्रव्य (Substance) को प्रतिबम्ब(Appearance) ही माना है, वास्तविक (Real) नहीं ।[763] अतएव गुण के अतिरिक्त गुणाश्रयरूप द्रव्य की सत्ता सिद्ध न होने से यह शंका उचित नहीं कि नीरूप रूपादि के प्रतिबिम्बित होने पर भी नीरूप चैतन्य का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं।

इस पर यदि कहें कि नीरूप गुणादि का प्रतिबिम्ब सम्भव होने पर भी नीरूप गुणाश्रय का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं, तो यह भी उचित नहीं; क्योंकि नीरूप संख्या के संख्यारूपगुणाश्रय होने पर भी उसका प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि संख्या में संख्या नहीं रहती क्योंकि

---

[760] सिद्धान्त बिन्दु पृष्ठ, १४

[761] वेदान्त कल्पतरु परिमल पृष्ठ, १५६

[762] वेदान्त कल्पतरु परिमल, १।१।४, पृष्ठ १५६

[763] Appearance and Reality. तथा चित्सुखी - "द्रव्यत्वखण्डन प्रकरण"

"संख्याया अवयवे तयप्" यह पाणिनि का सूत्र ही इस बात में प्रमाण है कि संख्या में भी संख्या विद्यमान रहती है। यदि कहें कि संख्या का संख्याश्रयत्व गौण है मुख्य नहीं, तो यही बात आत्मा के सबन्ध में भी कही जा सकती है। आनन्द इत्यादि धर्म आत्मा से अभिन्न है, अतः आत्मा को भी मुख्य रूप से गुणाश्रय नहीं माना जा सकता। **न संख्याया मुख्यं गुणाश्रयत्वमिति चेत् उच्यते- तुल्यमेतदात्मनोऽपि आनन्दा दिधर्मास्तिदभिन्ना इति तस्यापि हिन मुख्यं गुणाश्रयत्वम्।**[764] अतः गुणाश्रय होने से नीरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता यह तर्क भी संगत नहीं है।

प्रतिबिम्बवाद के विरोध में एक दूसरा दोष यह दिखाया जाता है कि अन्तःकरण रूप उपाधि के नीरूप होने के कारण उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। प्रतिबिम्बपात के लिये जहाँ बिम्ब का रूपवान होना आवश्यक है, वहाँ प्रतिबिम्बोपाधि का रूपवान होना भी आवश्यक है। रूपवान् उपाधि में ही प्रतिबिम्ब संभव है, रूपहीन उपाधि में नहीं। रूप दर्पण में ही मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है, रूपहीन वायु में नही। अतः अन्तःकरण रूप उपाधि के रूपहीन होने के कारण उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता।

इस दोष के निवारणार्थ प्रतिबिम्बवाद की ओर से यह कहा जाता है कि प्रतिबिम्बग्रहण के निमित्त प्रतिबिम्बोपाधि के रूपवत्व की कोई आवश्यकता नहीं है। नीरूप उपाधि में भी प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। उदाहरण के रूप में हम नीरूपध्वनि में पड़नेवाले नीरूप वर्ण के प्रतिबिम्ब को ले सकते हैं। नीरूपध्वनि में वर्णप्रतिबिम्ब को मानना आवश्यक है। क्योंकि ह्रस्व, दीर्घत्व आदि ध्वनि के धर्मा का आरोप "आकार" आदि वर्णों में किया जाता है। यह आरोप तभी सम्भव है जबकि ध्वनि में वर्णों का प्रतिबिम्ब माना जाय। वर्णप्रतिबिम्ब को स्वीकार कर लेने पर जैसे दर्पण में रहने वाला मालिन्य प्रतिबिम्ब द्वारा मुख में अरोपित होता है, वैसे ही ध्वनि में रहने वाले ह्रस्वत्व आदि धर्मों का आरोप प्रतिबिम्ब द्वारा वर्णों में मानना सम्भव हो सकेगा। अतएव नीरूप ध्वनि में नीरूप वर्णों के प्रतिबिम्ब को मानना आवश्यक है। इस प्रणाली से नीरूप अन्तःकरण में नीरूप चैतन्य का प्रतिबिम्ब भी माना जा सकता है।

इस पर यह शंका होती है कि ध्वनित धर्मों का वर्णों में आरोप ध्वनि के सान्निध्यमात्र से ही सम्भव है, अतः इसके लिए ध्वनि में वर्ण प्रतिबिम्ब को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? जैसे जवाकुसुम के आरुण्य का आरोप सामीप्यमात्र से स्फटिक में हो जाता है, वैसे ही सामीप्यमात्र से वर्षों में ध्वनिगत धर्मों का आरोप सम्भव है, अतः ध्वनि के वर्णप्रतिबिम्बग्राहित्व की कल्पना उचित नहीं। **ध्वनिवर्णप्रतिबिम्बवादोऽप्ययुक्तः व्यंजकतया सन्निधानमात्रेण ध्वनिधर्माणासुदात्तादिस्वराणां वर्णेष्वारोपोपपत्तेः ध्वनेर्वर्णप्रतिबिम्बग्राहित्वकल्पनायानिष्प्रमाणकत्वात्।**[765]

---

[764] वेदान्त कल्पतरु परिमल १।१।४ पृष्ठ १५६

[765] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ. ११०

इस शंका के समाधान में प्रतिबिम्बवाद की ओर से यह कहा जा सकता है कि नीरूप ध्वनि में नीरूप वर्णों के प्रतिबिम्बत्व को भले ही न माना जाय किन्तु प्रतिध्वनि को तो पूर्व ध्वनि का प्रतिबिम्ब मानना होगा। प्रतिध्वनि ध्वनि का प्रतिबिम्बमात्र है, मुख्य ध्वनि नहीं, क्योंकि उसका कोई उत्पादक नहीं है। अतएव जैसे नीरूप ध्वनि नीरूप आकाश में प्रतिध्वनि के रूप में प्रतिबिम्बित होती है, वैसे ही नीरूप चैतन्य भी नीरूप के अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित क्यों नहीं हो सकता ?

किन्तु यहाँ एक दूसरी शंका उत्पन्न होती है। प्रतिध्वनि को नीरूप ध्वनि का नीरूपवान में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर वह आकाश गुणवाली यही मानी जा सकती। यदि प्रतिध्वनि को व्यक्ति का प्रतिबिम्ब माना जाय तो या तो इसे बिम्ब से भिन्न मानना होगा या अभिन्न यदि इसे बिम्ब से भिन्न माना जाय तो

प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब के प्रातिभासिक होने से उसमें व्यावहारिकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। और यदि इस दोष से बचने के लिए बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेदपक्ष को स्वीकार किया जाय तो प्रतिध्वनि रूप प्रतिबिम्ब के बिम्बभूत पृथ्वी आदि से उत्पन्न शब्द की अपेक्षा भिन्न न होने से इसमें आकाशगुणत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रतिध्वनि को ध्वनि का प्रतिबिम्ब मानने पर दोनों पक्षों (भेद तथा अभेद) में दोष प्रसक्त होता है। अतएव प्रतिध्वनि को ध्वनि का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता। प्रतिध्वनि वस्तुतः ध्वन्यन्तर ही है। इसका उत्पादक आकाश है तथा निमित्तकारण है पूर्वध्वनि। यह पूर्व ध्वनि का प्रतिबिम्ब नहीं, अपितु पूर्वध्वनि से उत्पन्न होने वाला ध्वन्यन्तर ही है। **प्रतिध्वनिरपि न पूर्वशब्दप्रतिबिम्बः ।**[766] वर्णरूप प्रतिशब्द भी पूर्ववर्ण का प्रतिबिम्ब नहीं है अपितु शब्दान्तर है **वर्णरुपप्रतिशब्दोऽपि न पूर्ववर्णप्रतिबिम्बः । वर्णाभिव्यंजक ध्वनिनिमित्तकप्रतिध्वनेर्मूलध्वनिवदेव वर्णाभिव्यंजकत्योपपत्तेः ।** [767], क्योंकि वर्ण की अभिव्यंजक ध्वनि से उत्पन्न होने वाली प्रतिध्वनि भी मूलध्वनि के समान वर्ग की अभिव्यंजक है, ऐसा मान लेने से ही उपपत्ति सम्भव है। अतएव प्रतिध्वनि के दृष्टान्त के आधार पर नीरूप उपाधि में प्रतिबिम्बपात की संभावना समीचीन नहीं है।

उपर्युक्त शंका के समाधान में प्रतिबिम्बवाद की ओर से यह कहा जाता है कि प्रतिबिम्बोपाधि के रूपवत्व के आधार पर चैतन्य के प्रतिबिम्ब का निराकरण नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है

कि प्रतिबिम्बग्रहण के लिये अपेक्षित उपाधि के रूपवत्व का क्या अभिप्राय है। प्रतिबिम्बग्रहण के लिए क्या उपाधि का रूपवत्व ही प्रयोजक है अथवा उपाधि के रूपवत्व का ग्रहण भी अपेक्षित है। इनमें से प्रथम पक्ष में आत्मा के अन्तःकरणोपाधि में प्रतिबिम्बित होने में कोई अनुपपत्ति नहीं, क्योंकि

[766] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ. ११०-११

[767] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ. ११०-११

त्रिवृत्करण अथवा पंचीकरण प्रक्रिया के अनुसार अन्तःकरण रूपवान् है द्वितीयपक्ष में भी कोई अनुपपत्ति नहीं, क्योंकि जैसे स्फटिक के निजरूपवत्वेन गृहीत न होने पर भी सन्निहित जवाकुसुम के प्रतिबिम्बने से स्फटिक अरुण दृष्टिगत होता है, वैसे ही प्रकृति में भी अन्तःकरण के रूपवत्वेनन गृहीत न होने पर भी उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब सम्भव है । **किं प्रतिबिम्बोपाधेर्वस्तुतो रूपवत्वं प्रतिबिम्बने प्रयोजकमिष्यते उत रूपवत्वने ग्रहणम आद्येनात्मनोऽन्त:करणप्रतिबिम्बनानुपत्ति:, अन्त:करणस्यत्रिवृत्करणे पंचीकरणेन वा रूपत्वात् । न द्वितीय: निजरूपत्वेना गृह्यमाणेऽपि स्फटिके सन्निहितजपाकुसुमप्रतिबिम्बनेन अरुण: स्फटिक इतिव्यवहार्दर्शनात् ।**[768] नीरूप चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने के सम्बन्ध में एक अन्य शंका यह होती है कि प्रतिबिम्बपात के लिए यह आवश्यक है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बोपाधि एक दूसरे से पृथक एवं विप्रकृष्टदेशस्थ हो। सूर्यादिमूर्त पदार्थों से पृथक् एवं विप्रकृष्टदेशस्थ मूर्त जल में ही सूर्यादि का प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है। किन्तु चैतन्य तो न मूर्त है और ना ही अन्तःकरणोपाधि इससे पृथक तथा विप्रकृष्टदेशस्थ है, क्योंकि चैतन्य सर्वगत एवं सर्वानन्य है। अतः सूर्यादि के समान चैतन्य का प्रतिबिम्ब संभव नहीं है । **सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्य: पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्त जलं गृह्यते, तत्र युक्त: सूर्यादिप्रतिबिम्बोदय: । न त्वात्मा मूर्तो न चास्मात्पृथग्भूतो विप्रकृष्टदेशाश्चोपा धय: सर्वगतत्वात् सर्वानन्यत्वाच्च ।**[769]

प्रतिबिम्बवाद के सम्बन्ध में उद्भावित इस शंका का समाधान भाष्यकार शंकराचार्य ने इस प्रकार किया है। वे कहते हैं कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विक्षितांश को छोड़कर पूर्णसारूप्य को दिखा सकना सम्भव नहीं है। क्योंकि यदि दोनों में पूर्णसारूप्य हो जाय तो इनके दृष्टान्तदार्ष्टान्तिककभाव का ही उच्छेद हो जाय । प्रतिबिम्बपरक जल सूर्यादि दृष्टान्तों का एक विशेष प्रयोजन है और वह यह दिखाना है कि जैसे जल में विद्यमान सूर्यप्रतिबिम्ब जलवृद्धि से बढ़ता है, जल ह्रास से घट जाता है, जल के चलने से चलता और जलभेद से भिन्न होता है, तथापि परमार्थतः सूर्य वैसा हो नहीं जाता; वैसे ही ब्रह्म परमार्थतः अविकृत रहते हुए भी देहादि उपाधियों के कारण वृद्धिह्रासादिक उपाधि धर्म को प्राप्त सा होता है, किन्तु परमार्थतः वैसा हो नहीं जाता । **युक्त एवं त्वयं दृष्टान्तोविवक्षितांशसंभवात् । न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो: क्वचित् कंचिद् विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते । सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात् ... जलगतं हि सूर्य प्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते जलह्रासे ह्रसति जलचलने चलति जलभेदे भिद्यते इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति न तु परमार्थत: तथात्वमस्ति । एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद् भजत इवोपाधिमान् वृद्धिह्रासादीन।** [770] शंकराचार्य के इस समाधान से यह स्पष्ट है कि उन्हें चैतन्य के प्रतिबिम्ब में कोई विशेष आग्रह नहीं है। चैतन्य के प्रतिबिम्बित हो सकने के सम्बन्ध में जो पूर्वपक्ष का आक्षेप है, उसके विरुद्ध उनका केवल यही कहना है कि प्रति बिम्बपरक सूर्य जलसूर्यादि दृष्टान्तों के प्रयोग का एक विशेष प्रयोजन है। और उसी प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए इन दृष्टान्तों की संगति लगानी चाहिए । प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का प्रयोग अमूर्त चैतन्य के

[768] वेदान्त कल्पतरु परिमल ११४, पृष्ठ १५६

[769] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य ३२९९, पृष्ठ ३५९

[770] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य ३२२०, पृष्ठ ३५९

प्रतिबिम्बनक्षमत्व को प्रदर्शित करने के प्रयोजन से नहीं हुआ है। इसी प्रकार अच्छेदपरक घटाकाश आदि हृष्टान्तों का प्रयोग भी भाष्यकार ने प्रयोजन विशेष से ही किया है। इन दृष्टान्तों के द्वारा शंकराचार्य ने आत्मा की असंगता का प्रतिपादन किया है। यह घटाकाशादि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों के प्रयोग का प्रयोजन है। वस्तुतस्तु जिस प्रकार आत्मा के अमूर्त होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है उसी प्रकार आत्मा का अवच्छेद भी संभव नहीं है। क्योंकि प्रतिबिम्ब के समान अवच्छेद भी मूर्त पदार्थ का ही सम्भव है, अमूर्त का नहीं।

अभी तक हमने प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध प्रदर्शित उन दोषों पर ही विचार किया है जिनका सम्बन्ध चैतन्य तथा उपाधि के अमूर्तत्व एवं नीरूपत्व के साथ है। किन्तु प्रतिबिम्बवाद के ऊपर कुछ दूसरे प्रकार के दोष भी दिखाये जाते है। इन दोषों पर हम आगे विचार प्रस्तुत कर रहे है। जीव को प्रतिबिम्बरूप मानने में यह शंका होती है कि क्योंकि प्रतिबिम्ब सदा अचेतन ही होता है, अतः जीव को भी अचेतन ही मानना होगा।

इस शंका के समाधान में विवरणकार का कथन है कि चैतन्य का प्रतिबिम्ब होने के कारण जीव जो अचेतन नहीं माना जा सकता। मुख प्रतिबिम्ब के अचेतन होने का कारण यह नहीं है कि वह प्रतिबिम्ब है, अपितु यह कि उसका बिम्बभूत मुख भी अचेतन है। बिम्बभूत मुख के अचेतन होने के कारण ही उसका प्रतिबिम्बभूत मुख भी अचेतन है एवं अपने बिम्बेकरूपत्व को जानने में असमर्थ है। **अचेतनत्वप्रयुक्ता तत्रानवगतिः, न प्रतिबिम्बत्वप्रयुक्ता।**[771] यदि लोकायत मतानुसार मुख को चेतन मान लिया जाय तो भी उसके चैतन्य के प्रतिबिम्ब हेतु दर्पणादि के जाड्य से आस्पन्दित होने के कारण मुखप्रतिबिम्ब अपने बिम्बैकरूपत्व को जानने में असमर्थ रहता है। यहाँ बिम्बैकरूपत्व के अनवबोध का कारण अचेतनत्व है, प्रतिबिम्बत्व नहीं। **देवदत्तस्याचेतनांशस्यैव प्रतिबिम्बत्वात् सचेतनाशस्यैव च प्रतिबिम्बत्वे प्रतिबिम्बहेतोः श्यामादिधर्मेणैव जाड्येनाप्यास्कन्दितत्वात् न तत् प्रतिबिम्बं बिम्बै करूपतामात्मनो जानाति अचेतनत्वात्।**[772] अतएव चैतन्य के प्रतिबिम्ब रुप जीव को अचेतन नही माना जा सकता।

यहाँ एक दूसरी शंका यह उठती है कि लोक में बिम्ब ही भ्रम निवर्तक तत्वज्ञान का आश्रय देखा जाता है, प्रतिबिम्बत्व नहीं। अतएव बिम्ब होने के कारण ब्रह्म को ही भ्रम निवर्तक तत्वज्ञान का आश्रय होना चाहिए, प्रतिबिम्बरुप जीव को नहीं।

इस शंका के समाधान में विवरणकार का कथन है तत्वज्ञान आश्रयत्व बिम्बत्वकृत नही होता अपितु भ्रान्तत्वकृत होता है जिसे भ्रान्ति होती है वही तत्वज्ञान का आश्रय होता है। तथा भ्रान्ति उसी की ही हो सकती जो अज्ञ हो और अज्ञता का कारण जीवत्व ही है। अतः अज्ञ जीव ही भ्रमनिवर्तक तत्त्वज्ञान का आश्रय बन सकता है, ब्रह्म नहीं, क्योंकि ब्रह्म में भ्रान्ति की सम्भावना ही नहीं है। **न बिम्बत्वकृतं तत्वज्ञानाश्रयत्वं, किन्तु भ्रान्तत्वकृतम्; तदप्यज्ञत्वकृतम् तदपि जीवत्वनिमित्तमितिभावः।**

---

[771] पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २८८

[772] पंचपादिका, पृष्ठ ११०

[773] जिसमें भ्रान्ति उत्पन्न होती है उसी में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति से भ्रान्ति की निवृत्ति होती है **यस्य हि भ्रान्तिरात्मनि परत्र वा समुत्पन्ना तद्ततेनेव सम्यग्ज्ञानेन सा निवर्तते ।**[774]
प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि यदि जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब माना जाय तो जीव और ब्रह्म में भेद मानना आवश्यक होगा, क्योंकि लोक में बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद स्पष्टरूप से अनुभूत होता है। ग्रीवास्थ मुख तथा दर्पणस्थप्रतिबिम्बमुख का भेद प्रत्यङ्मुख त्वादिरूप से स्पष्ट है। यदि मुख और मुखप्रतिबिम्ब के समान ही जीव और ब्रह्म के भेद को मान लिया जाय तो जीव की ब्रह्मस्वरूपता के सिद्धान्त की हानि होती है। अतः जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानना उचित नहीं।

इस आक्षेप के सम्बन्ध में पंचपादिकाकार का कथन है कि प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न नहीं अपितु बिम्बरूप है। अहंकर्ता का अनिदमंश जीव चैतन्य ब्रह्म से वस्त्वन्तर नहीं अपितु ब्रह्मरूप है। पृथगभास तथा विपर्ययरूपता मात्र मिथ्या है, क्योंकि जीव और ब्रह्म में एकस्वलक्षणता का बोध होता है । **अहङ्कर्तुरनिदमंशो बिम्बादिव प्रतिबिम्बं न ब्रह्मणो वस्त्वन्तरम्, किन्तु तदेव तत् पृथगवभासविपर्ययस्वरूपतामात्रं मिथ्या इति दर्शयितुम् कथं पुनस्तदेव तत् ?एक स्वलक्षणतावगमात् ।** [775] पंचपादिकाकार कहते हैं कि जैसे बहि: स्थित देवदत्त वेश्मान्तः प्रविष्टदेवदत्त से भिन्न नहीं, वैसे ही वह दर्पणतलस्थित देवदत्त से भी भिन्न नहीं । इन सभी अवस्थाओं में वह स्वलक्षण ही प्रतीत होता है। यह बात तभी सम्भव है जब कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब को वस्त्वन्तर नहीं माना जाय । यथा बहिःस्थितो देवदत्तो यत्स्वलक्षण: प्रतिपन्नः तत्स्वलक्षण एवं वेश्मान्तः ।

प्रविष्टोऽपि प्रतीयते तथा दर्पणतलस्थितोऽपि न तत् वस्त्वन्तरत्वे युज्यते । [776] इस प्रकार पंचपादिकाकार ने बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेद का प्रतिपादन करते हुए जीव की ब्रह्मस्वरूपता को प्रदर्शित किया है। विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य ने भी प्रबलयुक्तियों के आधार पर बिम्ब और प्रतिबिम्ब के भेद पक्ष का खण्डन करते हुए इनके अभेदपक्ष का समर्थन किया है ।[777] इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद में बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेद के आधार पर जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया गया है ।

---

[773] पंचपादिका, पृष्ठ २८८

[774] पंचपादिका, पृष्ठ ११०

[775] पंचपादिका, पृष्ठ १०४

[776] पंचपादिका, पृष्ठ १०४-५

[777] विवरण प्रमेय संग्रह अच्युत ग्रन्थमाला, काशी पृष्ठ २२०-२७

शंकराचार्यमतम् ईश्वर स्वरूपं :-

ईश्वर तथा जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में विविध मत उपलब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में प्रकटार्थ विवरणकार का यह मत है कि अनादि, अनिर्वचनीय, सब भूतों की प्रकृति और चिन्मात्र में रहने वाली माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर है तथा उसी माया के अविद्या नामक आवरण और विक्षेप वाले परिच्छिन्न अनन्त प्रदेशों में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है। **अनादिरनिर्वाच्या भूतप्रकृतिश्चिन्मात्रसंबन्धिनी माया । तस्यां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः तस्या एवं परिच्छिन्नानन्तप्रदेशेषु आवरणविक्षेपशक्तिमत्सु अविद्याभिधानेषु चित्प्रतिबिम्बो जीवः।** [778] तत्त्वविवेक में माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर तथा अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव माना गया है। माया में विशुद्धसत्त्व की प्रधानता है, जबकि अविद्या में सत्त्व गुण, रज और तम से अभिन्न होता है। **सत्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। रजस्तमोऽनभिभूतशुद्धसत्वप्रधाना माया , तदभिभूतमलिनसत्त्वा अविद्येति मायाविद्यानंद परिकल्प्य माया प्रतिबिम्ब ईश्वरः अविद्याप्रतिबिम्बो जीव इत्युक्तम्।** [779] कहीं-कहीं माया तथा अविद्या का भेद आवरण तथा विक्षेप शक्तियों के भेद के आधार पर भी माना गया है। माया में विक्षेपशक्ति की प्रधानता मानी गई है, जबकि अविद्या में आवरण शक्ति की। एक ही मूलप्रकृति विक्षेपशक्ति की प्रधानता से मायाशब्द वाच्य होकर ईश्वर की उपाधि होती है तथा आवरणशक्ति की प्रधानता से अविद्याशब्दवाच्य होकर जीव की उपाधि बनती है। **एकैव मूलप्रकृतिविक्षेपप्राधान्येनमाया शब्दितेश्वरोपाधिः आवरणप्राधान्येनाविद्याज्ञानशब्दिताजीवोपाधिः।**[780] आवरणशक्ति के सम्बन्ध से जीव को 'में अज्ञ हूँ' इस प्रकार अपनी अज्ञता का भान होता है जबकि ईश्वर का आवरण शक्तिप्रधान अविद्या से सम्बन्ध न होने के कारण इसे ऐसा भान नहीं होता। **अतएव जीवस्यैव 'अज्ञोऽस्मि' इत्यज्ञानसंबन्धानुभवः, नेश्वरस्य**[781] । किन्तु इसके विपरीत संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि ने माया तथा अविद्या में कोई भेद नहीं माना है। उन्होंने अविद्या तथा उसके कार्य अन्तःकरण में भेद मानकर अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर तथा अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहा है। **कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।** [782]

पूर्वोक्त सभी मतों में जीव तथा ईश्वर दोनों को विशुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब माना गया है। किन्तु विवरणानुयायी विचारकों के मत में ईश्वर को प्रतिबिम्ब नहीं माना जाता। ईश्वर को उनके मत में

---

[778] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ. ८१-८२

[779] पंचदशी तत्वविवेक, पृष्ठ १२ सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ. ८६

[780] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ. ८४

[781] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ ८४

[782] संक्षेपशारीरक तथा सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ. ८५

प्रतिबिम्बरूप जीव का बिम्बस्थानीय माना गया है। ईश्वर बिम्बस्थानीय होने से परतन्त्र है। ईश्वर की यह स्वतंत्रता तभी मानी जा सकती है जबकि उसे बिम्बरूप माना जाय। यदि उसे भी जीव की तरह प्रतिबिम्ब रूप माना जायगा तो वह भी जीव के समान ही परतन्त्र हो जायगा। अतः ईश्वर के स्वातन्त्र्य के उपपादान के लिये इसे बिम्बरूप मानना ही उचित है।

तथा सत्येव लोकिकबिम्बप्रतिबिम्बदृष्टान्तेन स्वातन्त्र्यमीश्वरस्य, तत्पारतन्त्र्यं जीवस्य च युज्यते।[783] इसके अतिरिक्त ईश्वर को प्रतिबिम्ब मानने में एक और भी कठिनाई है। प्रतिबिम्ब के भेद के लिये प्रतिबिम्ब की उपाधि का भेद आवश्यक है। उपाधि के भेद के बिना एक ही बिम्ब के दो विभिन्न प्रतिबिम्ब नहीं हो सकते | ईश्वर और जीव एक दूसरे से विभिन्न स्वभाव वाले हैं। यदि इन दोनों को एक ही विशुद्ध चैतन्य का प्रतिबिम्ब माना जाय तो इसके लिये प्रतिबिम्बोपाधि में भेद आवश्यक है। उपाधि के भेद के बिना ईश्वर और जीवरूप प्रतिबिम्बों की कल्पना नहीं की जा सकती। **उपाधिद्वयमन्तरेणोभयोः प्रतिबिम्बत्वायोगात्**[784]। इसी लिये प्रतिबिम्बेशपक्ष में माया तथा अविद्या और उसके कार्य अन्तःकरण में भेद माना गया है और इस भेद के आधार पर ही ईश्वर और जीवरूप दो विभिन्न प्रतिबिम्बों की कल्पना की गई है। किन्तु विवरणानुयायी विचारक इस मत से सहमत नहीं है। वे माया को प्रतिबिम्बोपाधि के रूप में नहीं मानते तथा ईश्वर को प्रतिबिम्बरूप न मान कर बिम्बरूप ही मानते हैं। जीव को उन्होंने अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य रूप माना है। **बिम्बप्रतिबिम्बभावेन जीवेश्वरयोर्विभागः, नोभयोरपि प्रतिबिम्बभावेन। तत्रापि प्रतिबिम्बो जीवः, बिम्बस्थानीय ईश्वरः।**[785] जैसे सर्वत्र व्याप्त सूर्य की किरणों का अभिव्यक्तिस्थान दर्पण है, वैसे ही अविद्या में प्रतिबिम्बित जीव का विशेष अभिव्यक्तिस्थान अविद्या का परिणामरूप अन्तःकरण है। **अज्ञानप्रतिबिम्बितस्य जीवस्यान्तः करणरूपोऽज्ञानपरिणामभेदो विशेषाभिव्यक्तिस्थानं सर्वतः प्रसृतस्य सवितृप्रकाशस्य दर्पण इव। अज्ञानप्रतिबिम्बितस्य जीवस्यान्तः करणरूपोऽज्ञानपरिणामभेदो विशेषाभिव्यक्तिस्थानं सर्वतः प्रसृतस्य सवितृप्रकाशस्य दर्पण इव।**[786] अन्तःकरण के कारण ही जीव के प्रमातृत्व, कर्तृत्व आदि धर्मों की अभिव्यक्ति होती है। कर्तृत्व आदि धर्मों के केवल अविद्या के परिणाम न होने से उसकी उपाधि मात्र से जीव में कर्तृत्व आदि की उपपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु कर्तृत्व आदि धर्म वाले अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास से ही जीव में कर्तृत्व आदि की उपपत्ति हो सकती है। इसीलिए जीव के अविद्योपाधिक होने पर भी उसे अन्तःकरणोपाधिक माना गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इससे जीव को अविद्योपाधिकता का निराकरण किया गया है। क्योंकि यदि जीव को अन्तःकरणोपाधिक ही माना जाय अविद्योपाधिक नहीं तो ऐसी दशा में योगियों में एक कालीन अनेक शरीरों के नियन्तृत्व की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। **नैतावता ज्ञानोपाधिपरित्यागः, अन्तःकरणोपाधिपरिच्छिन्नस्यैव चैतन्यस्य जीवत्वे योगिनः कामव्यूहाधिष्ठानत्वानुपपत्तेः।**[787] अतएव विवरणानुयायियों के मत में अविद्या में चैतन्य का

---

[783] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ १०३-४

[784] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ. १०३-४

[785] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ. १०३-४

[786] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ १०५

[787] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ १०५

प्रतिबिम्ब जीव माना गया है। इस तरह प्रतिबिम्बद्वय के लिये अपेक्षित उपाधियों के अभाव से वे जीव और ईश्वर दोनों को प्रतिबिम्बरूप न मानकर जीव को प्रतिबिम्ब रूप तथा ईश्वर को इसका बिम्बरूप स्वीकार करते हैं।[788]

[788] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ. १०४

उपसंहार

उपसंहार

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के अभेद को स्वीकार किया है। अद्वैत वेदान्त में त्रिविध प्रस्थान (आभासवाद, अवच्छेदवाद तथा प्रतिबिम्बवाद) का जन्म हुआ जिन्हें क्रमश: सुरेश्वराचार्य, वाचस्पति मिश्र तथा प्रकाशात्मयति ने प्रतिष्ठित किया। इन दृष्टान्तों के आधार पर ही ब्रह्म और जीव के औपाधिक भेद और पारमार्थिक अभेद का प्रयोग अपने भाष्य में किया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रुतिहिमवत् उत्पन्न अद्वैत तीन धाराओं वालें स्रोत स्थानीय आभास प्रस्थान संबंधित मतों पर आवृत सारांश प्रस्तुत करने के पहले प्रत्यभिज्ञादर्शन के आभासवाद से तथा ब्रैडले (Bradley) के आभास (appearance) से स्वग्रन्थाभिमत आभास प्रस्थान के एवं अद्वैत वेदान्त के अवच्छेद तथा प्रतिबिम्ब प्रस्थानों से मुख्य सैद्धान्तिक अन्तरों को स्पष्ट किया जा रहा है।

अवच्छेदवाद तथा आभासवाद

नीरूप चैतन्य का अन्तःकरण में आभास असंभव है तथा आभास जीव के मिथ्या होने के कारण बन्ध-मोक्ष-सामानाधिकरण्य अनुपपन्न होगा ऐसा मानकर वाचस्पति मिश्र प्रभृति अवच्छेदवादियों ने आभासवाद का खंडन किया है तथा अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के रूप में जीव की व्यवस्था की है, अतः इनके प्रस्थान को अवच्छेदवाद कहा जाता है।[789] इसके विपरीत नीरूप भी जवाकुसुम-रूप की स्फटिकादि में आभास प्रतीति के समान नीरूप चैतन्य का अन्तःकरण में आभास सम्भव है-'तथा च नीरूपस्य निरवयवस्य ब्रह्मणः कथं प्रतिबिम्ब: (आभासः) - इति चेत् १ न: काचिद् अत्रानुपपत्तिः। विभ्रमहेतुनां विचित्रत्वात् जवाकुसुमरूपस्य नीरूपस्यापि स्फटिकादी प्रतिबिम्बदर्शनात् मठाद्यन्तर्गत पुरुषोच्चार्यमाण शब्दस्यापि उपरिभागावच्छेदेन प्रतिशब्दाख्यप्रतिविम्योपलम्भाच्च्[790] तथा स्वरूपतः मिथ्या भी आभास के लक्ष्यतः सत्य होने के कारण **'जीवशब्दवाच्यस्य मिथ्यात्वेऽपि तल्लक्ष्यस्य सन्मात्रस्य सत्यत्वमिति व्यवस्था'। तथा 'अवच्छेदः कल्पितः स्यात् अवच्छेद्यं तु तात्विकम्'।**[791] बन्ध-मोक्ष-सामानाधिकरण्य उपपन्न होगा ऐसा स्वीकार कर प्रस्तुत प्रबन्धविषयीभूत सुरेश्वरादि आचार्यों ने आभासवाद का प्रवर्त्तन और समर्थन करके अन्तःकरणगत चिदाभास के रूप में जीव की व्यवस्था की है, अतः इनके प्रस्थान को आभासवाद कहा जाता है। इन द्विविध प्रस्थानों के प्रमुख अन्तर निम्न हैं :-

---

[789] वाचस्पत्यम्, पृष्ठ ४२०, कलिकाता १९२९

[790] अद्वैतब्रह्मसिद्धि, चतुर्थो मुद्गर प्रहारः, पृष्ठ २१६- १७

[791] आनन्दगिरिः छान्दोग्यभाष्यटीका, अध्याय ६,४,३, पृष्ठ २९८

(१) अवच्छेदवाद में अवच्छेद कल्पित है और उपाध्युपहित या अवच्छिद्य अर्थात् चैतन्य तात्विक है **'अवच्छेवादः कल्पितः स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम् ।'**[792] पर आभासवाद में उपाधि स्वान्तःपाति आभास के साथ मिथ्या है और आभासक अर्थात् चैतन्य तात्विक है- **वार्तिककारास्तदनुयायिनश्च उभयोरपि काल्पनिकत्वं स्वीकृत्य आभासवाद निरूपयांचक्रिरे**[793] ।

(२) जैसे महाकाश का घटादि उपाधियों से एकदेशीय सा परिच्छेद होता है, उसी प्रकार अवच्छेदवाद में अवच्छिद्य अर्थात् चैतन्य का अज्ञानादि उपाधियों से एक-देशीय सा अवच्छेद होता है, इसके विपरीत आभासवाद में चैतन्याभास सर्वात्मना ही उपाधिस्थ हो जाता है ।

(३) अवच्छेदवाद तथा अवच्छिद्य में सर्वथा अन्तर बना रहता है, पर आभास तथा उपाधि में अन्तर की प्रतीति नहीं होती। इसीलिए अवच्छेद के बाधित होने पर अवच्छिद्य के बाधित होने का प्रश्न नहीं, पर आभास और उपाधि दोनों समकाल बाधित होते हैं ।

(४) अवच्छेदवाद का मुख्य सिद्धांत 'दृष्टिसृष्टिवाद' तथा जीवाश्रित-अज्ञानवाद है और आभासवाद का मुख्य सिद्धान्त नाम-रूपात्मक प्रपंच का 'कार्यकारणाभासवाद' तथा 'प्रत्यक्चैतन्याश्रित अज्ञानवाद' है ।

अन्य अन्तरों को प्रस्तुत ग्रन्थ में यत्र तत्र स्पष्ट कर दिया गया है, अतःउनका पिष्टपेषण अनावश्यक है ।

प्रतिबिम्बवाद तथा आभासवाद :-

'प्रतिबिम्बत्वं तु-उपाध्यन्तर्गत प्रतीयमानत्वे सति औपाधिकपरिच्छेशून्यत्वे च सति बहिःस्थितस्वरूपत्वम् उपाध्यन्तर्गतत्वे सति उपाध्यन्तर्गतस्वरूपाभिन्नत्वं बिम्बत्वम् ।'[794] **तथा 'चिह्नवदवभासमानत्वे सति विल्लक्षणरहितत्वात् चिदाभास इति च व्यपदिश्यते ।**[795] इन प्रतिबिम्ब बिम्ब तथा आभास के लक्षणों के आधार पर प्रतिबिम्ब तथा आभास के निम्नलिखित अन्तर किए जा सकते है :-

(१) प्रतिबिम्ब बिम्ब ही है, वस्त्वन्तर नहीं, पर आभास मिथ्या है। स्पष्ट शब्दों में प्रतिबिम्ब बिम्बैकस्वरूपलक्षण और बिम्बाभिन्न होने से सत्य है - **'यत् पुनः दर्पणजलादिषु मुखचन्द्रादिप्रतिबिम्बोदाहरणम्, तत अहंकर्तु-रनिदमंशो बिम्बादिव प्रतिबम्बं न ब्रह्मणो**

---

[792] वाक्यसुधा, श्लोक ३३ डायमंड जुबली कमेमोरेशन वालूम, पृष्ठ २४, विवेक मुकुरः

[793] वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर, सिद्धान्तबिन्दु उपोद्घात, अनुच्छेद २१, पृष्ठ १५

[794] अद्वैतब्रह्मसिद्धिः, चतुर्थो मुद्गरप्रहार, पृष्ठ २०२

[795] वेदान्तसंज्ञाप्रकरणम्, पृष्ठ २५ तथा पटपदीस्तवव्याख्या, पृष्ठ २७ डायमंड जुबली कमेमोरेशन वालूम

वस्त्वन्तरम्: किंतु तदेव तत् कथं पुनस्तदेव तत् ? एकस्वरूपलक्षणतावगमात् ।'[796] किन्तु आभास उपाधिवत् अनिर्वचनीय होने के कारण मृषा है[797]।

(२) पारमार्थिक बिम्बैकरूप प्रतिबिम्ब सर्वथा सत्य है- **किं च शास्त्रीयोऽपि व्यवहारः प्रतिबिम्बस्य पारमार्थिकमेव बिम्बैकरूपत्वं दर्शयति 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन । नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्' इति ।**[798] किन्तु आभास स्वरूपतः मिथ्या तथा लक्ष्यत्वेन सत्य है[799] । अतएव प्रतिबिम्बवाद में उपाधि का बाध तथा प्रतिबिम्ब का अभेद में सामानाधिकरण्य होता है - **न च सोऽयं स्थाणुः पुमानेष इतिवत् बाधायां सामानाधिकरण्यम्,फलिनोऽसत्वेना-निर्मोक्षपातादित्यर्थः ।' प्रवेशपरिणोधिनी आत्मस्वरूपकृत**[800] । इसके विपरीत आभासवाद में आभास तथा उपाधि दोनों का बाधा में सामानाधिकरण्य होता है[801]। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रतिबिम्ब पक्ष में 'जहदजहल्लक्षणा' तथा 'अभेदे सामानाधिकरण्यम्' की और आभास पक्ष में 'जहल्लक्षणा' एवं 'बाधायां सामानाधिकरण्यम्' की व्यवस्था है।

(३) आभास और प्रतिबिम्ब दोनों यद्यपि चैतन्यमूलक हैं तथापि आभास की चैतन्यमूलकता केवल इतने में है कि वह (आभास) चिद की अधिष्ठानता के बल से प्रतीत होता है न कि चैतन्य का स्वरूपावगाहि होता है किन्तु प्रतिबिम्ब बिम्बमूलक होने के साथ ही स्वरूपतः बिम्बैकस्वरूपलक्षण भी है।

(४) विलक्षणविरहित होने के कारण आभास किंचिन्मात्र वस्तुसंस्पर्शि नहीं, पर बिम्बलक्षणानुगत प्रतिबिम्ब वस्तुतः बिम्बसंस्पर्शि है, यद्यपि वास्तविक स्वरूपाग्रहण के कारण उसे बिम्ब से भिन्न समझ लिया जाता है।

(५) चैतन्यभिन्न आभास अज्ञानादि उपाधियों के भेद से कारणाभास तथा कार्याभास दो रूपों में प्रतीत होता है पर बिम्बाभिन्न प्रतिबिम्ब का उपाधिभेद से कथमपि भेद सम्भव नहीं। आभास अर्थात् चैतन्य अपने कारणाभास तथा कार्याभास दोनों का अतिक्रामक है[802], पर बिम्ब स्वरूपभूत प्रतिबिम्ब का अतिक्रामक नहीं हो सकता।

---

[796] पंचपादिका, प्रथम वर्णक पृष्ठ १०४

[797] माण्डूक्यगौडपादीयभाष्यव्याख्या ४।५२ पृष्ठ १९२ तथा वाक्यसुधाव्याख्या, श्लोक २६

[798] पंचपादिका, प्रथम वर्णक, पृष्ठ १०८

[799] छान्दोग्य भाष्य व्याख्या ६।४।३ पृष्ठ २६८, शास्त्रप्रकाशिका १।४।३८३ पृष्ठ ५०८; केनवाक्यविवरण व्याख्या ३।१४। १ पृष्ठ ३१ तथा अद्वैत ब्रह्मसिद्धिः चतुर्थो मुद्गरप्रहारः पृष्ठ २०२-३

[800] पंचपादिकाव्याख्या पृष्ठ १०८

[801] आनन्दगिरिः- न्यायनिर्णयः अध्याय१, पाद १ सूक्त ४ पृष्ठ ८५ पंक्ति ३-४; मुण्डकोपनिषद्भाष्यव्याख्यानम् ३|१|११ पृष्ठ ३४ तथा ऐतरेयोपनिषद्भाष्यटीका १।१ पृष्ठ २७

[802] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक - अध्याय४, ब्राह्मण३, वार्तिक ४१५; अध्याय४, ब्राह्मण३, वार्तिक १३२० नैष्कर्म्य सिद्धि, अध्याय२, सम्बन्धोक्ति पृष्ठ ६७; तथा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध अध्याय३ पृष्ठ ५३-५६

(६) आभास और उपाधि दोनों को एकरूप अथवा उपाधि का आभासान्यत्र सत्य न मानने के कारण आभासवादियों ने अज्ञानादि उपाधि को आभास कहा है-**'अज्ञानादित्रयं प्रत्यागाभासं यद्यपिष्यते' । तथा प्रत्यग्ध्वान्तं चिदाभासं स्वकार्यनियतात्मकम्**[803] किन्तु प्रतिबिम्ब को बिम्बाभिन्न तथा औपाधिक परिच्छेद शून्य मानने वाले प्रतिबिम्बवादी अज्ञानादि को भी प्रतिबिम्ब नहीं कहते ।

(७) आभास के लिये गुण या प्रकार की अपेक्षा होती है और प्रतिबिम्ब के लिए द्रव्य की अपेक्षा होती है **-'आभासाय गुणस्य प्रकारस्य वापेक्षा प्रतिबिम्बनाय द्रव्यस्य'**[804]।

(5) आभास में उपाधि अपने गुण से उपमेय को समग्रतः व्याप्त करती है किन्तु प्रतिबिम्ब में उपाधि भागतः आच्छादित होती है-**'तथा आभास उपाधिः स्वगुणेन समयुपधेय व्याप्नोति प्रतिबिम्बने तु उपाधिनागेनाच्छादितो भवति**[805]।

प्रस्तुत आभासवाद के विभिन्न प्रस्थानों के आनुक्रमिक तथा समीक्षात्मक अध्ययन से केवल इतना ही नहीं स्पष्ट होता कि आभासवाद अनेक श्रुत्यन्तवेत्ताओं का प्रिय तथा अविलुप्त दर्शन है अपितु वे मान्यतायें भी व्यार्हत होती है, जिनके आधार पर आभासवाद समर्थक अद्वैत वेदान्तियों को भी प्रतिबिम्बवादी माना गया तथा आभासवाद प्रतिबिम्बवाद का अन्तर्गूढ़ बना रह गया। शंकराचार्य के पूर्व या उनके ग्रन्थों में आभास का सैद्धान्तिक रूप नहीं व्यवस्थित हो सका, यह दूसरी बात है । पर उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य के द्वारा सिद्धान्तबद्ध होने के पश्चात् से ही यह सर्वज्ञात्ममुनि प्रभृति आचार्यो की श्रद्धा का विषय बना और उन्होंने अपने ग्रन्थों के माध्यम से आभास प्रस्थान का समर्थन किया। इन आचार्यों के मतों में भी कतिपय विभिन्नतायें हैं (जिनका उल्लेख यथा स्थान कर दिया गया है) पर इन विभिन्नताओं के होने पर भी ग्रन्थोपन्यस्त सभी आचार्य आभास के मिथ्यात्व का एक स्वर से अनुमोदन करते हैं। सम्प्रति आभास प्रस्थान के उन व्यावर्तक अंगों का मूल्यांकन किया जा रहा है, जिनके कारण शांकराद्वैत में इसे विशिष्ट स्थान प्राप्त है ।

आभास प्रस्थान का सर्वप्रथम व्यावर्तक अंग है--ईशादि विषयान्त सकलकार्य-कारणात्मक जगत् का कारणाभास तथा कार्याभास की कोटि में व्यवस्थापन चिदाभास विशिष्ट जाड्य-मौढ्य-मांद्य-लक्षणा, अविद्या अविद्योपाधिक साक्षि ईश्वर- नियन्ता, अपंचीकृत भूतपंचकारत्र समष्टिबुद्धयुपाधिक-हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा और पंचीकृत भूत पंचकारब्ध समष्टि उपाध्युपहित विराट् प्रभृति कारणाभास है तथा अविद्योपादानक अनन्तबुद्धि, क्रिया-कारक- फलात्मक जडप्रपंच, सात्विक, राजस, तामस, व्यष्टि

---

[803] शास्त्र प्रकाशिका, अध्याय१, ब्राह्मण४, वार्तिक ५०८, पृष्ठ ५३६; बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक , अध्याय३, ब्राह्मण४, वार्तिक ३४१; वही, अध्याय३, ब्राह्मण३, वार्तिक ४१; वही, अध्याय ३ वार्तिक ७ वार्तिक ४३ तथा शास्त्र प्रकाशिका अध्याय१, ब्राह्मण४, वार्तिक ५०१ पृष्ठ ४३४

[804] सिद्धान्तबिन्दु उपोद्धात, अन्यंकर, अनुच्छेद २६, पृष्ठ१८ .

[805] सिद्धान्तबिन्दु उपोद्धात, अन्यंकर, अनुच्छेद २६, पृष्ठ१८.

बुद्धयुपाधि, सम्बन्धतया प्रतिभासमान अनेक जीव तथा सुषुप्त्यादि अवस्था भेद से जीव के प्राज्ञ-तेजस विश्व-संज्ञक भेद कार्याभास हैं। जो लोग अर्धजरतीय न्याय से जगत् को मिथ्या मान कर भी ईश्वरादि तथा जीवों को आभास भूत नहीं मानते वे इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ होंगे कि यदि जगत् मिथ्या है तो जगदन्तःपाति जीवादिक मिथ्या क्यों नहीं ? आभासवादियों ने 'यक्षानुरूपो बलि:' इस लौकिक न्याय के अनुसरण पूर्वक ईश्वर जगत् और जीव सभी को आभास मानकर इस जटिल प्रश्न का समाधान कर दिया है।

अनिर्वचनीयता को संसिद्धि में आभासवाद के दूसरे प्रमुख वैशिष्ट्य का परिचय प्राप्त होता है। अविद्या अनिर्वचनीय है, इस विषय में किसी भी अद्वैतवेदान्ती की विप्रतिपत्ति नहीं, पर अविद्या की अनिर्वचनीयता का रहस्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में आनन्दगिरि का यह कथन 'चिदाभासव्याप्तत्वमेव अविद्याया अनिर्वाच्यत्वम्' अद्वैत वेदान्त के अनिर्वचनीयतावाद के लिए अत्यन्त महत्व रहता है। चिदाभास के अभाव में अविद्या के कार्य न तो प्रोद्भासित हो सकते हैं और न लब्धसत्ताक, फिर उनकी अनिर्वचनीयता सिद्धि तो अत्यन्त असम्भव है। यह शंका कि आभास व्याप्ति ही अविद्या तथा उसके कार्यों को अनिर्वचनीय बनाती है अतः यदि आभास व्याप्ति न हुई तो अविद्यादि को अनिर्वचनीयता भंग हो सकती है उचित नहीं, क्योंकि आभास-वादियों ने स्पष्ट कह दिया है कि अज्ञान तथा उसके कार्य (अव्याकृत, व्याकृत तथा स्थूल) सभी अवस्थाओं में आभास उचित रहते हैं तथा आभास से इनका सहज सम्बन्ध सदैव बना रहता है; अतः कभी भी अनिर्वचनीयता की असिद्धि नहीं हो सकती।

जगत् कारणता के क्षेत्र में भी आभास प्रस्थान का अन्यतम व्यात्कर्तक वैशिष्ट्य संलक्षित होता है अवच्छेवादियों तथा प्रतिबिम्बवादियों का अवच्छेद या प्रतिबिम्ब कारणता के रङ्गमन्च पर उस भूमिका का निर्वाह नहीं करता जो आभासवादियों का आभास करता है आभास प्रस्थान के अनुसार ईश्वर स्वयं कारणाभास है और यह कारणभास ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा हानि का प्रयोजक है। प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद की दृष्टि में चैतन्य एवं अविद्या यही दो जगत्कारणता के मुख्य तत्व हैं पर आभासवाद के अनुसार कूटस्थ, कूटस्थाभास तथा कूटस्थ मोह तीन तत्व हैं। वस्तुतः अविद्यागत कूटस्थाभास जिसे ईश्वर या कारणभास को संज्ञा दी जाती है, वहीं अनन्त भेदों के रूप में प्रतिभासमान जगत् का निदान है। कूटस्थ को कारणता का व्यपदेश तो उसके आभास विविक्तता प्रतीयमान होने के कारण कर दिया है। अज्ञानादि विषयान्त सभी को आभास परिसर में समाकलित कर देने वाली आभास की इस विस्तृत दृष्टि का सामंजस्य अवच्छेद या प्रतिबिम्ब पक्षों में नहीं प्राप्त हो सकता; भले ही इन प्रस्थानों में अवच्छेद या प्रतिबिम्ब आनुषर्गिक रूप से कारणता में उपयोगी सिद्ध हो जायें।

अद्वितीय अखंडैकरस सच्चिदानन्दैकतान आत्मतत्त्व से जीव तथा जगत् की अद्वैत सिद्धि में आभासवादियों ने जिस दृष्टिकोण को अपनाया है, उसे आभासवाद का अन्तिम ध्यावर्तक अंग कहा

जा सकता है। इस दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के पूर्व आभास प्रस्थान की अनुपपत्ति प्रकाशिनी दो शंकाओं का उल्लेख आवश्यक है -

(१) यदि आभासात्मक जीव जगत् मिथ्या या अनिर्वचनीय है तो 'स एष इह प्रविष्टः' इत्यादि अभेदवादिनी श्रुतियों से आभास प्रस्थान का विरोध होगा। तथा

(२) यदि जीव को ब्रह्म से अभेद माना जाय तो प्रतिबिम्ब प्रस्थान से आभास प्रस्थान के व्यावर्तन की आवश्यकता नहीं।

आभासवाद के लिए इन दोनों शंकाओं का आभास से अधिक महत्व नहीं, क्योंकि इस प्रस्थान में जीव जगत् सभी स्वरूपतः मिथ्या होते हुए भी लक्ष्यत्वेन आत्मा से अभिन्न है। अतः श्रुतियों से आभास प्रस्थान का कोई विरोध नहीं। जीवादिक के प्रतिषेध से भी आभास के स्वतंत्र प्रस्थान होने में कोई विरोध नहीं, ब्रह्मवस्त्वन्तरत्व- क्योंकि जैसे शुक्तिरजत अपने भाव तथा अभाव दोनों क्षणों में शुक्ति से अतिरिक्त नहीं, उसी प्रकार चिदाभासात्मक जीवादि भी भाव तथा अभाव दोनों अवस्थाओं में आत्मारिक्त नही हो सकते।

भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान के समीक्षात्मक अध्ययन के प्रसंग में हमने यह देखा कि भामतीप्रस्थान के अनेक सिद्धान्तों पर मण्डन मिश्र का प्रभाव पड़ा है, जबकि विवरण प्रस्थान के सिद्धान्तों पर सुरेश्वाचार्य का। जैसा हम देख चुके हैं मण्डन मिश्र ने अविद्या के आश्रय और विषय में भेद माना है। वे जीव को अविद्या का आश्रय तथा ब्रह्म को अविद्या का विषय मानते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी जीव को अविद्या का आश्रय तथा ब्रह्म को अविद्या का विषय माना है। मण्डन मिश्र ने ब्रह्म के कल्पनाशून्य होने में उसकी विद्यात्मकता को कारण बताया है। वाचस्पति मिश्र ने भी ब्रह्म के अज्ञानाश्रयत्व का खण्डन उसको विद्यात्मकता के आधार पर ही किया है। जीव को अविद्या का आश्रय मानने में जो इतरेतराश्रयत्वरूप दोष उत्पन्न होता हैं उसका निराकरण मण्डन मिश्र ने बीज और अंकुर के दृष्टान्त से किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी इसी दृष्टान्त के आधार पर उपर्युक्त दोष का निराकरण किया है। किन्तु सुरेश्वराचार्य अविद्या के आश्रय तथा विषय के भेद को नहीं मानते। इनके मत में ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है। ब्रह्म और अविद्या में आश्रयाश्रयी तथा विषयविषयी भाव सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अनादि एवं नैसर्गिक है। अविद्या आत्मा की सर्जनात्मिका शक्ति है अतः आत्मा अविद्या से सदैव सम्बद्ध रहता है[806]। विवरण प्रस्थान में भी अविद्या का आश्रय और विषय ब्रह्म को ही माना गया है तथा अविद्या के आश्रय और विषय के भेद का निराकरण किया गया है। विवरणकार का कथन है कि अविद्या आश्रय और विषय के भेद की अपेक्षा नहीं रखती। जैसे अन्धकार अपने आश्रयभूत प्रदेश का आवरण स्वयं करता है वैसे ही अविद्या भी अपने आश्रय के आवरण में

[806] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक , अध्याय४, ब्राह्मण ३ वार्तिक १७८४-८५

समर्थ है। चित्सुखीकार का कथन है कि अविद्या के सम्बन्ध के बिना ईश्वर का सर्वज्ञत्व भी संभव न हो सकेगा। शंकराचार्य ने भी मायोपाधि से युक्त ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को ही सर्वज्ञत्व आदि लक्षण वाला कहा है - **"मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः"।**

मण्डन मिश्र ने अनेक जीववाद के समर्थन के निमित्त मूलाविद्या के नानात्व का प्रतिपादन किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी अनेकजीववाद के समर्थन के लिये मूलाविद्या के नानात्व को स्वीकार किया है। मूला- विद्या के नानात्व के समर्थन में उनका यह तर्क है कि यदि मूलाविद्या एक होती तो एक जीव में विद्या का उदय हो जाने से समस्त जीवों की अविद्या दूर हो जाती और सभी जीव मुक्त हो जाते। किन्तु ऐसा होता नहीं है जिस जीव में विद्या उत्पन्न होती है उसी में अविद्या नष्ट होती है जीवान्तर की नहीं; क्योंकि भिन्न अधिकरण में रहने वाली विद्या और अविद्या में विरोध नहीं है- **तेन यस्यैव जीवस्य विद्योत्पन्ना तस्यैवाविद्यापनीयते न जीवान्तरस्य; भिन्ना-धिकरणयोर्विद्याविद्ययोरविरोधात्।**[807]। वे कहते हैं कि अविद्या के नानात्व होने पर भी अविद्यात्वसामान्य से इसके लिये किया गया एकत्व का प्रयोग औपचारिक है - **अविद्यात्वमात्रेण च एकत्वोपचारः,अव्यक्तमिति च अव्याकृतमिति च।**[808]इसके विपरीत विवरणकार मूलाविद्या के नानात्व पक्ष को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने मूलाविद्या के एकत्व को ही माना है। यद्यपि मूलाज्ञान एक ही है, तथापि इसकी अवस्थाएँ अनेक हैं। मूलाज्ञान के अवस्था भेद ही अनिर्वचनीय रजतादि के उपादान बनते हैं, तथा शुक्तिकादि के ज्ञान से निवृत्त हो जाते हैं - **मूलाज्ञानस्यैव अवस्थाभेदाः रजताश्रुपादानानि।**
शुक्तिकादिज्ञानैः सहाध्यासेन निवर्तन्ते इति कल्प्यताम्।[809] मूलाज्ञान को एक मानने पर भी प्रति जीव में रहने वाले अज्ञान के अवस्था भेद को मानकर (अथवा मूलाविद्या को सांश मानकर) विवरण प्रस्थान में जीवों के बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था का उपपादन किया गया है[810]।
वस्तुतः अविद्या के नानात्व को माने बिना जीव के नानात्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। जीव के नानात्व के उपपादन के लिये अविद्या के नानात्व को मानना ही होगा। भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान दोनों में जीव के नानात्व को स्वीकार किया गया है। भामतीकार ने जीव के नानात्व के उपपादन के लिये मण्डन मिश्र के समान अविद्या के नानात्व को स्वीकार किया है। किन्तु विवरणकार में मूलाविद्या के एकत्व को स्वीकार करते हुए भी उसके अवस्था भेद को स्वीकार किया है। इस प्रकार दोनों ही प्रस्थानों में जीव के नानात्व के उपपादन के लिये अविद्या के नानात्व (भेद) को किसी न किसी तरह माना ही गया है।

---

[807] भामती, १/४/३, पृष्ठ ३७७-७८
[808] भामती, १/४/३, पृष्ठ ३७७-७८
[809] पंचपादिका विवरण, पृष्ठ ९८-९९
[810] सिद्धान्त लेश्य संग्रह.

मण्डन मिश्र शाब्द ज्ञान को सम्बन्धात्मक एवं परोक्षात्मक मानते हैं। उनके मत में "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य से ज्ञान ब्रह्म साक्षात्कार में समर्थ नहीं है। श्रवणानन्तर मनन तथा प्रख्यान के द्वारा ही शाब्दज्ञान को परोक्षता तथा सम्बन्धात्मकता दूर होती है और ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव होता है। उनके मत में "विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत" यह श्रुति इसी सिद्धान्त का समर्थक है तथा "ततस्तु तं पश्यते निष्कलंध्यायमानः" (मुण्डकोपनिषद् ३।१।८) यह श्रुति भी प्रत्यगाभ्यासरूप प्रसंख्यान या ध्यान को ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण बता रही है।

वाचस्पति मिश्र ने भी ध्यान को ही साक्षात्कार का कारण माना है - **"ध्यानस्य हि साक्षात्कारः फलम् साक्षात्कारश्चौत्सर्गतः तत्वविषयः" तथा ध्यानाभ्यास-परिपाकेन साक्षात्कारो विज्ञानम्,** [811]**।** वे कल्पतरुकार अमलानन्द का कथन है कि वाचस्पति मिश्र ध्यान से उत्पन्न प्रमा को ही शास्त्र दृष्टि मानते है और बादरायण का "अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (ब्रह्म सूत्र ३१२।२४) यह सूत्र भी इस पक्ष का समर्थन कर रहा है **- अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजः प्रमा। शास्त्रदृष्टिर्मता तु वेत्ति वाचस्पति परः** [812]। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने साक्षात्कार को ध्यान का फल बताते हुए मण्डन मिश्र के प्रसंख्यान विषयक सिद्धान्त का समर्थन किया और प्रसंख्यान को ब्रह्म-साक्षात्कार में मन का सहकारी कारण स्वीकार किया है –

न चैष साक्षात्कारो शब्दस्य प्रमाणस्य फलम्।
अपितु प्रत्यक्षस्य तस्यैव तत्फलत्वनियमात्।
अन्यथा कुटजबीजादपि वटांकुरोत्पत्तिप्रसंगात्॥ [813]।

उनका कथन है कि ब्रह्मसाक्षात्कार आगम (श्रुति-शब्द) और युक्ति का फल नहीं अपितु युक्त्यागमार्थं ज्ञानाहित संस्कार से मुक्त चित् ही ब्रह्मसाक्षात्कार में समर्थ है –

सत्यं न ब्रह्मसाक्षात्कारः आगमयुक्तितफलमपितु
चित्तमेव ब्रह्मसाक्षात्कारवतीं बुद्धिवृत्ति समाधत्ते।[814]

सुरेश्वराचार्य ने मण्डन मिश्र के इस मत का तीव्र खण्डन किया है। नैष्कर्म्यसिद्धि तथा वार्तिक ग्रन्थों में उन्होंने ब्रह्मसाक्षात्कार को उपनिषद् वाक्यजन्य सिद्ध किया है। "तं त्वौपनिषदं पुरुषम्" (बृ. उ. ३।९।२६) इस श्रुति तथा "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्रह्म सूत्र१।१।३) इस सूत्र के आधार पर ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति उपनिषद् वाक्य को करण माना है, मन को नहीं - **तं त्वौपनिषद धीरा ब्रह्मात्मानं प्रचक्षते**।[815]

---

[811] भामती, पृष्ठ २२० भामती, पृष्ठ २२२ .

[812] वेदान्त कल्पतरु परिमल १।१।२८, पृष्ठ २१८

[813] भामती १।१।१, पृष्ठ ५५-५७

[814] भामती ४।१।२, पृष्ठ ९३२

[815] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक , ३।९।११६

विवरणकार प्रकाशात्मयति ने भी आत्मसाक्षात्कार का कारण उपनिषद् वाक्य (शब्द) को ही माना है। उनका कथन है कि "तं-त्वौपनिषदम् पुरुषम्" इस श्रुति में "औपनिषद्" शब्द में प्रयुक्त तद्धित प्रत्यय के द्वारा शब्द की ब्रह्मावगति हेतुता उपपन्न है - **एवं च "तं त्वौपनिषदम्" इति तद्धितप्रत्ययेन ब्रह्मावगतिहेतुत्वं शब्दस्य दर्शितमुपपन्न भवति, अपरोक्षावगतेरेव सम्यगवगतित्वात्**[816]। यहाँ यह शंका होती है कि उपनिषद् वाक्य के परोक्ष प्रत्यय के हेतु होने पर भी 'औपनिषद' शब्द में तद्धित प्रत्यय की संगति हो सकती है, अतः इससे शब्द की अपरोक्ष ज्ञान जनकता कैसे सिद्ध की जा सकती है। इस शंका के समाधान में विवरण के टीकाकार चित्सुखाचार्य का कथन है कि अपरोक्ष स्वभाव वस्तु (ब्रह्म) में परोक्ष ज्ञान भ्रम है, अतः उपनिषद् वाक्य रूप (शब्द) के अपरोक्षज्ञान जनक होने पर उसके अप्रामाण्य की संभावना होगी - **अपरोक्षस्वभावे वस्तुनि परोक्षज्ञानस्य विभ्रमत्वात् तज्जनकत्वे शब्दस्याप्रामाण्यं स्यादित्यर्थः** [817]। ब्रह्म के अपरोक्ष स्वभाव होने के कारण ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है। अतएव उपनिषद् वाक्य (शब्द) का प्रामाण्य ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान की उत्पन्न करने में ही माना जा सकता है। यहाँ यह शंका भी उचित नहीं कि शब्द में परोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने की ही शक्ति है, अपरोक्ष ज्ञान की नहीं कि "दशमस्त्वमसि" इत्यादि वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति दृष्ट है। ज्ञान का अपरोक्षता का कारण उसकी इन्द्रियजन्यता नहीं अपितु उसके विषय का स्वभाव है । अपरोक्षवस्तुविषयका अपरोक्ष ही होता | ज्ञान का अपरोक्ष करण स्वभावप्रयुक्त नही अपितु "विषय-स्वभावप्रयुक्त" है। इस शंका के समाधान कि यदि ज्ञान का अपक्षुत्व विषयस्वभावप्रयुक्त माना जाय तो परोक्ष घटादि पदार्थों का अपरोक्ष ज्ञान कैसे संभव होगा, नृसिंहाश्रमाचार्य का कथन है कि घटादि अपरोक्ष पदार्थों का अपरोक्षत्व अपरोक्षसंवित् के साथ तादात्म्य के कारण होता है - **अर्थस्य घटादेश्चानपरोक्षस्वभावस्याप्यपरोक्षसंवित्तादात्म्यादपरोक्षत्वम्**[818]। वस्तुतः अपरोक्षसंवित् के साथ तादात्म्य सम्बन्ध के बिना घटादि द्रव्यों के अपरोक्षस्य की समुचित व्याख्या संभव नहीं है।

इस प्रकार हम देखते है कि ब्रह्मसाक्षात्कार के कारण के प्रश्न पर वाचस्पति मिश्र मण्डन मिश्र के विचारों से प्रभावित है और वे शब्द को अपरोक्ष ज्ञान का कारण नहीं मानते। इसके विपरीत विवरणकार प्रकाशात्मयति, सुरेश्वराचार्य के समान बाद में भी अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति स्वीकार करते हैं और तदनुसार ब्रह्मसाक्षात्कार का करण प्रसंख्यान या चित्त को न मानकर शब्द को ही मानते हैं।

यद्यपि श्रवण, मनन और निदिध्यासन को सभी अद्वैत-वेदान्तियों ने ब्रह्मसाक्षात्कार का अन्तरंग साधन स्वीकार किया है, तथापि इनके अंगागिंत्व के संबन्ध में दोनों प्रस्थानों में मतभेद उपलब्ध होता है । भामतीकार ने ब्रह्म-साक्षात्कार में निदिध्यासन को अंगी (प्रधान) माना है और श्रवण तथा मनन को

---

[816] पंचपादिका विवरण, पृष्ठ ४०८

[817] विवरण तात्पर्य दीपिका, पृष्ठ ४०९

[818] विवरण भाव प्रकाशिका, पृष्ठ ४०५

निदिध्यासन का अंग स्वीकार किया है। इसके विपरीत विवरणकार ने श्रवण को अंगी तथा मनन और निदिध्यासन को इसका अंग माना है - **मनन निदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यऽगभूताभ्यां सह श्रवणं नाम अंगी विधीयते। तथा तथा मनन निदिध्यासनयोश्च श्रयणाऽगत्वमुत्तरत्र वक्ष्याम:**[819] । सुरेश्वराचार्य ने भी ब्रह्मसाक्षात्कार में श्रवण को ही अंगी माना है। उनके मत में मनन और प्रसंख्यान की आवश्यकता तो उन निम्न कोटि के व्यक्तियों के लिये है जो महावाक्य श्रवण मात्र से ब्रह्मसाक्षात्कार में समर्थ नहीं है। संक्षेपशारीरककार ने ब्रह्मसाक्षात्कार में श्रवण को ही प्रधान माना है। खण्डनखण्डखाद्य चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थों में भी श्रवण को ही ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रधान कारण माना गया है। मधुसूदन सरस्वती ने श्रवण से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति को संभव बताया है। वेदान्तकल्पलतिका, सिद्धान्तबिन्दु तथा अद्वैतसिद्धि में उन्होंने बड़े ऊहापोह के साथ इस मत का समर्थन किया है कि शब्द अपरोक्ष ज्ञान का जनक हो सकता है।

हम देख चुके हैं कि मण्डन मिश्र के मत में महावाक्य-श्रवण से ब्रह्म- साक्षात्कार संभव नहीं और उन्होंने प्रसंख्यान या ध्यान को ही ब्रह्म- साक्षात्कार का कारण माना है। भामतीकार भी निदिध्यासन को ही ब्रह्म-साक्षात्कार में प्रधान साधन मानते हैं और श्रवण तथा मनन को उन्होंने निदिध्यासन का अंग माना है। इसके विपरीत सुरेश्वराचार्य ने श्रवण को ब्रह्म साक्षात्कार में प्रधान कारण बताया है। विवरणकार तथा उनके अनुयायियों ने भी ऋण को ही अंगी (प्रधान) माना है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भामतीकार जहाँ मण्डन मिश्र के विचारों से प्रभावित हुये है तो वहाँ विवरणकार पर सुरेश्वराचार्य के विचारों की छाप स्पष्ट रूप से पड़ी है। विवरणकार प्रकाशात्मयती अपने अनेक विचारों के लिये सुरेश्वराचार्य के ऋणी है, यह बात तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम यह देखते है कि उपर्युक्त अनेक प्रश्नों पर पंचपादिकाकार पद्मपाद मौन है जिनके ग्रन्थ पर विवरणकार ने अपना "विवरण" प्रस्तुत किया है।

पंचपादिकाकार को विवरणकार द्वारा प्रतिपादित प्रतिबिम्बवाद में भी आग्रह नहीं है। उन्होंने जीव के स्वरूप को समझाने के लिये शंकराचार्य द्वारा प्रदत्त सभी दृष्टान्तों की उपयोगिता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। उनका कथन है कि मुखचन्द्रादि प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का उपयोग जहाँ प्रतिबिम्ब रूप जीव के ब्रह्म से अभेद एवं सत्यत्व के प्रदर्शन के लिये हुआ है, वहाँ घटाकाशादि दृष्टान्तों की उपयोगिता पुरुष की श्रुति समर्थित असंगता के प्रतिपादन में है। स्फटिकलौहित्य, रज्जुसर्प आदि आभाससूचक दृष्टान्तों का प्रयोग जीव के इदमंश प्रयुक्त मिथ्यात्व के प्रदर्शन के लिये किया है।[820]

---

[819] पंचपादिका विवरण, पृष्ठ ५३

[820] पंचपादिका पृष्ठ ११३; तथा विवरण प्रमेय संग्रह पृष्ठ ७०५-६

पंचपादिकाकार ने जीव के स्वरूप को समझाने के लिये दिये गये सभी दृष्टान्तों को दृष्टान्तमात्र ही माना है। स्वयं शंकराचार्य ने भी इन्हें दृष्टान्तमात्र कहा है और "वृद्धिह्रास[821]" इस सूत्र के भाष्य में यह स्पष्ट कर दिया है कि दृष्टान्त का उपयोग किसी विशेष प्रयोजन के निमित्त ही किया जाता है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में किसी विवक्षित सारूप्य का प्रदर्शन ही अभीष्ट होता है, पूर्ण सारूप्य का प्रदर्शन नहीं। यदि दोनों में पूर्ण सारूप्य हो जाय तब तो वे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक ही न रह सकें - **न हि दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकयोः क्वचित् कंचित् विवक्षिताशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भावोच्छेद एव स्यात्।**[822] भाष्यकार के तात्पर्य को भली-भाँति समझते हुये पद्मपाद ने भी इन्हें इसी रूप में स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि इन दृष्टान्तों का प्रयोजन श्रुति, तन्मूलक न्याय तथा अनुभव से सिद्ध आत्मा के सम्बन्ध में आशंकित असंभावना का परिहार तथा संभावना (बुद्धिसाम्य) का प्रदर्शनमात्र है, वस्तु की साक्षात् सिद्धि नहीं - **एतच्च सर्वमुदाहरणजातं श्रुतितन्न्यायानुभवसिद्धये असंभावना-परिहाराय बुद्धिसाम्यार्थं च, न वस्तुन एव साक्षात् सिद्धये**[823]।

किन्तु शंकराचार्य तथा उनके शिष्य पद्मपादाचार्य के इस स्पष्टीकरण के बाद भी उपर्युक्त दृष्टान्तों के आधार पर शंकरोत्तर वेदान्त में जीव के सम्बन्ध में आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद का जन्म हुआ तथा परवर्ती आचार्यों ने परपक्ष के खण्डन और स्वपक्ष के समर्थन में व्यर्थ ही अपनी सारी शक्ति लगा दी। अवच्छेदवाद के समर्थकों ने प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध यह कहा कि चैतन्य के नीरुप एवं अमूर्त होने के कारण तथा अन्तःकरणरूप उपाधि के भी नीरूप एवं अमूर्त होने के कारण अन्तःकरण में चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है। किन्तु विचार करने पर यह दोष अवच्छेदवाद भी समान रूप से प्रसक्त होता है। नीरूप एवं अमूर्त अन्तःकरण के द्वारा अवच्छेद (Limitation) भी कैसे माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में घटाकाश का दृष्टान्त संगत नहीं है क्योंकि घटरूप उपाधि अन्तःकरण के समान न तो नीरूप है और न ही अमूर्त। अतः घटाकाश के दृष्टान्त से अन्तःकरण के द्वारा नीरूप चैतन्य का अवच्छेद सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में एक दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वस्तुतः घटरूप उपाधि से अनवच्छिन्न आकाश अवच्छिन्न नहीं हो जाता। उसके अवच्छिन्न रूप प्रतीत होने कारण हमारी चक्षुरिन्द्रिय का असामर्थ्य ही है। यदि घट से हमारी चक्षुरिन्द्रिय प्रतिहत न हो और जिस प्रकार एक्सरेज (X-Rays) अप्रतिहत रूप से शरीर में प्रविष्ट हो कर उसके आन्तरिक रूप का प्रकाशन कर देती हैं, उसी तरह यह घट के भीतर प्रविष्ट होकर उसके आन्तरिक भागों को भी देख पाती ही तो घटाकाश तथा महाकाश का भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। यह

[821] ब्रह्म सूत्र ३।२।२०

[822] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य ३।२।२०; पृष्ठ ३५९

[823] पंचपादिका पृष्ठ ११३

भेद हमारी चक्षुरिन्द्रिय की असमर्थता का ही परिणाम है, वास्तविक नहीं। वास्तविक दृष्टि से तो घट के द्वारा अनवच्छिन्न आकाश का अवच्छेद सम्भव ही नहीं है। अतः घटाकाश आदि अवच्छेदपरक इष्टान्तों को भी दृष्टान्त रूप में ही समझा जाना उचित है।

इसी सम्बन्ध में एक दूसरा प्रश्न जो दोनों स्थानों के बीच विवाद का विषय बना है, वह है अविद्या के आश्रय का प्रश्न। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने मंडन मिश्र का अनुसरण करते हुए जीव को ही अविद्या का आश्रय माना है तथा ब्रह्म के अविद्याश्रयत्व का इस आधार पर खण्डन किया है कि विद्यास्वरूप ब्रह्म अविद्या का आश्रय कैसे बन सकता है - **विद्यास्वरूपे ब्रह्मणि तदनुपपत्ते**[824]। दूसरी ओर विवरणकार तथा उनके अनुयायियों ने जीव के अविद्याश्रयत्व पक्ष के खण्डन, यह युक्ति प्रदर्शित की है कि इस मत के अनुसार दृष्टिसृष्टिवाद की प्रसक्ति होती है तथा जगत् की रचना के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं रह जाती। जीव के अविद्याश्रयत्व पक्ष में यह मानना होगा कि जीव ही अपनी अविद्या के द्वारा जगत् की कल्पना करता है, ईश्वर जगत् की सृष्टि नहीं करता। जीव को अविद्या का आश्रय मानने वाले मण्डन मिश्र ने वस्तुतः जीव को ही अपनी अविद्या के कारण प्रपंचाकार भ्रम का कारण माना है और उन्होंने ब्रह्म की जगत्कारणता का खण्डन किया है **- ब्रह्मसिद्धिकारारस्त्वेवमाहुः जीवा एव स्वाविद्यया प्रत्येकं प्रपंचाकारेण ब्रह्मणि विभ्राम्यन्ति तु मायाविशिष्टं बिम्बरूपं वा न जगत्कारणम्**[825]। ब्रह्मानन्द सरस्वती ने वेदान्त-मुक्तावली में तथा मधुसूदन सरस्वती ने वेदान्तकल्पलतिका तथा सिद्धान्तबिन्दु में जीव के अज्ञानाश्रयत्व का यही अनिवार्य परिणाम माना है। सिद्धान्तबिन्दु की टीका में वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर कहते है कि वाचस्पतिमिश्र के मत में जीव ही अविद्या का आश्रय होने से स्वाप्निक सृष्टि के समान जगत की कल्पना करता है। परिणामतः दृष्टिसृष्टिवाद की प्रसक्ति होती है तथा प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक सत्ता का भेद मिट जाता है **- अविद्याश्रयत्वाभावाच्च नेशो जगत् सृजति किं तु जीव एवं स्वाश्रितविद्यया जगत् प्रकल्पयति स्वाप्निकहस्त्यादि। तथा च अर्थादेव दृष्टिसृष्टिवादः फलितो भवति।**[826]। इसी तरह प्रो० एस० के० दास ने भी वाचस्पति मिश्र के मत में ईश्वर का कोई स्थान नहीं माना है। इस सम्बन्ध में वे लिखते है वाचस्पति मिश्र के जीव के अविद्याश्रयत्व के सिद्धान्त के परिणामस्वरूप जिस विज्ञानवाद की प्रसक्ति होती है उसमें वस्तुतः ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है[827]। वास्पति मिश्र के सम्बन्ध में की गयी इसी प्रकार की आलोचना का उल्लेख करते हुए वेदान्तकल्पतरूकार अमलानन्द

[824] भामती १।४।३, पृष्ठ ३७८

[825] विवरण प्रमेय संग्रह, पृष्ठ ७३६

[826] बिन्दुप्रपात पृष्ठ ४८

[827] A study of the Vedanta, P. 322.

कहते है कि यदि जीव को अविद्या का आश्रय माना जाय तो जीव को ही जगत् का कारण मानना होगा और ऐसी स्थिति में वेदान्त वाक्यों का समन्वय ब्रह्म में न मान कर जीव में ही मानना संगत होगा - **जीवाज्जज्ञे जगत्सर्व सकारणमिति ब्रुवन् । क्षिपन् समन्वयं जीवो न लेजे वाक्पतिः कथम् ?**[828]किन्तु प्रश्न है कि क्या वाचस्पति मिश्र "यत्तो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि उपनिषद् वाक्यों का जीव में मानने के लिए तैयार है और क्या वे प्रतिभासिक और व्यावहारिक सत्ता के भेद को मिटाकर दृष्टवाद को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है। वाचस्पति मिश्र के लिए ऐसा करना संभव नहीं है, क्योंकि इससे शांकर वेदान्त के आधारभूत सिद्धान्तों पर ही कुठाराघात हो जाएगा । अतएव उनके सामने यह एक जटिल समस्या है कि ये जीव की अविद्या का आश्रय मानते हुये भी किस प्रकार ईश्वर को जगत् का स्रष्टा मान सकें । परिमलकार ने इस समस्या का समाधान करते हुए कहा है कि यद्यपि वाचस्पति मिश्र के मत में अविद्या का नाम जीव है, ब्रह्म नहीं, तथापि उसका अधिष्ठान ब्रह्म है, जीव नहीं। जैसे रजतादिविवर्तों का अधिष्ठान शुक्तिकादि है, उसी प्रकार जीवाविद्यादिकः सकल विवर्तों का अधिष्ठान ब्रह्म है। इसी अधिष्ठानभूत ब्रह्म में ही वेदान्त वाक्यों का समन्वय उपपन्न है, जीव में नहीं –

अधिष्ठानं विवर्तानामाश्रयो ब्रह्म शुक्तिवत् ।

जीवाविद्यादिकानां स्यादिति सर्वमनाकुलम् ॥[829] भामतीकार के मत में अविद्या का अधिष्ठान या विषय ही रजतादि विवर्त का उपादान है, अविद्या नहीं। जैसे अहि ब्रह्म का अधिष्ठान रज्जु है, वैसे ही प्रपंचविभ्रम का अधिष्ठान जीवाश्रित अविद्या का विषयीभूत ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है तथा जैसे अहिभ्रम का उपादानकारण रज्जु है, वैसे ही प्रपंचभ्रम का उपादान कारण ईश्वर है - **प्रपंचविभ्रमम य होश्वराधिष्ठानत्वमहिविभ्रमस्येव रज्जवधिष्ठानत्वम् । तेन यथाऽहिविभ्रमो रज्जुपादानः, एवं प्रपन्चविभ्रम ईश्वरोपादानः**[830]। इस प्रकार भामतीकार ने जीव को अविद्या का आश्रय (आधार) मानते हुए भी अविद्या के विषयीभूत ब्रह्म या ईश्वर को ही जगत् का उपादान कारण स्वीकार किया है।

किन्तु संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि ने अविद्या के आश्रय तथा विषय के भेद का निराकरण किया है - **आश्रयत्वविषयत्वभागिन निर्विभगचितिरेव केवला ।**

पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः[831]। वे कहते हैं कि केवल निर्विभाग- चिति ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है। जब पूर्वसिद्ध अविद्या का न तो आश्रय बन सकता है और न विषय | सुरेश्वराचार्य भी ब्रह्म को हो अविद्या का आश्रय तथा विषय दोनों मानते हैं। इनके मत में अविद्या आत्मा की सर्जनात्मक शक्ति है अतः आत्मा अविद्या से संबद्ध है[832]। किन्तु आत्मा का

---

[828] वेदान्त कल्पतरु परिमल १।४।१६, पृष्ठ ४०४

[829] वेदान्त कल्पतरु परिमल १।४।१६, पृष्ठ ४०४

[830] भामती १।४।३, पृष्ठ ३७८

[831] संक्षेपशारीरक १।३१९

[832] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक ४।३।१७८४-८५

अविद्या के साथ सम्बन्ध आभासात्मक है। परमार्थतः निःसंग कूटस्थ आत्मा का संसर्ग, विकारी अनात्म अविद्या के साथ असम्भव है[833]। अतएव जैसे घृतपिण्ड प्रदीप्त वह्नि का आलिङ्गन निराकृत रूप से ही करता है वैसे ही अविद्या भी निराकृत रूप से ही प्रत्यगात्मा का आलिंगन करती है[834]।

विवरणकार ने भी ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों माना है। उनका कथन है कि अविद्या आश्रय और विषय के भेद की अपेक्षा नहीं करती अपितु एक ही वस्तु में आश्रयत्व तथा आवरणत्व रूप दोनों कार्यो का सम्पादन करती है। जैसे अन्धकार अपने आश्रयभूत का प्रवेश आवरण करता है वैसे ही अविद्या अपने आश्रय के आवरण में समर्थ है - **न तावदज्ञानमाश्रय सापेक्षम् । किन्तु एकस्मिन्नेव वस्तुन्याश्रयत्वमावरणं चेती कृत्यद्वयं संपादयति**[835] और भेद को मानना उचित नहीं है।

किन्तु यहाँ यह शंका होती है कि अविद्या के आश्रयविषय भेद सापेक्ष न होने पर भी स्वयं प्रकाश ब्रह्म को अविद्या का आश्रय कैसे माना जा सकता है। अविद्या और विद्या अन्धकार और प्रकाश के समान परस्पर विरोधी है, अतः ये दोनों एक आश्रय में नहीं रह सकते। यह शंका भी वास्तव में एक कठिन शंका है जिसका सन्तोष जनक समाधान ढूंढ निकालना आसान नहीं है। इस शंका का समाधान करते हुए विवरणभाव प्रकाशिका में नृसिंहाश्रम कहते हैं कि यद्यपि अज्ञान चैतन्य का विरोधी अनुभूत होता है, तथापि तत्तदाकार रूप में अपरोक्षवृत्यभिव्यक्त चैतन्य ही चैतन्यात्मना अज्ञान का निवर्तक है; क्योंकि अपरोक्षवृत्ति ही अज्ञाननिवृत्ति के प्रतिबन्धक आवरण का विरोधी है। अतएव स्वयंप्रकाश चैतन्य (यहाँ) भी अपरोक्षवृत्ति के अभाव में अज्ञान का साधक तथा अविरोधी होने से अज्ञान का आश्रय हो सकता है[836]।

अविद्या के सम्बन्ध के कारण ही ब्रह्म जगत् का कारण तथा सर्वज्ञत्व आदि लक्षण से युक्त होना है क्योंकि निर्गुण एवं निरुपाधिक ब्रह्म में सर्वज्ञत्व तथा जगत्कर्तृत्व आदि सम्भव नहीं है- **मायोपाधिर्जगद्योनिःसर्वज्ञत्वादिलक्षणः** । चित्सुखीकार कहते हैं कि अविद्या के सम्बन्ध के बिना ईश्वर में सर्वज्ञत्व का उपपादन नहीं किया जा सकता - **स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा भवेत् । तच्चोभयं विनाऽविद्यासम्बन्धं नैव सिध्यति**[837]।

---

[833] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक १।२।३०५

[834] बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक ४।३। ११८०

[835] पंचपादिका विवरण, २२०-११

[836]विवरण भाव प्रकाशिका, पृष्ठ २११-१२

[837] चि० सू० त० प्र०, पृष्ठ ५७८

इस तरह हम देखते है कि ब्रह्म का अविद्या से सम्बन्ध माने बिना इस नामरूपात्मक प्रपंच की व्याख्या सम्भव नहीं ; क्योंकि निर्गुण एवं निरुपाधिक ब्रह्म का इस प्रपंच से कोई सम्बन्ध नहीं ।किन्तु दूसरी और अविद्या के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध मानने में यह कठिनाई है कि विद्या स्वभाव ब्रह्म का अविद्या से सम्बन्ध कैसे हो सकता है।

इस कठिनाई से बचने के लिए शंकरोत्तर वेदान्त में माया और अविद्या के भेद की कल्पना की गयी है। यद्यपि स्वयं शंकराचार्य ने इनमें स्पष्ट रूप से भेद नहीं किया है और दोनों शब्दों को पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया है तथापि उनके भाष्य ग्रन्थों में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ माया और अविद्या के भेद का संकेत उपलब्ध होता है। छान्दोग्योपनिषद् के भाष्य में उन्होंने ईश्वर को विशुद्ध उपाधि से संबद्ध बतलाया है[838]। ब्रह्म सूत्र भाष्य में भी उन्होंने माया को ईश्वर की शक्ति कहा है - **सर्वज्ञस्य ईश्वरस्य मायाशक्ति: प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते**[839]। इन संकेतों के आधार पर परवर्ती विचारकों ने अविद्या और माया के भेद का विशदरूप से प्रतिपादन किया है। विद्यारण्य ने ईश्वर और जीव का भेद माया और अविद्या के भेद को मानकर ही किया है। उन्होंने माया में विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता मानी है, तथा अविद्या में सत्त्वगुण को रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत माना है - **सत्यशुद्धविशुद्धियां माया‌विद्ये च ते मते**[840]। कुछ दूसरे विचारको ने अविद्या में आवरणशक्ति की प्रधानता मानी है तथा माया में विशेष- शक्ति की । कहीं-कहीं सामष्टिक अज्ञान को माया तथा व्यष्टिगत अज्ञान को अविद्या माना गया है। इस प्रकार शंकरोत्तर वेदान्त में पूर्वप्रदर्शित गतिरोध से बचने के लिए माया तथा अविद्या के भेद को स्वीकार कर लिया गया है। जहाँ माया और अविद्या के भेद को स्वीकार नहीं किया गया वहाँ भी इस भेद को मूलाविद्या और तूलाविद्या के नाम से मान लिया गया है। मूलाविद्या के एकत्व तथा तूला विद्या के नानात्व के आधार पर अविद्या के एकत्व तथा नानात्व का प्रतिपादन किया गया है।

मुक्त जीव के सम्बन्ध में भी दोनों स्थानों में पर्याप्त मतभेद है। विवरण प्रस्थान में जीव को प्रतिबिम्ब रूप तथा ईश्वर को बिम्बरूप माना गया है । अत: जब तक सब जीवों की मुक्ति न हो जाय और परिणामत: ईश्वर का बिम्ब-स्थानीयत्व समाप्त न हो जाय, तब तक मुक्त जीव ईश्वर रूप ही रहता है, विशुद्ध ब्रह्मरूप नहीं । किन्तु सब जीवों के मुक्त हो जाने पर ब्रह्म के बिम्बत्व (ईश्वरत्व) के हट जाने से मुक्त जीव ब्रह्म रूप हो जाता है । संक्षेप शारीरककार जीव और ईश्वर दोनों को प्रतिबिम्ब रूप मानते हैं । अत: उनके मत में मुक्तिदशा में जीव ईश्वररूप नहीं होता, अपितु विशुद्ध ब्रह्मरूप हो जाता है । भामतीकार जीव को अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य के रूप में स्वीकार करते है । अत: मुक्तिदशा में जीव अपने अनवच्छिन्न

---

[838] छान्दोग्योपनिषद् ३।१४२

[839] ब्रह्म सूत्र २।१।१४

[840] पंचदशी १।१६

रूप में अवस्थित हो जाता है । उपाधि के नाश से सान्त एवं अवच्छिन्न जीव का अनन्त एवं अनवच्छिन्न चैतन्य के रूप में अवस्थित हो जाना (एवं अनन्त से साथ मिलकर अनन्त रूप हो जाना) ही भामतीकार के मत में मुक्ति का स्वरूप है ।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि जीवन्मुक्ति के प्रश्न पर दोनों प्रस्थानों में ऐकमत्य है। मण्डन मिश्र ने जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। वे स्थितप्रज्ञ को साधक मानते है, सिद्ध नहीं, वे उसे जीवन्मुक्त नहीं मानते। किन्तु इस प्रश्न पर भामतीकार मंडन मिश्र से सहमत नहीं है। उन्होंने स्थितप्रज्ञ को सिद्ध एवं जीवन्मुक्त माना साधक नहीं । इस सम्बन्ध में उनका यह तर्क है कि यदि स्थितप्रज्ञ को भी माना जाय तो साधना के द्वारा उत्तरोत्तर ध्यान का उत्कर्ष से पूर्वप्रत्यय अनवस्थित हो जायगा और वह स्थितप्रज्ञ नहीं रह सकेगा - **स्थितप्रज्ञश्च न साधकः तस्योत्तरोत्तरध्यानोत्कर्षेण पूर्वपूर्वप्रत्ययानवस्थितत्वात्**[841] । विवरणकार और वार्तिककार ने भी जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। वार्त्तिककार ने जीवन्मुक्ति का समर्थन करते हुए यह कहा है कि अविद्या के दूर हो जाने पर मुमुक्षु को जीवनकाल में ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अतः यह कहना ठीक नहीं कि शरीरपात के अनन्तर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी **- न तस्य जीवतः कश्चिद विशेषोऽस्ति मृतस्य वा । यतः सर्वविशेषाणामवद्येवास्ति कारणम्**[842]। विवरणकार प्रकाशात्मयति ने भी जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। "तस्य तावदेव चिरम्" इस श्रुति को उन्होंने जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थक माना है। वे कहते हैं कि प्रारब्धकर्मयुक्त व्यक्ति को शरीरावस्था में ही तत्त्वदर्शन सम्भव है । व्यासादि मुनियों को शरीरावस्था में ही अपरोक्ष दर्शन हुआ था **- प्रारब्धकर्मवतश्च तत्त्वदर्शनम् सशरीरस्यैव संभवति । व्यासादीनां च सशरीराणामेव अपरोक्षदर्शनं श्रूयते**[843]। विवरण प्रमेय-संग्रह में कहा गया है कि जैसे फूलों के भाजन से फूलों के निकाल लेने पर भी गन्ध के संस्कार से वह पुष्प-भाजन कुछ काल तक सुगन्धित रहता है, वैसे ही अविद्या के दूर हो जाने पर भी अविद्या-संस्कारवश किंचित् काल-पर्यन्त देहेन्द्रियादि का अवस्थान होता है। तत्व साक्षात्कार हो जाने पर भी प्रारब्धकर्मों के क्षीण होने तक अविद्यालेश के अनुवृत्त होने से जीवन्मुक्ति सम्भव है **- तत्वसाक्षात्कारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयमविद्यालेशानुवृत्या जीवन्मुक्तिरस्तु**[844]**।**

इस प्रकार जीवन्मुक्ति के प्रश्न पर भामतीकार और विवरणकार दोनों एकमत है। जैसा पहले कहा जा चुका है भामतीकार ने जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में मण्डन मिश्र के द्वारा किये गये आक्षेप का निराकरण करते हुए जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। किन्तु इसके विपरीत इष्ट सिद्धिकार विमुक्तात्मा जो शंकर और सुरेश्वर के अनुयायी हैं, जीवन्मुक्ति के प्रश्न पर इनसे असहमत है और

---

[841] भामति ४।१।१५, १५९

[842] बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य वार्तिक, ४।४।३०६

[843] पंचपादिका विवरण पृष्ठ ७८७

[844] विवरण प्रमेय संग्रह, पृष्ठ ३६२

मण्डनमिश्र के सिद्धान्त के ही समर्थक हैं। इसी तरह ब्रह्मानन्द ने भी जीवन्मुक्ति के प्रश्न पर मण्डन मिश्र के सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। वे विदेह-मुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं, जीवन्मुक्ति को नहीं।

प्रमेय-पक्ष के समान साधन-पक्ष पर भी दोनों प्रस्थानों में पर्याप्त मतभेद उपलब्ध होता है। यद्यपि दोनों प्रस्थानों में ज्ञान को ही मोक्षः का एकमात्र साधन स्वीकार किया गया है तथापि ज्ञान प्राप्ति में कर्मों की उपयोगिता के सम्बन्ध में दोनों प्रस्थानों में मतभेद है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यज्ञ, दान और तप को ज्ञान का साधन कहा गया है। "तमेत ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन[845]" इस श्रुति में प्रयुक्त "विविदिषन्ति" इस पद के आधार पर वाचस्पति मिश्र का कथन है कि यज्ञादि कर्मों का उपभोग 'विविदिषा' में ही माना गया है, वेदन में नहीं। अतः श्रुति के अनुसार ज्ञानोत्पत्ति में कर्मों की अपेक्षा विविदिषोत्पत्ति द्वारा ही समर्थित होती है - **उत्पत्तौ ज्ञानस्य कर्मापेक्षा विद्यते विवदिषोत्पादद्वारा विविदिषन्ति यज्ञेन इति श्रुतेः[846]।** इस सम्बन्ध में भामतीकार का कथन यह है कि प्रकृत्यर्थ की अपेक्षा हुआ करती है, अतः 'विविदिषन्ति" इस पद के प्रकृत्यर्थ वेदन की अपेक्षा प्रत्ययार्थ इच्छा की ही प्रधानता है। अतएव यज्ञादि कर्मों का उपयोग 'विविदिषीत्पत्ति' ही माना जाना उचित है, विद्योत्पत्ति में नहीं - **वेदनस्य प्रकृत्यर्थतया शब्दतो गुणत्वात् इच्छायाश्च प्रत्ययार्थतया प्राधान्यात्, प्रधानेन च कार्यसंप्रत्ययात्**[847]। भामतीकार के इस तर्क के विवरण का यह है कि प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ में प्रत्यार्थ की प्रधानता होती है, यह एक सामान्य नियम है। इस नियम का 'इष्यमाण समभिव्याहारे इष्यमाण स्यैव प्राधान्यम् न तु इच्छायाः" इस विशेष नियम से बाध हो जाता है। इसी कारण 'अश्वेन जिगमिषति' , 'असिना जिघांसति' इत्यादि वाक्यों में इच्छा के विषय गमन और हनन के प्रति ही क्रमशः अश्व और असि के करणत्व का बोध होता है, इच्छा के प्रति नहीं। अतएव 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इस श्रुति के द्वारा यज्ञ आदि कर्मों का उपयोग प्रकृति से अभिहित 'वेदन' की उत्पत्ति में ही मानना उचित है, विविदिषोत्पत्ति में नहीं। इस प्रकार विवरणकार ने यज्ञादि कर्मों का उपयोग विद्योत्पत्ति में माना है विविदिषोत्पत्ति में नहीं। शंकराचार्य ने सर्वापेक्षाधिकरण के भाष्य में शम,दम इत्यादि को विद्या का प्रत्यासन्न साधन कहा है तथा यज्ञादि को विविदिषा से संयुक्त होने के कारण बाह्यतर माना है - **तस्मादेवंविदिति विद्यासंयोगात् प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि विविदिषासंयोगात्तु बाह्यतराणि यज्ञादीनि इति विवेक्तव्यम्[848]। तथा 'तस्मादेवंविच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति**[849]। यह श्रुति

---

[845] बृहदारण्यक उपनिषद् ४/४/२२

[846] भामती ३।४।२६, पृष्ठ ८९८

[847] भामती १।१।१ पृष्ठ ६१

[848] ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य ३।४।२७

[849] बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२३

स्पष्ट रूप से शमादि को विद्या का साधन बता रही है, तथा **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन'**[850] यह पूर्वपठित यज्ञादि को विविदिषा का साधन मान रही है। इससे यह स्पष्ट है कि श्रुति के अनुसार यज्ञादि कर्मों का उपयोग विविदिषोत्पत्ति में ही है, विद्योपत्ति में नहीं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा के दर्शन के लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन का प्रतिपादन किया गया है (आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यश्च)[851] श्रवण, मनन और निदिध्यासन को दोनों प्रस्थानों में आत्म-दर्शन का अन्तरंग साधन माना गया है। तथापि इनके अंगागित्व के सम्बन्ध में दोनों प्रस्थानों में मतभेद है। भामतीकार ने निदिध्यासन को अंगी माना है और विवरणकार ने श्रवण को अंगी स्वीकार किया है। श्रवण को अंगी मानने में भामतीकार को यह आपत्ति है कि शब्द से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परोक्ष ही होता है. अपरोक्ष नहीं। उनके मत में शब्द से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान शब्द प्रमाण का फल नहीं, अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण का ही फल है। जैसे कुटज बीज से वटांकुर की उत्पत्ति संभव नहीं, वैसे ही शब्द से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है - **न चैंष साक्षात्कारो मीमांसासहितस्यापि शब्दस्य फलम् अपितु प्रत्यक्षस्य; तस्यैव तत्फलत्वनियमात्। अन्यथा कुटजबीजादपि वटाङ्कुरोत्पत्तिप्रसंगात्**[852]। आत्म साक्षात्कार रूपी अपरोक्ष ज्ञान को भामतीकार ने प्रत्यक्ष प्रमाण का ही फल माना है तथा अन्तरिन्द्रियरूप मन को इसका करण स्वीकार किया है। निदिध्यासन से उत्पन्न संस्कार को उन्होंने आत्म-साक्षात्कार में मन का सहायक कहा है, अतः उन्होंने श्रवण, मनन और निदिध्यासन में निदिध्यासन को अंगी तथा श्रवण और मनन को उसका अंग माना है - **तस्यापि श्रवणमननपूर्वकोपासनाजनितसंस्कारसचिवादेव चेतसो भावात्**[853]। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि मंडन मिश्र ने भी वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान को संसर्गात्मक माना है। उनके मत में संसर्गात्मक शाब्द ज्ञान प्रसंख्यान से असंसर्गात्मक एवं अपरोक्ष ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत'[854] इस श्रुति का प्रमाण उपस्थित किया है। भामतीकार ने भी मण्डन मिश्र के प्रसंख्यानविषयक सिद्धान्त का अनुमोदन किया है[855]। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने आत्म-साक्षात्कार के साधन भूत श्रवणादि में निदिध्यासन के अंगित्व को ही स्वीकार किया है।

इसके विपरीत विवरणकार के मत में श्रवण ही अंगी एवं प्रधान है तथा मनन और निदिध्यासन उसके अंग हैं। उन्होंने शब्द प्रमाण से भी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति को संभव बताया है। उनके मत में किसी वस्तु का अपरोक्षत्व करणस्वभाव-प्रयुक्त न होकर विषय-स्वभाव प्रयुक्त होता है। अतः

---

[850] बृहदारण्यक उपनिषद् ३।३।२२

[851] बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।५ तथा ४।५।६

[852] भामती १।१।१, पृष्ठ ५७

[853] भामती, १।१।४, पृष्ठ ११४

[854] बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२१

[855] वेदान्त कल्पतरु परिमल १।१।२८, पृष्ठ २१८

अपरोक्षवस्तुविषयक शाब्द ज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है। घटादि परोक्षवस्तुविषयक ज्ञान के आपरोक्ष्य की उपपत्ति अपरोक्षसंवित् के साथ तादात्म्य से ही होती है। 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान की अपरोक्षता दृष्ट ही है। अतः शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति संभव है। मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु तथा अद्वैतसिद्धि में 'शब्दापरोक्षवाद' का समर्थन किया है। खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी, पंचदशी इत्यादि ग्रन्थों में भी इसका सुदृढ रूप से समर्थन किया गया है। अपरोक्षस्वभाव आत्मा का ज्ञान परोक्ष कैसे हो सकता है? परोक्ष होने पर उस ज्ञान का प्रामाण्य कैसे सम्भव है ? श्रवण के अंगित्व का समर्थन करते हुए विवरण भाव- प्रकाशिकाकार नृसिंहाश्रमाचार्य कहते हैं कि श्रुत वस्तु का ही मनन होता है, श्रवण और मनन से स्थिर किये हुए का ही ध्यान होता है। अतः आत्मसाक्षात्कार में श्रवण की ही प्रधानता माननी होगी- **एकात्मविषयत्वेनैव श्रवणादित्रयस्य श्रवणात् श्रूतस्यैव मन्तव्यत्वात्, श्रवण-मननाभ्यां स्थिरीकृतस्यैव ध्येयत्वाच्च तेषां समानविषयत्वमिति मननादि वाक्यस्य न मूलत्वमित्यर्थः**[856]। इस प्रकार हम देखते हैं कि विवरण प्रस्थान में आत्मसाक्षात्कार के साधन-भूत श्रवणादि में श्रवण को ही अंगी माना गया है, जब कि भामती-प्रस्थान में निदिध्यासन को प्रधानता दी गयी है।

इसी प्रश्न से संबद्ध एक दूसरा प्रश्न जो दोनो प्रस्थानों में मतभेद का विषय बना हुआ है, आत्मसाक्षात्कार के करण के संबंध में है हम देख चुके हैं कि भामतीकार अपरोक्षज्ञान की शब्द प्रमाण का फल नहीं मानते अपितु वे उसे प्रत्यक्ष प्रमाण का ही फल मानते हैं। उनका कथन है कि शब्दप्रमाण में अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं है। जैसे कुटजबीज से वटांकुर की उत्पत्ति सम्भव नहीं, वैसे ही शब्द से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति भी संभव नहीं है। कल्पतरुकार कहते हैं कि 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि स्थल में भी शब्दसहकृत चक्षुरिन्द्रिय से ही दशमत्व का अपरोक्ष ज्ञान होता है, शब्द मात्र से नहीं, अन्यथा अन्धे को भी यह ज्ञान हो जाता। अन्धे को होने वाला दशमत्व का ज्ञान अपरोक्ष नहीं, अपितु परोक्ष ही होता है - **दशमस्त्वमसीत्यत्रापि तत्सचिवादक्षादेव साक्षात्कारः, अन्धादेस्तु परोक्षधीरेव**[857]। परिमलकार का कथन है कि यदि यह मान भी लें कि अन्धे को होने वाला दशमत्व का ज्ञान परोक्ष नहीं अपितु अपरोक्ष है, तो भी इस ज्ञान का कारण स्पर्शनेन्द्रिय या अन्तःकरण को ही माना जा सकता है, शब्द को नहीं - **दशमोऽस्मीत्यपरोक्षज्ञानमन्तःकरणेन संभवति, शरीरविषयं चेत् स्पर्शनेन्द्रियेण वा ज्ञानान्तरोपनयसहितान्तःकरणेन वा संभवति**[858]। अतः शब्द की अपरोक्ष ज्ञान-जनकता कहीं भी दृष्ट नहीं है। शब्द की अपरोक्षज्ञानहेतुता का खण्डन करते हुए परिमलकार का कथन है कि यदि शब्द के द्वारा अपरोक्षज्ञान सम्भव हो तो ब्रह्म के स्वतः अपरोक्ष होने के कारण तद्विषयक शाब्दज्ञान भी अपरोक्ष हो और इस परिस्थिति में वेदान्तश्रवण के अनन्तर ही

[856] विवरण भाव प्रकाशिका ३३

[857] वेदान्त कल्पतरु परिमल १।१।१, पृष्ठ ५६

[858] वेदान्त कल्पतरु परिमल १।१।१, पृष्ठ ५६

आत्मसाक्षात्कार हो जाये। किन्तु लोक में ऐसा दृष्टिगत नहीं होता। अतः शब्द के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति को सम्भव नहीं माना जा सकता - **यदि ब्रह्म स्वतोऽपरोक्षमिति तद्विषयशब्दजन्यमपि ज्ञानमपरोक्षं भवेत्, तदा श्रवणजन्यज्ञानम्प्यपरोक्षमिति श्रुतवेदान्तस्य पुंसः तस्मिन् पारोक्ष्यभ्रमानुवृत्तिर्नस्यात्**[859]। इस प्रकार भामतीप्रस्थान में शब्द की अपरोक्षज्ञानहेतुता का खण्डन करते हुए अन्तःकरण को ही आत्मसाक्षात्कार का कारण स्वीकार किया गया है।

इसके विपरीत विवरणप्रस्थान में शब्द को ही आत्मसाक्षात्कार का करण माना गया है। यहाँ ज्ञान की अपरोक्षता को करणस्वभावप्रयुक्त न मानकर विषन्यस्वभावप्रयुक्त ही माना गया है। इन्द्रियजन्यज्ञान की अपरोक्षता भी विषयस्वभावप्रयुक्त है, करणस्वभाव प्रयुक्त नहीं। घटादि परोक्ष पदार्थो की अपरोक्षविषयता अपरोक्ष संवित् के साथ तादात्म्य के कारण उपपन्न है – **अर्थस्यघटादेश्चानपरोक्षस्वभावस्याप्यपरोक्षसंवित्तादात्म्यापरोक्षत्वम्**[860]। यदि तार्किक मतानुसार इन्द्रियजन्य- ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान माना जाय तो अनुमितिज्ञान को भी प्रत्यक्षज्ञान मानना होगा क्योंकि वह भी मनोजन्य होने के कारण इन्द्रियजन्य है। अतएव इन्द्रियजन्यत्व को ज्ञान के अपरोक्षत्व में नियामक हेतु नहीं माना जा सकता है **- न तावदिन्द्रियजन्यज्ञानस्वमपरोक्षत्वम्,अनुमितावपि मन इन्द्रियजन्यत्वात्**[861]**।** इस पर यदि कहें कि इन्द्रियजन्य ज्ञान के अपरोक्ष होने पर भी मनोजन्यज्ञान की अपरोक्ष नहीं माना जाता, तो ऐसी स्थिति में मनोजन्य आत्मज्ञान को भी अपरोक्ष नहीं माना जा सकेगा और आत्मसाक्षात्कार के प्रति मन की करणता के सिद्धान्त का खण्डन स्वयमेव हो जायगा।

वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी शब्द को ही आत्मसाक्षात्कार का करण माना है, मन को नहीं। मन की करणता का निषेध करते हुए वे कहते हैं कि भावनोपचित चित्त कैवल्य का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान के द्वारा अज्ञान के नष्ट होते ही तज्जन्य चित्त का भी समुच्छेद हो जाता है **- भावनोपचितो चेतो नःकैवल्यकारणम्**।

इस प्रकार हमने देखा कि भामतीकार ने आत्मसाक्षात्कार के प्रति मन को करण माना है जबकि विवरणकार तथा वार्त्तिककार ने शब्द को ही इसका करण स्वीकार किया है।

किन्तु वस्तुत: आत्मा के स्वयंप्रकाश होने के कारण उसको प्रकाशित करने के लिए किसी प्रकाश या प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यदि अन्य पदार्थों के समान आत्मा भी किसी प्रमाण का विषय एवं प्रमेय हो, तो यह भी अन्याधीन प्रकाश होने के कारण उन्हीं के समान जड़ हो जाये। जिस आत्मा के प्रकाश से संसार के समस्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं, उस स्वयंप्रकाश आत्मा को प्रकाशित एवं प्रमाणित करने के लिए भला किसी अन्य प्रकाश या प्रमाण की आवश्यकता कैसे पड़ सकती है ? अतः आत्मा

[859] वेदान्त कल्पतरु परिमल १।१।१, पृष्ठ ५५

[860] विवरण भाव प्रकाशिका पृष्ठ ४०५

[861] विवरण भाव प्रकाशिका पृष्ठ ४०३

को किसी प्रमाण का विषय नहीं माना जा सकता। इसीलिये तो श्रुतियों में आत्मा को अप्रमेय कहा गया है। यद्यपि आत्मा स्वयंप्रकाश है तथापि अज्ञान के आवरण के कारण यह अप्रकाशित-सा रहता है। जैसे आकाश में प्रकाशमान सूर्य मेघ के आवरण से अप्रकाशित-सा हो जाता है, किन्तु वस्तुतः वह मेघ के पीछे प्रकाशमान ही रहता है तथा मेघ के हटते ही वह पुनः प्रकाशित दृष्टिगत होता है, वैसे ही स्वयंप्रकाश आत्मा अज्ञान-तिमिर से आवृत हो जाने के कारण अप्रकाशित सा रहता है और ज्ञान के द्वारा अज्ञान तिमिर के छिन्न-भिन्न हो जाने पर वह पुनः प्रकाशित-सा हो जाता है। परमार्थतः वह सदैव प्रकाशमान है। स्वयंप्रकाश आत्मा को प्रकाशित करने के लिए किसी साधन या करण की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल आवरण को दूर करने की। इस आवरण को दूर करने में ही प्रमाण की उपयोगिता है, उसे प्रकाशित करने में नहीं। ज्ञान से अज्ञान रूप आवरण के दूर होते ही स्वयंप्रकाश आत्मा का स्वयमेव साक्षात्कार हो जाता है।

पूर्ववत् शंका के समाधान में अवच्छेदवाद के समर्थकों का यह कथन है कि जैसे प्रतिबिम्बवाद में अन्तःकरण के स्वच्छ होने के कारण अन्तः करण में ही प्रतिबिम्बग्राहिता मानी जाती है, घटादि में नहीं। वैसे ही अवच्छेदवाद में भी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में ही प्रमातृत्व माना जाता है, घटावच्छिन्न चैतन्य में नहीं चैतन्य के व्यापक होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति (प्रकाश) अन्तःकरण में ही होती है, घटादिमलिन पदार्थों में नहीं। अतः अवच्छेदवाद में भी घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य में प्रमातृत्व की प्रसक्ति नहीं होती।

इस प्रकार स्पष्ट है की अवच्छेदवाद में जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। शंकराचार्य के शिष्य वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म-जीव सम्बन्ध में अवच्छेदवाद को स्वीकार किया है। इनका मानना है कि जैसे एक आकाश होने पर भी घट तथा मठ आदि उपाधियों से अवच्छिन्न होकर घटाकाश और मठाकाश आदि अनेक रूपों वाला हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म स्वयं एक होकर अन्त:करण से अवच्छिन्न होकर अनेक जीवों के रूप मे प्रतीत हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है की प्रतिबिम्बवाद में जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। आचार्य शंकर ने जीव को चैतन्य का प्रतिबिम्ब माना है | प्रतिबिम्बवाद के प्रवर्तक विवरणकार प्रकाशात्म्यति के मत में अविद्या(अन्तःकरण) में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है तथा ईश्वर बिम्बस्थानापन्न चैतन्य है। इन्होंने ईश्वर को प्रतिबिम्ब न मानकर बिम्बरूप माना है। इस मत में ईश्वर परमार्थतः ब्रह्मरूप होने से सत् हैं। इस प्रकार दोनों मतों में जीव तथा ईश्वर को ब्रह्माभिन्न तथा सत्य माना गया है तथा पंचपादिकाकार ने बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेद का प्रतिपादन करते हुए जीव की ब्रह्मस्वरुपता को प्रदर्शित किया है। विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य ने भी प्रबलयुक्तियों के आधार पर बिम्ब और प्रतिबिम्ब के भेद पक्ष का खण्डन करते हुए इनके अभेदपक्ष का समर्थन किया है। इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद में बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेद के आधार पर जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया गया है।

शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैतवेदान्त के तीनों सिद्धांतों में समीक्षात्मक अध्ययन के परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत शोध कार्य वादत्रय के सिद्धांत को अधिक पुष्ट और स्थिर करते हैं।

इस संदर्भ में पंचपादिकाकार ने जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को समझाने के लिये दिए गए दृष्टान्तों को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि मुखचन्द्रादि प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का उपयोग जीव और ब्रह्म के अभेद तथा सत्यत्व के प्रतिपादन हेतु, घटाकाशादि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों का प्रयोग ब्रह्म की असंगतता दिखाने के लिये, स्फटिकलौहित्य, रज्जुसर्प आदि आभास सूचक दृष्टान्तों का प्रयोग जीव के इदमंश प्रयुक्त मिथ्यात्व प्रदर्शन के लिये इन इन शब्दों का प्रयोग किया गया है|

परिशिष्ट

चित्रवीथि – १. आभासवाद

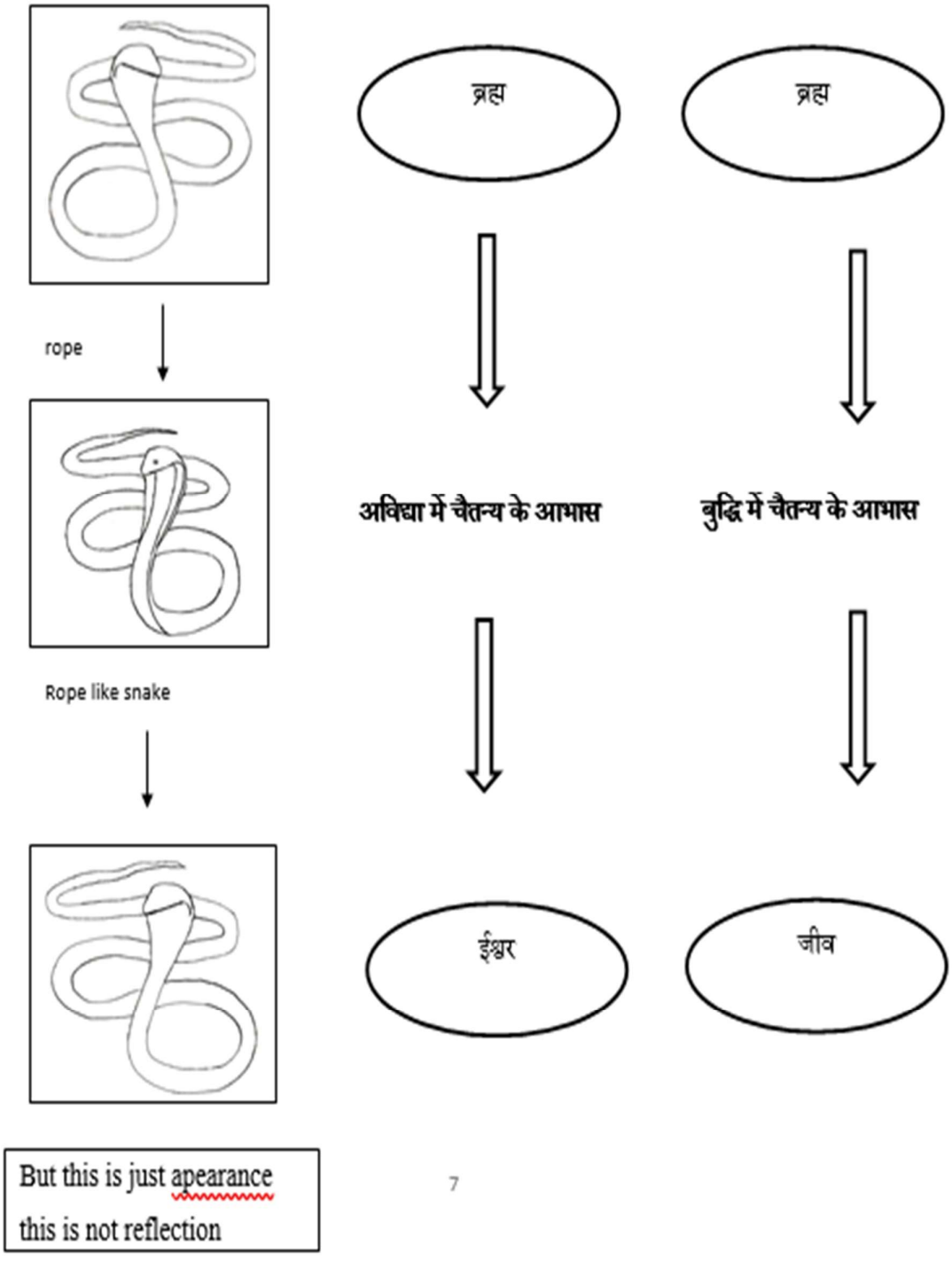

चित्रवीथि – २. अवच्छेदवाद

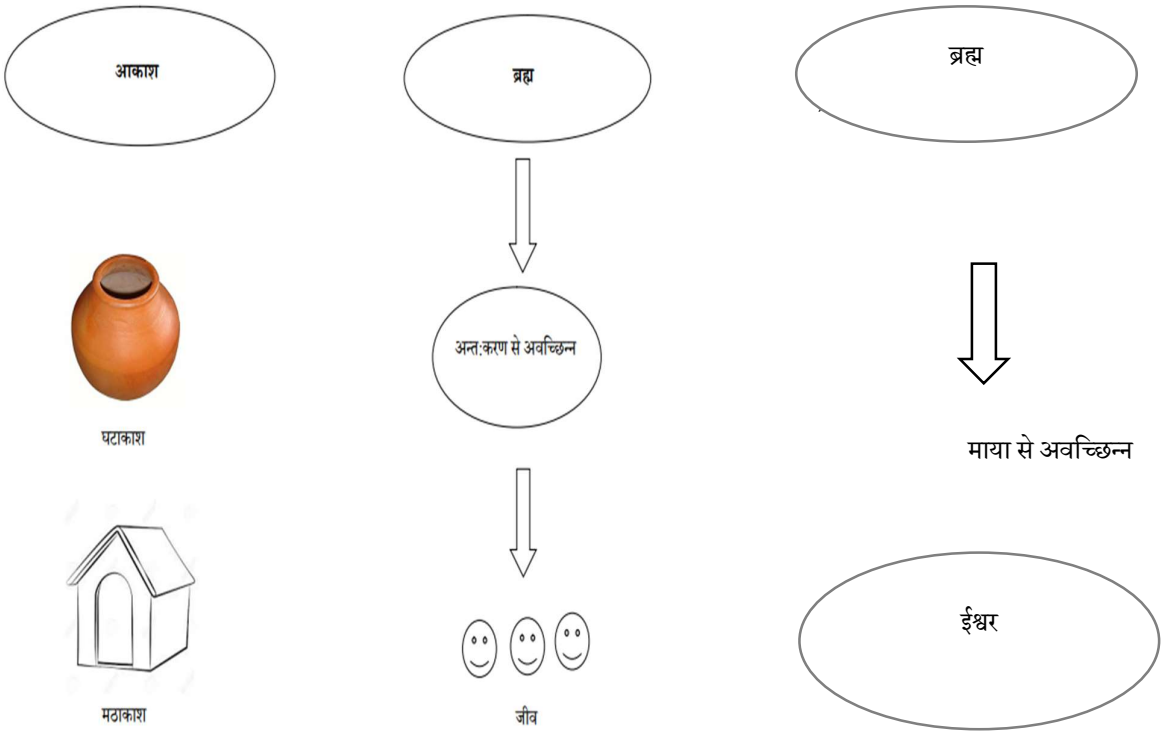

चित्रवीथि – ३. प्रतिबिम्बवाद

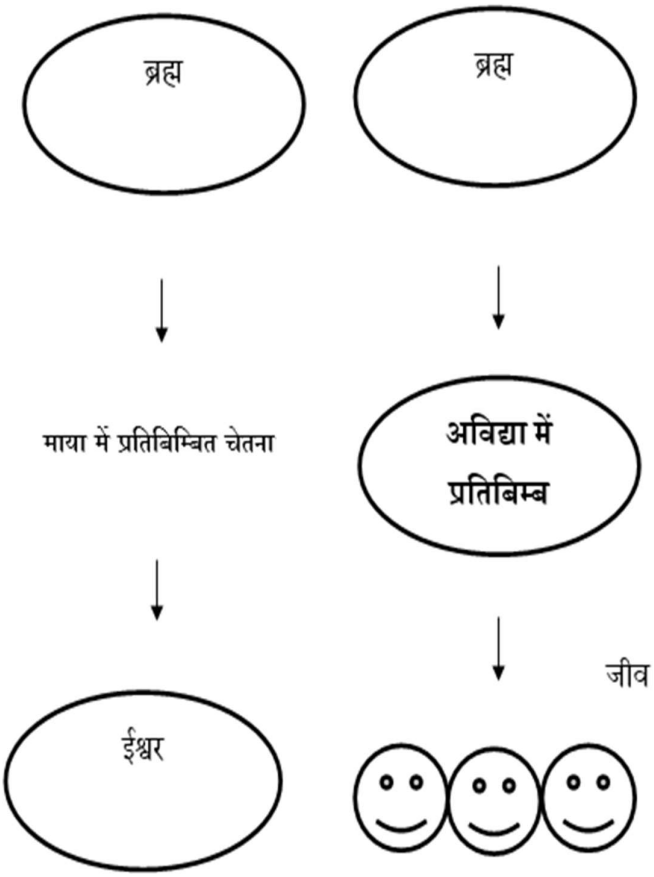

सन्दर्भ-ग्रन्थ -सूची

(Bibliography)

सन्दर्भ-ग्रन्थ -सूची (Bibliography)

१. प्राथमिक स्रोत (Primary Sources) –

प्रत्यक्ष (Direct Sources)-

- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य (रत्नप्रभा टीका सहिता) अनु० यतिवर श्री भोलेबाबा, भारतीय विद्या प्रकाशन, नई दिल्ली, २००४.
- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य (ब्रह्मत्त्वप्रकाशिनी हिन्दी व्याख्या सहित) व्या० स्वामी हनुमान प्रसाद षटशास्त्री, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी,२०१०.
- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, संपादकीय स्वामी सत्यानंद सरस्वती, कृत हिंदी व्याख्या एवं अनुवाद, गोविंद मठ, वाराणसी, १९६५.
- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्-भामती-पञ्चपादिका-विवरण-तत्त्वदीपन-विवरणप्रमेयसंग्रह-ऋजुप्रकाशिका नारायण सरस्वती कृत वार्तिक- नवीन टिपण्णी प्रदीप व्याख्योपव्याख्यानवकोपेतम्, संस्कृतभूमिका, सूचियत्रादिसमेतम्, म० म० श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, २००८.
- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, सम्पा० कन्हैया लाल जोशी (भामती, कल्पतरु, परिमल, टीकाओं सहित), परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली १९८२.
- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् (सत्यानन्दी-दीपिकया- समकङ्कृतम्) व्या० सत्यानन्द सरस्वती, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २००७.
- बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक (आचार्य सुरेश्वर कृत), आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना, १९९२.
- (भाष्य वार्तिक)बृहदारण्यकोपनिषद्, सं.एस. सुब्रह्मण्यशास्त्री, महेश रिसर्च इंस्टिट्यूट, वाराणसी, १९८८.
- बृहदारण्यक-सम्बन्धभाष्य वार्तिकम्, (आचार्य सुरेश्वर कृत) श्री दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन वाराणसी.
- पञ्चपादिकाविवरण (प्रकाशात्मयति कृत), अनु० किशोरीलाल स्वामी रामतीर्थ मिशन, देहरादून, २००१.
- पञ्चपादिकाविवरण (प्रकाशात्मयति कृत), इ. जे, लाजरस कम्पनी, बनारस, १९९८.
- भामती (वाचस्पति मिश्र कृत), व्या० स्वामी योगीन्द्रानन्द, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, २००५.

- चतुःसूत्री ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् (ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका हिन्दी व्याख्या सहित), व्या० आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६६.

- पञ्चपादिका (आचार्य पद्मपाद कृत), सम्मा० टी० चन्द्रशेखरन तथा श्री राम शास्त्री (प्रकाशात्मयति कृत विवरण पर चित्सुख की तात्पर्यदीपिका एवं नृसिंहाश्रम की भावप्रकाशिका टीकाओं सहित) मद्रास गवर्नमेन्टल ओरियण्टल सीरीज, मद्रास, १९५०.

- पञ्चपादिका (पद्मपाद कृत), अनु० किशोरीलाल स्वामी रामतीर्थ मिशन, देहरादून, २००१.

अप्रत्यक्ष (Indirect Sources) –

- वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली (प्रकाशानन्द कृत), अच्युत कार्यालय काशी, १९३६.
- अद्वैतसिद्धि, सम्पा० अनन्त कृष्ण शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, १९८२.
- विवेकचूडामणि (शंकराचार्य कृत), सम्पा० मनोहर लाल शर्मा, चितरंजन एवेन्यू कलकत्ता, १९८३.
- विवेकचूडामणि (शंकराचार्य कृत), गीताप्रेस गोरखपुर वि०सं० २०६५.
- विवरणप्रमेयसंग्रह(विद्यारण्यमुनि कृत), सम्पा० कृष्णपन्तशास्त्री, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, १९०६.
- संक्षेपशारीरक (सर्वज्ञात्ममुनि कृत) १/३/८, सम्पा० वझेभाउ शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पृ० १२५, १९९२.
- तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखाचार्य कृत), सम्पा० योगीन्द्रानन्द, षडदर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान वाराणसी, १९७४.
- नैष्कर्म्यसिद्धि, सम्पा० कर्नल जी० ए० जैकोब (ज्ञान उत्तम मिश्र कृत चन्द्रिका संहिता), चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२.
- ऋग्वेद संहिता, स. पं. श्री पाद दामोदर सातवलेकर, पारडी, १९८३.
- अथर्ववेद संहिता, स. पं. श्री पाद दामोदर सातवलेकर, पारडी, १९८३.
- उपनिषद्-रहस्य, चन्द्रबली त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९८६.
- उपनिषत्संग्रह, जगदीश शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०.
- उपनिषदां समुच्चयः, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः, ग्रन्थाङ्क २९ (पुण्याख्यपत्तन १९२५)
- उपनिषद्-भाष्य, शंकरानन्द, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः, ग्रन्थाङ्क १७.
- एकादशोपनिषद्, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विजयकृष्ण लखनपाल प्रकाशन, दिल्ली, २०१०.
- कठोपनिषद् (सानुबाद शाङ्करभाष्यसहित), गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०२७.
- ईशादि नौ उपनिषद् (सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, सं०२०६३.

- छान्दोग्योपनिषद् (सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, दसवाँ संस्करण सं० २०५८.
- ब्रह्मसिद्धि (मण्डन मिश्र), सम्पा० कुप्पु स्वामी शास्त्री, गवर्नमेण्ट प्रेस, मद्रास, १९३७.
- इष्टसिद्धि (विमुक्तात्मयति कृत), सम्पा एम० हिरियन्ना, गायकवाड ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९९३.
- न्यायमकरन्द (आनन्दबोध भट्टारक कृत), सम्पा० एन० ऐस० स्वामी, चौखम्भा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, १९०७.
- सर्वदर्शनसंग्रह (माध्वाचार्य कृत), अनु० डा० उमा शंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, २००५.
- वेदान्तपरिभाषा (धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत) (प्रकाश हिन्दी व्याख्या सहित), सम्पा० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, १९७३.
- प्रमाणवार्तिक (धर्मकीर्ति कृत), सम्पा द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध-भारती, वाराणसी, १९६८.
- श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्यसहित), अनु० हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर वि०सं० २०६६.
- न्यायमञ्जरी(जयन्तभट्ट कृत), सम्पा सूर्यनारायण शुक्ल, तथा जयकृष्ण दास हरिगुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, १९३६.
- तर्कसंग्रह (अन्नम भट्ट कृत), सम्पा० दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९
- तर्कभाषा (केशव मिश्र कृत), सम्पा आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६७.
- प्रकरणपञ्चिका (शालिकनाथ कृत), सम्पा० सुब्रह्मण्यशास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६१.
- सिद्धान्तलेशसंग्रहः, सम्पा० वझेभाउ शात्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८९.
- न्यायभूषणम् (टिप्पणी सहित), षड्दर्शन प्रकाशन, वाराणसी, १९६८.

2. द्वितीयक स्रोत (Secondary Sources)

१. स्वतन्त्र ग्रन्थ -

(अ) हिन्दी ग्रन्थ

- शर्मा, राममूर्ति, अद्वैत वेदान्त- इतिहास और सिद्धान्त, ईस्टर्न बुक लिकर्स, द्वीतीय संस्करण, १९८९.
- श्रीवास्तव, जगदीश सहाय, अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, किताब महल, इलाहाबाद, १९८३.
- शास्त्री, उदयवीर, वेदान्तदर्शन का इतिहास, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, नईदिल्ली, २०१.

- झा. डॉ. वीणा, शंकर का अद्वैत वेदान्त, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९८८.
- त्रिपाठी, डॉ आनन्द प्रकाश, भारतीय दर्शन, मैसर्स यूनिवर्सिटी बुक हाउस प्रा. लि., जयपुर, २००६.
- शास्त्री, सत्यदेव, भामती तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन, भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७२.
- मिश्र, सत्यदेव, अद्वैत वेदान्त में आभासवाद, इन्दिरा प्रकाशन, पटना, १९८६.
- पाण्डेय, शशिकान्त, अद्वैत वेदान्त मे मायावाद, विद्यानिधि प्रकाशन, २००५.
- दुबे, राजेंद्र प्रसाद, भारतीय साहित्य के निर्माता वाचस्पति मिश्र, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, १९९८.
- चन्द्रधर, भारतीय दर्शन आलोचन एवं अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९०.
- दासगुप्त, डॉ एस.एन.. भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-२, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७८.
- श्रीवास्तव, डॉ. कौशल किशोर, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक-एक अध्ययन, अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद ,२००३.
- श्रीवास्तव्य, डॉ. सन्तनारायण, वेदान्तसार, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २०१९.
- मिश्र, डॉ, लम्बोदर, वेदान्तसार, राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केन्द्र, जयपुर. २०१८.
- आंगिरस, डॉ. रमाकांत, शांकर वेदान्त एक अनुशीलन, नटराज पब्लिशिंग हाउस, करनाल, दिल्ली, १९८२.
- अभेदानन्द, शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७३.
- शास्त्री, विश्वनाथ, भारतीय दर्शनों में वेदान्त का स्थान, सरस्वती संस्कृत कालेज, लुधियाना, १९८६.
- शेखावत, महेन्द्र, आधुनिक चिन्तन में वेदान्त, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९८६.
- सिंह, ईश्वर, भामती एक अध्ययन, मन्थनप्रकाशन, रोहतक १९८९.
- राधाकृष्णन, उपनिषदों का संदेश, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, १९५१.
- वैदिक, वेदवती, उपनिषदों के निर्वाचन, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, २००३.
- रानाडे, आर.डी, उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७१
- पाण्डेय, देवेन्द्रनाथ, वैदिक सूक्त संकलन, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, २०१०.
- सुकामा, वैदिक इन्द्र देवता, संस्कार प्रकाशन, दिल्ली, २००६.
- स्वामी रंगनाथानन्द, उपनिषदों का सन्देश, रामकृष्ण मठ, नागपुर, २०११.
- अभिमन्यु, बेदान्तविमर्श,परिमल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, १९९१.
- मलकानी, घनश्यामदास, वेदान्त की ज्ञानमीमांसा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७३.
- वैदिक, वेदवती, उपनिषद वाक्य विविध आयाम, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, १९९७.
- शर्मा, उर्मिला, अद्वैत वेदान्त में तत्त्व एवं ज्ञान, छन्दस्वती प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९९४.
- मिश्रा, चञ्चला, वेदान्त तत्व विवेक- एक अध्ययन, डिप्टी पब्लिकेशन, दिल्ली, १९८९.

- वैदिक, वेदवतश्वेताश्वेतरोपनिषद्: एक दार्शनिक अध्ययन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९८४,
- वैदिक, वेदवती, उपनिषद युगीन संस्कृति, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, २००३.
- शर्मा, उमाशङ्कर, भारतीय संस्कृति, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २०११.
- लखानी, घनश्यामदास वेदान्त की ज्ञान मीमांसा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी १९७३.

(ब) आंग्ल ग्रन्थ

- Swami Ranganathananda, Vivekchudamani, Advait Ashram, New Delhi, २००८.
- Rajagopal, L.V., A Critique Of Vedanta, Munshiram Ram Manohar Lal, Delhi, १९९३.
- Kar, Bijanand, Indian Theory of Error, Sophia Indological Series, No.3, Ajanta Book International, Delhi, १९९०.
- Alston, Al., The Method of Vedanta, Motilal Lal Banarasi Das New Delhi, १९९६.
- Balasubramanian, R., The Tradition Of Advaita, Munshiram Manoharlal, Pvt., Ltd., Delhi, १९९४.
- Sharma, V. K., Chitsukh's Contribution to Advaita Vedanta, Kaivalya Publication, Maysore, १९७४.
- Sharma, Baldev Raj, Concept of aatman In Principle Upneda, Dinesh Publication, New Delhi, १९७२.
- Dube, Rajendra Prasad, Vacaspati Darshanam, Classical Publishing Company, New Delhi, १९८३.
- Ramchandrana, T. P., The Concept of the Vyavaharika in Advaita Vedanta, University of Indore, १९८०.
- shastri, Kokileshvara, An Introduction to Advaita Vedanta Philosophy. Bhartiya Publishing House, Delhi, १९७९.
- Radhakrishna, S, Indian Philosophy, Oxford University Press, New Delhi. २०१०.
- Sharma, Adarsh, Personality in the Bhagavad Gita (In the Per spective of Philosophy, Psychology, Education, Admin tration and Management) Adarsh Publication Sonepat, २००४.
- Deussen, Paul, Sixty Upanishads of The Veda, (Eng. Trans.) V.M. Bedakar and G.B. Palsule, Motilal Banarsidass Pub lishers Private Limited, Delhi, Delhi, o, First edition.
- Ranganathananda, Swami, The Message Of The Upanishads, Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai, २००७.
- Ranganathananda, Swami, The Message Of Vivekchudamani. Advaita Ashrama Publication, Kolkata, २००८.
- Deussen, Paul, The Philosophy of The Upanishads, Edinborugh Oriental Books Reprint Corporation, Delhi, 2nd Edition,१९७९.
- Narahari, H.G., Atman in the Pre-Upanishadic Vedic Literature, Adyar, १९४४.

- Kumar, Shashiprabha, Self, Society and Value: Reflections on Indian Philosophical Thought, Vidyanidhi Prakashan, Delhi, २००५.
- Mukhopadhyay, G.G., Studies in the Upanishads, Kolkata, १९६०.
- Nikhilananda, Swami, The Upanishads, (Eng. Trans, & Comm.), Phoenix house, London, १९५१.
- Yadav, K.C., Autobiography of Swami Dayanand Saraswati, Motilal Manohardas, Delhi, १९७६.
- Radhakrishan, S., Indian Philosophy, George Allen and Unwin Ltd., London, १९४०.
- Ranganathananda, Swami, The Message Of The Brihadaranyaka Upanishad, Advaita Ashrama Publication, Kolkata,२००८.
- Deborah, Lupton, Medicine as Culture: Illness, Disease and the Body in Western Societies, Sage Publication, London, १९९४.
- Flood, Gavin D, Body and Cosmology in Kashmir Shaivism, San Francisco: Mellen Research University Press, १९९३.
- Sinha, Jadunath, Indian Psychology, Perception, Kegan Paul, Trench Trubner & Co. Ltd., London, १९८४.
- Roger T. Ames, and Wimal, Self and Body in Theravada Bud dhism: A Topological Analysis of the Dhammapada" Dissanayaka, १९९३.
- Basham, AL, The Wonder That was India, Sidgwick & Jack son, London, १९६७.

- Albany, Dissanayaka, eds, Self as Body In Asian Theory and Practice, State University of New York Press, Joshi, Kireet, Mystery and Excellence of the Human Body Indian Council of Philosophical Research, Delhi, २००३.
- Joseph, Alter, The Wrestler's Body Identity and Ideology in North India, Munshiram Manoharlal, Delhi, १९९७.*६*
- Dasgupta, S.N., History of Indian Philosophy (Five vols.). Motilal Banarsidass, Delhi, १९७५.

२. कोश ग्रन्थ-

संस्कृत एवं हिन्दी

- अवस्थी, बच्चूलाल, भारतीय दर्शन बृहद्कोश, शारदा पब्लिशिंग हाउस.२००२.
- वाचस्पत्यम्, चौखम्भा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, १९५३.
- उपनिषद वाक्य महाकोष: (उपनिषद वाक्य संभृत:), सम्पा. ऐस. ऐस. गजानन सघाले, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, वर्ष अज्ञात वाचस्पत्यम् छ: भाग), चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला. क्र.सं.- ९४, वाराणसी, १९६९.
- वैदिक पदानुक्रम कोश, मोरिस ब्लूमफिल्ड रचित, सम्पा. अमरनाथ बिमली, परिमल पब्लिकेशन्स, २००४.
- शब्दकल्पद्रुमः, (पाँच भाग), चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्र.सं. ९३, वाराणसी,१९६७.
- न्यायकोश:, भीमाचारेण विरचित:, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी, २०११.
- बुल्के, कामिल, संस्कृत-हिन्दी कोश,रांची केथोलिक प्रेस, २००६.

आंग्ल-कोश -

- Potter, karl H., Encyclopedia of Indian Philosophical Delhi, Motilal Banarsidas ,१९७०.
- William, Monier, English-Sanskrit Dictionary, Delhi Munshiram Manohar Lal, १९७६.
- Apte, v.s,Practical Sanskrit- English Dictionary, Motilal Banarsidass, Delhi. Vikram Saivat २०२२.
- Adolphus Jacob, George, upnishad vakya kosha : concor dance to the principal UpaniSHads And Bhagavadgita Motilal Banarsidass, Delhi, १९८६.

३.शोध-पत्र-पत्रिका

१. संस्कृत -

- सरस्वती, जगद्गुरुशंकराचार्यस्य ख्यातिवाद, सागरिका वर्ष 14, अंक 2
- पाठकः, केशवप्रसादः, "अद्वैतवेदान्ते अध्यासवादः", सागरिका वर्ष 9, अंक 1.
  "अद्वैत वेदान्ते प्रतिबिम्बवादः" सागरिका वर्ष 9, अंक 2.
- झा दामोदत्तः "शांकरवेदान्ते मोक्षस्वरूपम्", विश्वसंस्कृतम्, वर्ष 24, अंक 1-2
- पाण्डेय उमेशचन्द्र, जीवपरिमाण विचारः, सागरिका वर्ष, 10, अंक 3.

आंग्ल शोध-पत्र-पत्रिका

- Jha, R.N., 'Modeling Consciousness in Upanisads' Centre in Advance Study Pune University. २०१२.
- Jha, R.N., 'The Philosophy of Upanisads and Taoism' Prevail ing in Korean Culture in the 8th Pacific and Asia Conference on Korean Studies Organized by Jawaharlal Nehru University, New Delhi from 15-17 December, २००६.
- Jha, R.N., Upanisadic Science of Child Conception' in World Sanskrit Conference held from 5th to 9th April 2001 at Vigyan Bhawan, New Delhi, (ed.) Vachaspati Upadhyaya, published by S.L.B.S.R.S Vidyapeeth, २००७.
- Jha, IN.. The Upanishads Schopenhauer Solace of Life and Death. Understanding Schopenhauer through the Prism of Indian Culture" Edit. Arti burua, Michael Gerhard. Matthias Koller, Walter de Gruyter, २०१३.
- Jordans, J., The Development of the of Immortality in the Upani?ads' Journal of the Oriental Institute of Badoda, 1966-67, Vol. 16, Page 1.
- Kumar, Shashiprabha, 'Sankara on Kena Upanisad', Journal of Indian Council of Philosophical Research, 17(1), pp. १३३-१२६, delhi, १९९९.
- Kumar, Shashi Prabha, Vedic Conception of Human Body, Paper Presented at Ist Asian Mhilosophy Congress Organised by ICPR at JNU, during March 6-9, २०१० Proceding Under Publication

- Sharma, Ramesh Kumar, The Structure Of A Theory of Er ror- A Three Cornered Debate Studies In Humarities and Social Science Vol-3. No. 2. Winter १९९६. pp.201-257.
- Voice of Sankar, Adyar Library Bulletin, Madras.
- Vedanta Kesari, Advar Library Bulletin, Madras.
- Brahmvidya, Ramakrishna Math, Madras.
- Sambodhi, LD) Institute of Indology. Ahmdabad.
- Annals of Bhandarkar Oriental Research I

रिसर्च पेपर

रिसर्च पेपर प्रकाशन -

1) जैन,निधि, अद्वैत वेदान्त में आभासवाद : एक सैद्धान्तिक विश्लेषण
(आभासवाद,अवच्छेदवाद तथा प्रतिबिम्बवाद के विशेष सन्दर्भ में)
वैदिक एजुकेशनल रिसर्च सोसाइटी, वाराणसी, जुलाई-दिसम्बर २०१९.

2) जैन,निधि,अद्वैत वेदान्त में अवच्छेदवाद : एक सैद्धान्तिक विश्लेषण
(आभासवाद,अवच्छेदवाद तथा प्रतिबिम्बवाद के विशेष सन्दर्भ में)
PODDAR PUBLICATION, VARANASI, 2022.

UGC Approved Journal No – 48728
(IIJIF) Impact Factor - 4.034

ISSN 2249 - 8893

Annals of Multi-Disciplinary Research

A Quarterly International **Peer Reviewed** Refereed Research Journal

Volume 12 **Issue III** **September 2022**

Editor
Dr. Sarvesh Kumar
UPRTOU Allahabad

Chief Editor
Dr. R. P.S. Yadav
Incharge Director,
School of Humanities
UPRTOU Allahabad
www. annalsmdresearch.com

E-mail : annalsmdresearch@gmail.com www. annalsmdresearch.blogspot.com

अद्वैत वेदांत में अवच्छेदवादः एक सैद्धान्तिक विश्लेषण

*निधि जैन**

*भारतीय परम्परा में दर्शन का अत्यन्त महत्त्व रहा है । **"दृश्यते अनेन इति दर्शनम्"**। अर्थात् दर्शन शब्द दृश् धातु के ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है देखना ।[1] यहाँ देखने से तात्पर्य जानने से है । भारत मे दर्शन प्राचीन काल से विद्यमान रहा है। भारतीय दर्शन के दो प्रमुख वर्ग है - आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक दर्शनों में से वेदान्त एक प्रसिद्ध दर्शन है। वेदान्तोनाम उपनिषद् प्रमाण।[2] वेदान्त का अर्थ - वेद + अन्त। वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् को वेदान्त कहा जाता है। वेदान्त के प्रर्वतक बादरायण है। आ. बादरायण ने ब्रह्मसूत्र नामक ग्रन्थ की रचना की। ब्रह्मसूत्र पर विभिन्न आचार्यों ने अनेक भाष्य लिखे जिसमें शंकर का अद्वैत वेदान्त दर्शन प्रमुख है । अद्वैत - न द्वैतं इति अद्वैतं ।* इसका सामान्य अर्थ है कि जीव और ब्रह्म दो नही एक है इनकी व्यावहारिक रूप से दो प्रकार की सत्ता मानी गयी है लेकिन पारमार्थिक रूप से ब्रह्म ही इनकी एकमात्र सत्ता है इसलिये आचार्य शंकर के अनुसार *अद्वैत का अर्थ है 'एकमेव परमार्थ सत् अद्वयं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म एक, पारमार्थिक सत् एवं द्वैत से रहित है।*[3] प्रस्तुत शोध पत्र मे जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध पर विचार किया गया है तथा ब्रह्म जीव सम्बन्ध के प्रसंग मे अद्वैत वेदांत के प्रवर्तक आचार्य शंकर के ग्रंथो मे प्रसिद्ध वाद्त्रय पर चर्चा हुई है / उनके अनुसार वाद्त्रय के अंतर्गत आभासवाद,अवच्छेदवाद तथा प्रतिबिम्बवाद को प्रदर्शित किया गया है / अवच्छेदवाद के संस्थापक *भामती*कार वाचस्पति मिश्र है। अवच्छेदवाद में जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध पर विस्तृत चर्चा हुई है / शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के अभेद को स्वीकार किया है। उनके मत में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है वह परमार्थः ब्रह्मरूप ही है। श्रुतियों में जीव को अज नित्य और अविकारी कहकर अविकृत ब्रह्म को ही शरीर में जीवरूप में अवस्थित माना गया है शंकराचार्य जीव और ब्रह्म के औपाधिक भेद को नहीं मानते । जबकि प्रतिबिम्बवाद के प्रवर्तक प्रकाशात्म्यति के मत में जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है जैसे एक ही सूर्य/चन्द्र भिन्न जल उपाधि*यों (कुएँ* तालाब, नदी, सागर आदि) के कारण भिन्न नाम रु*पों*वाला हो जाता है उसी प्रकार एक ब्रह्म का एक होने पर भी यह अविद्या अन्तःकरण मे प्रतिबिम्बित होकर अनेक जीव रुप हो जाता है। प्रस्तुत शोध पत्र अद्वैत वेदांत मे वाचस्पति मिश्र कृत अवच्छेदवाद के ग्रन्थों के द्वारा उपन्यस्त *भामती*-प्रस्थान के अध्ययन से संबंधित है, अतः यहाँ *भामती*-प्रस्थान का निष्पक्ष विश्लेषण किया गया है /

मूलशब्द – अन्तःकरण, अपरिच्छिन्न, सर्वनियन्तृत्व, अवच्छिन्न, मठाकाश |

प्रस्तावना :-

अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक आचार्य शंकर के भाष्य एवं प्रकरण ग्रन्थों में सुलभ आभासवाद, अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद की शब्दावली में अद्वैत सिद्धान्त का निष्पक्ष विश्लेषण किया गया तथा यह भी बताया गया है कि शांकर ग्रन्थ से इन त्रिविध शब्दावलियों ने शंकारचार्य के शिष्यों द्वारा परस्पर विविक्त त्रिविध प्रस्थान का रूप धारण किया, जिनमें से एक इस शोध पत्र का विषय अवच्छेदवाद भी है। यह मत भामतीकार वाचस्पति मिश्र का है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ब्रह्म-जीव सम्बन्ध में अवच्छेदवाद को ग्रहण करते हैं। इनका मानना है कि जैसे एक आकाश होने पर भी घट तथा मठ आदि उपाधियों से अवच्छिन्न होकर घटाकाश और मठाकाश आदि अनेक रूपों वाला हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म स्वयं एक होकर अन्तःकरण से अवच्छिन्न होकर अनेक जीवों के रूप में प्रतीत हो जाता है।

* शोधच्छात्रा, संस्कृतविभाग, मानविकी एवं समाजविज्ञान विद्यापीठ, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, राजस्थान

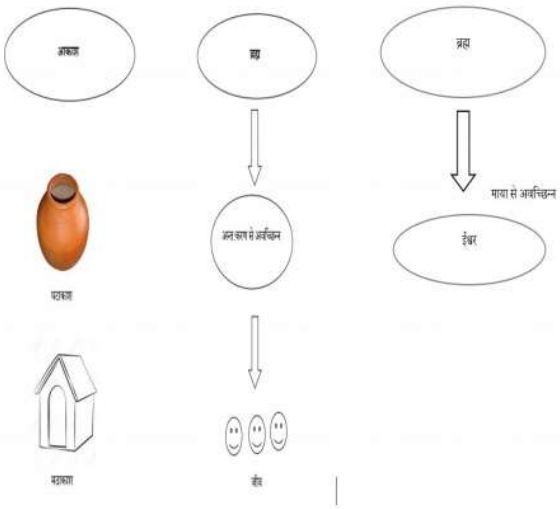

शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के औपाधिक भेद के प्रदर्शन के लिये घटाकाश आदि अवच्छेद परक दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। उन्होंने देहेन्द्रियमनबुद्धयवच्छिन्न को जीव कहा है। उनका कथन है कि जैसे अपरिच्छिन्न आकाश घटकरकादिरूप उपाधियों के कारण परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है, वैसे ही अपरिच्छिन्न आत्मा देहादिरूप उपाधियों के कारण परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र के "ईक्षत्यधिकरण" में वे कहते हैं कि संसारी जीव ईश्वर से अन्य नहीं। जैसे घटकरकागिरिगुहादि उपाधियों के संसर्ग से तदवच्छिन्न व्योम भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही देहादिसंघातरूप उपाधि के संबन्ध से आत्मा में भेद की प्रतीति होती है। देहादिसंघातरूप उपाधि संबन्ध के अविवेक के कारण ईश्वर तथा संसारी जीव के भेद की मिथ्या बुद्धि होती है।[4] अन्तर्याम्यधिकरणभाष्य में वे कहते हैं कि शरीर (जीव) और अन्तर्यामी को भेद का व्यपदेश अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकारणोपाधि के कारण है, पारमार्थिक नहीं। एक ही प्रत्यगात्मा का उपाधि कृत भेद से घटाकाश और महाकाश के समान भेदव्यवहार होता है।[5] इसी प्रकार आत्माधिकरण भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा के विभाग का प्रतिभान बुद्ध्यादि उपाधियों के निमित्त है जैसे आकाश का भेदप्रतिमान घटादिसम्बन्ध के कारण होता है।[6] इसी तरह आरम्भणाधिकरणभाष्य में शंकराचार्य ने ईश्वर के ईश्वरत्व को भी अविद्याकृतना मरूपोपाधिनिमित्त ही माना है। वे कहते हैं कि ईश्वर का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तिमत्व अविद्यात्मक उपाधिपरिच्छेद की अपेक्षा से ही है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि विद्या के द्वारा सभी उपाधियों के विनष्ट हो जाने पर आत्मा में ईशितृ, ईशितव्य, सर्वज्ञत्व आदि का व्यवहार उत्पन्न नहीं होता।[7] इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि आनन्दरूप आत्मा ही अविद्या से परिच्छिन्न होकर जीव रूप में भासित होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि शंकराचार्य ने जीव और ईश्वर के स्वरूप के प्रतिपादन के लिए अपने भाष्यग्रन्थों में अनेकस्थलों पर घटाकाशादि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने भाष्यकार की इस प्रकार की पंक्तियों के आधार पर अवच्छेदवाद का प्रतिपादन किया है। उन्होंने नीरूप चिदात्मा के प्रतिबिम्बित होने की

असंभावना को प्रदर्शित कर प्रतिबिम्बवाद के अनौचित्य को भी प्रदर्शित किया है। अध्यासभाष्य में वे कहते हैं कि रूपवान् द्रव्य अत्यधिक स्वच्छ होने के कारण पृथक रूप से गृह्यमाण रूपवान् द्रव्यान्तर की छाया को ग्रहण करने में समर्थ होता है। किन्तु चिदात्मा तो रूपरहित विषयी है, अतः वह विषय की छाया को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। कहा भी गया है कि शब्द, गन्ध, रस आदि का प्रतिबिम्ब नहीं होता।[8]

इस तरह भामतीकार ने नीरूप चिदात्मा के प्रतिबिम्बित होने की असंभावना को प्रदर्शित करते हुए प्रतिबिम्बवाद के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की है। साथ ही उन्होंने भामती में अनेक स्थलों पर अवच्छेदवाद का प्रतिपादन एवं समर्थन किया है। ब्रह्मसूत्र के इतर व्यपदेशाधिकरण में वे कहते हैं कि जैसे घटकरकादि उपाधियों से आकाश भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा अविघोपाधिभेद से भिन्न प्रतीत होता है।[9] इसी तरह आत्माधिकरण में भामतीकार कहते हैं कि जीव और ब्रह्म के भेद के औपाधिक होने के कारण घटकरकाघुपहित आकाश के समान इनके विरुद्धधर्मसंसर्ग की उपपत्ति होती हैं।[10] कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण में वे कहते हैं कि जैसे घटाकाश परमाकाश से अन्य नहीं, तथापि घट की सत्ता तक वह अन्य-सा प्रतीत होता है वैसे ही अनादि अनिर्वचनीय उपाधि से कल्पित जीव वस्तुतः परमात्मा से भिन्न नहीं है। उपाधि के उद्भव और अभिभव से वह उद्भूत-सा एवं अभिभूत-सा प्रतीत होता है।[11] भामतीकार की उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि उनके मत में उपाध्यवच्छिन्न चैतन्य ही जीव है और वे अवच्छेदवाद के समर्थक हैं। भाष्यकार शंकराचार्य द्वारा प्रदर्शित घटाकाश आदि दृष्टान्तों की संगति भी अवच्छेदवाद में ही लग पाती है। इससे सूचित होता हैं कि वे भी अवच्छेदवाद के ही समर्थक हैं। इस पर यह कहा जा सकता है कि जैसे भाष्यकार ने अवच्छेदपरक घटाकाश आदि दृष्टान्तों का प्रयोग किया है, वैसे ही उन्होंने प्रतिबिम्बपरक जलसूर्यक आदि दृष्टान्तों का भी प्रयोग किया है। अतः घटाकाश आदि दृष्टान्तों के आधार पर यह कैसे माना जा सकता है कि भाष्यकार की अवच्छेदवाद में ही अभिरुचि है प्रतिबिम्बवाद में नहीं।

उपर्युक्त शङ्का के संबन्ध में परिमलकार अप्पयदीक्षित का यह कथन है कि यद्यपि भाष्यकार ने अपने ग्रन्थों में प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का भी प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है, तथापि उनका यह प्रयोग "वृद्धिह्रासभाक्त्व" इस सूत्र में वर्णित वृद्धिह्रासादिसादृश्यमूलक होने के कारण गौण है।[12] स्वयं शंकराचार्य ने ''अम्बुवदग्रहात्तु न तथात्वम्" इस सूत्र के भाष्य में अमूर्त आत्मा के प्रतिबिम्बित होने की संभावना को स्वीकार किया है तथा अगले सूत्र में यह बताया है कि यद्यपि जल सूर्यकादि के समान अमूर्त आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता तथापि जलसूर्यकादि दृष्टान्तों का प्रयोग वृद्धिह्रासादिसादृश्य के प्रतिपादन के निमित्त ही किया गया है।[13] जिस प्रकार सूर्यादिप्रतिबिम्ब-जलाद्युपाधिगतवृद्धिह्रासादि के कारण वृद्धिह्रासादि को प्राप्त करता है। वैसे ही आत्मा भी अन्तःकरणादिगत वृद्धिह्रासादि के निमित्त वृद्धिह्रासादि को प्राप्त होता है, इतना ही जलसूर्यादि दृष्टान्त के द्वारा विवक्षित है, आत्मा का प्रतिबिम्बि होना नहीं क्योंकि दृष्टान्त तथा द्राष्टान्तिक में सर्वथा साम्य अपेक्षित नहीं होता।[14] इसी प्रकार बृहदारण्यक भाष्य में भी ''स एव इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः'' इस वाक्य के व्याख्यान के अवसर पर सर्वगत आत्मा का देहादि में प्रवेश कैसे हो सकता है, यह शङ्का उठाई गई है। पहले इस शङ्का का समाधान देहादि में आत्मा के प्रतिबिम्ब के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु पीछे यह कह कर कि विप्रकृष्टदेशस्थ उपाधि के अभाव के कारण यह संभव नहीं दूसरा समाधान दिया गया है और कहा गया है कि देहादि में आत्मा का उपलभ्यमानत्व ही प्रवेशपद से विवक्षित है। पाषाणादि के समान देहादि में आत्मा की अनुपलब्धि नहीं होती, यही आत्मा के देहादि में प्रवेश का तात्पर्य है।[15] इस तरह बृहदारण्यक भाष्य में भी शंकराचार्य ने प्रतिबिम्बपक्ष में दोष प्रदर्शित किया है। अतः प्रतिबिम्बवाद शंकराचार्य द्वारा अभिमत नहीं है।

इस प्रकार भामतीप्रस्थान में प्रतिबिम्बवाद में दोष दिखला कर अवच्छेदवाद का समर्थन किया गया है तथा जीव को अन्तःकरणोपाध्यवच्छिन्न चैतन्य के रूप में माना गया है। इसके विपरीत विवरण प्रस्थान में प्रतिबिम्बवाद का

समर्थन किया गया है तथा जीव को अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चैतन्य के रूप में स्वीकार किया गया है। विवरणकार प्रकाशात्मयति ने अवच्छेदवाद में दोष दिखलाकर इसके निराकरण का प्रयत्न किया है। विवरणप्रस्थानानुयायी अन्य विचारकों ने भी अवच्छेदवाद में अनेक दोष प्रदर्शित किये है। अब हम आगे अवच्छेदवाद में प्रदर्शित दोषों के संबन्ध में समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

अवच्छेदवाद में प्रदर्शित दोषों पर समीक्षात्मक विचार

अवच्छेदवाद के सम्बन्ध में विवरणकार का यह आक्षेप है कि इसके अनुसार अन्तर्यामिब्राह्मण की संगति नहीं लगती। बृहदारण्यक उपनिषद की "य आत्मानमन्तरोयमयति" (बृहदारण्यकोपनिषद् ३।७।२२) इत्यादि श्रुति में यह बात जीव को अन्तःकरणोपाध्यवच्छिन्न चैतन्य के रूप में मानने पर संभव नहीं है। क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य रूप जीव में अनवच्छिन्न चैतन्य रूप ब्रह्म अवस्थित नहीं हो सकता। जैसे घट में घटावच्छिन्न आकाश अर्थात् घटाकाश की ही वृत्ति होती है , अनवच्छिन्न आकाश की नहीं , वैसे ही अवच्छिन्न जीव में अनवच्छिन्न चैतन्य की वृत्ति संभव नहीं है। अतः अवच्छेदवाद में द्विगुणित चैतन्य की वृत्ति संभव न होने से अन्तर्यामिब्राह्मण को संगति नहीं होती। इसके परिणामस्वरूप ब्रह्म के सर्वगतत्व ,सर्वनियन्तृत्व आदि की हानि होती है।[16] प्रतिबिम्बपक्ष में तो चैतन्य की द्विगुणितवृत्तिता में कोई आपत्ति नहीं है ; क्योंकि जैसे जल में स्वभावतः रहने वाले आकाश तथा जल में प्रतिबिम्बित आकाश दोनों की एकत्र ही वृत्ति संभव है वैसे ही जीवावच्छेदों के भीतर ब्रह्म का नियन्तृत्वरूप से अवस्थान उपपन्न है।[17] इस प्रकार विवरणकार ने अवच्छेदवाद में अन्तर्यामिब्राह्मण की असंगति तथा प्रतिबिम्बवाद में इसकी संगति दिखाते हुए प्रतिबिम्बवाद को श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहा है। विवरणप्रमेय संग्रहकार विद्यारण्यमुनि ने भी अवच्छेदवाद में उपयुक्त दोष को प्रदर्शित करते हुए प्रतिबिम्बवाद के साधुत्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है।[18]

किन्तु यदि हम अवच्छेदवाद के विरुद्ध प्रदर्शित दोष पर विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि उपर्युक्त दोष प्रतिबिम्बवाद में भी समान रूप से प्रतीत होता है। अवच्छेदवाद के समान प्रतिबिम्बवाद में भी पूर्वोक्त अन्तर्यामिब्राह्मण की संगति नहीं होती क्योंकि इसमें भी चैतन्य की द्विगुणितवृत्तिता संभव नहीं है। प्रतिबिम्बपद में भी उसी चैतन्य का उपाधि में प्रतिबिम्ब मानना होगा, जिसका उपाधि में अवस्थान नहीं है। जलचन्द्र के दृष्टान्त से संपूर्ण चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकेगा। उपाधि के अन्तर्गत चैतन्य का उपाधि में प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता।[19] मेघावच्छिन्न आकाश आदि का जैसे जल में प्रतिबिम्ब होता है वैसे जलान्तर्गत आकाश आदि का जल में प्रतिबिम्ब नहीं होता। उसी प्रकार जैसे बहिःस्थित मुख का जल में प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, वैसे जल में विद्यमान मुख का नहीं। इससे सिद्ध होता है कि उपाधिकुक्षि में अप्रविष्ट का ही प्रतिबिम्ब होता है। उपाधिकुक्षि में प्रविष्ट का नहीं। और क्योंकि अन्तःकरणादि उपाधि के प्रतिबिम्ब के प्रति उपाधि में अप्रविष्ट ही बिम्ब बन सकता है, इस कारण बिम्बभूत चैतन्य के विकार के अन्दर अवस्थान का अयोग होने से प्रतिबिम्बपद में भी अन्तर्यामि ब्राह्मण की असमजसता तुल्य ही है।[20]

अवच्छेदवाद में एक दूसरे दोष की भी आशङ्का की गई है। यदि जीव को अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो उसके कर्म करने तथा कर्मफल की भोगने के समय में पृथ्वी तथा स्वर्ग आदि में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रदेशों के भिन्न-भिन्न होने के कारण कृतज्ञान तथा अकृताभ्यागम रूप दोष की प्रसक्ति होगी।[21]

इस शङ्का के समाधान में सिद्धान्तलेशसंग्रहकार अध्ययदीक्षित कहते हैं कि उपर्युक्त दोष प्रतिबिम्बबाद में भी समानरूप से ही प्रसक्त होता है। प्रतिबिम्बपक्ष में भी उपाधि में अनन्तर्गत एवं उपाधि के सन्निहित चैतन्य प्रदेश का ही अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब संभव है। अतएव उस उस स्थल में अन्तःकरण के गमन से बिम्ब का भेद होने के कारण प्रतिबिम्ब का भेद भी अवश्यंभावी है। यदि पूर्वोक्त दोष के निवारण के लिये जीव को अन्तः करणप्रतिबिम्बितचैतन्य के रूप में न मानकर अविद्या प्रतिबिम्बित चैतन्य के रूप में माना जाय तो अवच्छेदवाद में भी जीव को

अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य मानने के स्थान पर अविद्यावच्छिन्न चैतन्य मानकर पूर्वोक्त दोष का निवारण किया जा सकता है । जैसे - प्रतिबिम्बवाद में प्रतिबिम्ब भेद रूप दोष का निराकरण यह कहकर किया जाता है कि अन्तःकरण के समान अविद्या में गति न होने से प्रतिबिम्ब भेद की प्रसक्ति नहीं होती वैसे ही अवच्छेदवाद में भी अन्तःकरण के स्थान पर अविद्या को मानकर पूर्वोक्त दोष का निराकरण संभव है।[22]

किन्तु अवच्छेदवाद में प्रदर्शित पूर्वोक्त दोष का निराकरण अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है। अवच्छेदवाद के अनुसार एक अन्तः करण से अवच्छिन्न चैतन्य एक जीव है और अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य अन्य जीव है इसलिए अन्तःकरणों के भिन्न-भिन्न होने के कारण जीवन्तरकृत कर्मों के जीवान्तरों से भोग की प्रसक्ति नहीं होती।

अवच्छेदवाद के सम्बन्ध में विद्यारण्यस्वामी ने एक अन्य दोष भी प्रदर्शित किया है। उनका कथन है कि यदि आभास शून्य अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को प्रमाता माना जाय तो घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य को भी प्रमाता (जीव) मानना पड़ेगा। क्योंकि घटादि के समान अन्तःकरण भी भूतवर्गों का कार्य होने से भौतिक है। किन्तु प्रतिबिम्बवाद में इस दोष की प्रसक्ति नहीं होती क्योंकि इसमें व्यापक चैतन्य तथा आभार चैतन्यरूप द्विविध प्रकाश से युक्त अन्तःकरण को ही प्रमाता माना जाता है, केवल व्यापक चैतन्य से युक्त घटादि को नहीं अन्तःकरण भूतवर्ग के सत्त्वगुण का कार्य होने से स्वच्छ है और स्वच्छ पदार्थ ही प्रतिबिम्ब ग्रहण में समर्थ है, मलिन पदार्थ नहीं। अत स्वच्छ अन्तःकरण ही चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ हैं, मलिन घटादि नहीं। अतः प्रतिबिम्बवाद के अनुसार घटादि पदार्थ आभास चैतन्य से रहित होने के कारण प्रमाता नहीं है। किन्तु अवच्छेदवाद में तो अन्तःकरण भी घटादि के समान आभास चैतन्य से रहित है। अतः यदि केवल व्यापक चैतन्य के आधार पर अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य को प्रमाता माना जाय तो व्यापकचैतन्य के आधार पर ही घटविशिष्ट चैतन्य को प्रमाता क्यों न माना जाता । इस प्रकार अवच्छेदवाद में घटादिविशिष्ट चैतन्य में भी प्रमातृत्व की प्रसक्ति अपरिहार्य है।

उपसंहार:- पूर्ववत् शंका के समाधान में अवच्छेदवाद के समर्थकों का यह कथन है कि जैसे प्रतिबिम्बवाद में अन्तःकरण के स्वच्छ होने के कारण अन्तः करण में ही प्रतिबिम्बग्राहिता मानी जाती है, घटादि में नहीं। वैसे ही अवच्छेदवाद में भी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में ही प्रमातृत्व माना जाता है, घटावच्छिन्न चैतन्य में नहीं चैतन्य के व्यापक होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति (प्रकाश) अन्तःकरण में ही होती है, घटादिमलिन पदार्थों में नहीं । अतः अवच्छेदवाद में भी घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य में प्रमातृत्व की प्रसक्ति नहीं होती।

इस प्रकार स्पष्ट है की अवच्छेदवाद में जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। शंकराचार्य के शिष्य वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म-जीव सम्बन्ध में अवच्छेदवाद को स्वीकार किया है। इनका मानना है कि जैसे एक आकाश होने पर भी घट तथा मठ आदि उपाधियों से अवच्छिन्न होकर घटाकाश और मठाकाश आदि अनेक रूपों वाला हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म स्वयं एक होकर अन्तःकरण से अवच्छिन्न होकर अनेक जीवों के रूप मे प्रतीत हो जाता है।

सन्दर्भ :

- डॉ आनन्द प्रकाश त्रिपाठी, २००६, भारतीय दर्शन, , मैसर्स यूनिवर्सिटी बुक हाउस प्रा.लि. , जयपुर.
- वेदान्तसार, डॉ सत्य नारायण श्री वास्तव्य, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, २०१९.
- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, सम्पा० कन्हैया लाल जोशी (भामती, कल्पतरु,परिमल,टीकाओं सहित),परिमल पब्लिकेशन्स,दिल्ली 1982.
- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् (सत्यानन्दी-दीपिकया- समकङ्कृतम्) व्या० सत्यानन्द सरस्वती, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २००७.

- चतुःसूत्री ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् (ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका हिन्दी व्याख्या सहित), व्या० आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६६.
- पञ्चपादिका (पद्मपाद कृत), अनु० किशोरीलाल स्वामी, रामतीर्थ मिशन, देहरादून, 2001.
- पञ्चपादिकाविवरण(प्रकाशात्मयति कृत), इ. जे, लाजरस कम्पनी,बनारस, 1998.
- भामती (वाचस्पति मिश्र कृत), व्या० स्वामी योगीन्द्रानन्द, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2005.
- पञ्चपादिकाविवरण (प्रकाशात्मयति कृत), अनु० किशोरीलाल स्वामी, रामतीर्थ मिशन, देहरादून, 2001.
- विवरणप्रमेयसंग्रह(विद्यारण्यमुनि कृत),सम्पा०कृष्णपन्तशास्त्री,अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी,1906.
- विवेकचूडामणि(शंकराचार्य कृत) सम्पा० मनोहरलाल शर्मा, चितरंजन एवेन्यु कलकत्ता,1983.
- वेदान्तपरिभाषा(धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत) (प्रकाश हिन्दी व्याख्या सहित), सम्पा० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी,1973.
- Deussen Paul, The System of the Vedanta, Motilal Banarasi Das, New Delhi,1972
- शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन –आलोचन एवं अनुशीलन,मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली, 1990.

---

[1] डॉ आनन्द प्रकाश त्रिपाठी, २००६, भारतीय दर्शन, , मैसर्स यूनिवर्सिटी बुक हाउस प्रा.लि. , जयपुर , , पृष्ठ ०२.

[2] वेदान्तसार,डॉ सत्य नारायण श्री वास्तव्य ,चौखम्भा विद्याभवन , वाराणसी, २०१९.

[3] भारतीय दर्शन, डॉ आनन्द प्रकाश त्रिपाठी , मैसर्स यूनिवर्सिटी बुक हाउस प्रा.लि. , जयपुर , २००६ , पृष्ठ ०२०३ .

[4] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य १।१।५

[5] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य १।२।२

[6] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य २।३।१७

[7] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य २।१।१४

[8] भामती, पृष्ठ ७-८

[9] ब्रह्म सूत्र २/१/२१, भामती, पृष्ठ ४७२

[10] ब्रह्म सूत्र २/३/१७, भामती,, पृष्ठ ६०२

[11] ब्रह्म सूत्र ३/२/९, भामती, पृष्ठ ७०५

[12] ब्रह्म सूत्र, वेदान्त कल्पत परिमल, पृष्ठ १५९

[13] ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य ३।२।२०

[14] वेदान्त कल्पत परिमल १।१।४, पृष्ठ १५८

[15] वेदान्त कल्पत परिमल १।१।४, पृष्ठ १५८

[16] पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २८९-९०

[17] पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २८९-९०

[18] विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ २३२

[19] सिद्धान्तलेशसंग्रह पृष्ठ ११२

[20] सिद्धान्तलेशसंग्रह पृष्ठ ११३

[21] सिद्धान्तलेशसंग्रह पृष्ठ ११३ तथा सिद्धान्त बिन्दु विवरणप्रमेयसंग्रह ।

[22] सिद्धान्तलेशसंग्रहकार पृष्ठ ११४-१५

***

IIJ Impact Factor : 2.193 ISSN 2349-364X

वेदाञ्जली

अन्तर्राष्ट्रीय विद्वत्समीक्षित षाण्मासिकी शोधपत्रिका

(International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research)

वर्ष-६ अंक-१२, भाग-१ जुलई-दिसम्बर, २०१९

प्रधान सम्पादक
डॉ० रामकेश्वर तिवारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर, श्री बैकुंठनाथ पवहारी संस्कृत महाविद्यालय
बैकुंठपुर, देवरिया

सह सम्पादक
श्री प्रसून मिश्र

प्रकाशन : वैदिक एजूकेशनल रिसर्च सोसाइटी, वाराणसी

अद्वैत वेदांत मे आभासवाद : एक सैद्धान्तिक विश्लेषण

निधि जैन* व डॉ० कपिल गौतम**

प्रबंध सार (Abstract) – भारतीय परम्परा में दर्शन का अत्यन्त महत्त्व रहा है।" **दृश्यते अनेन इति दर्शनम्** "। अर्थात्दर्शन शब्द दृश् धातु से ल्युट्प्रत्यय से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है देखना| यहाँ देखने से तात्पर्य जानने से है| भारत मे दर्शन प्राचीन काल से विघमान रहा है। भारतीय दर्शन के दो प्रमुख वर्ग है – आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक दर्शनों में से वेदान्त एक प्रसिद्ध दर्शन है। वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणम्| वेदान्त का अर्थ- वेद+अन्त। वेद के अन्तिम भाग उपनिषद्को वेदान्त कहा जाता है। वेदान्त के प्रर्वतक बादरायण है। आ. बादरायण ने ब्रह्मसूत्र नामक ग्रन्थ की रचना की। ब्रह्मसूत्र पर विभिन्न आचार्यो ने अनेक भाष्य लिखे जिसमें शंकर का अद्वैत वेदान्त दर्शन प्रमुख है। **अद्वैत - न द्वैतं इति अद्वैतं**| इसका सामान्य अर्थ है कि जीव और ब्रह्म दो नही एक है इनकी व्यावहारिक रूप से दो प्रकार की सत्ता मानी गयी है लेकिन पारमार्थिक रूप से ब्रह्म ही इनकी एकमात्र सत्ता है इसलिये आचार्य शंकर के अनुसार अद्वैत का अर्थ है *एकमेव परमार्थ सत् अद्वयं ब्रह्म* 'अर्थात्ब्रह्म एक, पारमार्थिक सत् एवं द्वैत से रहित है। प्रस्तुत शोध पत्र मे जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध पर विचार किया गया है तथा ब्रह्म जीव सम्बन्ध के प्रसंग मे अद्वैत वेदांत के प्रवर्तक आचार्य शंकर के ग्रंथो मे प्रसिद्ध वादत्रय पर चर्चा हुई है| उनके अनुसार वाद्त्रय के अंतर्गत अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद तथा आभासवाद को प्रदर्शित किया गया है| आभासवाद के संस्थापक सुरेश्वराचार्य है| आचार्य शंकर के बृहदारण्यकोपनिषद् पर आचार्य सुरेश्वर ने बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक की रचना कर आभास प्रस्थान का विकास किया| आभासवाद में जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध पर विस्तृत चर्चा हुई है | शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के अभेद को स्वीकार किया है। उनके मत में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है वह परमार्थ: ब्रह्मरूप ही है। श्रुतियों में जीव को अज नित्य और अविकारी कहकर अविकृत ब्रह्म को ही शरीर में जीवरूप में अवस्थित माना गया है शंकराचार्य जीव और ब्रह्म के औपाधिक भेद को नहीं मानते।जबकि आभासवाद के प्रवर्तक सुरेश्वराचार्य के मत में जीव चैतन्य का आभास रूप होने के कारण मिथ्या है। उनके मत में ईश्वर भी जीव के समान आभास रूप होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। सुरेश्वराचार्य ने अविद्या में चैतन्य के आभास को ईश्वर तथा बुद्धि में चैतन्य के आभास को जीव माना है। उन्हीने जीव के स्वरूप को समझाने के लिए स्फटिक लौह इत्यादि आभास परक दृष्टान्तों की उपयोगिता एवं विशेषता को बताया है | प्रस्तुत शोध पत्र अद्वैत वेदांत मे सुरेश्वराचार्य कृत आभासवाद का विश्लेषण किया गया है|

मूलशब्द - आभासवाद, अज्ञान, कारण , कार्य|

प्रस्तावना - अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक आचार्य शंकर के भाष्य एवं प्रकरण ग्रन्थों में सुलभ आभासवाद , अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद की शब्दावली में अद्वैत सिद्धान्त का निष्पक्ष विश्लेषण किया गया तथा यह भी बताया गया है कि शांकर ग्रन्थ से इन त्रिविध शब्दावलियों ने शंकारचार्य के शिष्यों द्वारा परस्पर विविक्त त्रिविध प्रस्थान का रूप धारण किया, जिनमें से एक इस शोध पत्र का विषय आभासवाद भी है। यह मत सुरेश्वराचार्य का है। शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य ने इस प्रकार की पंक्तियों के आधार पर वार्तिक लिख जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में आभासवाद'का प्रवर्तन किया। उन्होंने जीव को अविद्या के कार्य बुद्धि में परमात्मा का आभास माना है -

अविद्या कार्य बुद्धिस्थ प्रत्यगाभासरूपवत्। बोद्वेत्यादि समुत्थानं भण्यते परमात्मनः।।[1]

वे कहते है की चिदाभास जब नाना रूपों मे मन बुद्धि आदि उपाधियो में आश्रित होता है तब भेदभाव आपन्न होकर नाना जीव रूपता को प्राप्त हो जाता है |[2] चिदाभास की अविवेक भ्रान्ति के कारण कार्यकारण रहित चैतन्य को भी संसारी समझ लिया जाता है किन्तु संसारित्व उसमे वैसे ही कल्पित है जैसे नभस्तल में नीलिमा|

शंकराचार्य के मत में आभास स्वरूप - शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में जहाँ जीव को परमात्मा का प्रतिबिम्ब कहा है वहाँ इसे परमात्मा का आभास भी बतलाया है। शारीरकभाष्य में जीव के विवेचन के प्रसङ्ग में वे

*शोधच्छात्रा, संस्कृतविभाग, मानविकी एवं समाज विज्ञान विद्यापीठ, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, राजस्थान
**सहायक-आचार्य, संस्कृत विभाग, मानविकी एवं समाज विज्ञान विद्यापीठ, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, राजस्थान

कहते हैं कि जीव को जलसूर्यकादि के समान परमात्मा का आभास समझना चाहिए *'आभास एष चैव जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रत्तव्यः'।*[4] छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में भी उन्होंने जीव को आभासमात्र बतलाया है- *'जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रम्'।*[5]

सुरेश्वराचार्य के मत में आभास स्वरूप - आचार्य सुरेश्वर के ग्रन्थों में आभास का कोई प्रतिपदोक्त लक्षण नहीं प्राप्त होता है। एक स्थान पर उन्होंने प्रत्यङ् मात्र चेतन व्यतिरिक्त अन्य समस्त नाम रुपात्मक पदार्थों को चिदाभास कहा है।[6] अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि चिदाभास न तो वास्तविक है , न अवास्तविक, न चैतन्य व्यतिरिक्त है और न चैतन्याव्यतिरिक्त है। [7] अविचारित-संसिद्ध तम के समान इसकी उत्पत्ति है अतः सह अविचारित-संसिद्ध है।[8] आभास कारणता का वह काल्पनिक तत्व है जिसके अभाव में नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव , निदर्वय, निष्क्रिय, निरंजन, निर्लिप्त ब्रह्म का अनेक नाम - रूपात्मक प्रपंच के रूप में अवभासन संभव नहीं क्योंकि आभास रूप फलक पर समारूढ़ होकर ही चेतन तत्त्व अज्ञान एवं अज्ञानज भूमियों में स्थित पर असंबद्ध रह ईश्वराद्यात्मक रूपों में प्रतीत होता है।[9] प्रत्यक् चैतन्य रुप आत्म वस्तु के इस आभास को आचार्य सुरेश्वर ने कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि सम्पूर्ण अभिमान का मूल माना है।[10] यद्यपि अज्ञान एवं अज्ञानज वस्तु व्रात इन सब में आभास नित्य अन्वित रहता है [11] तथा अज्ञानादि उपाधियों के नष्ट होनें पर आभास का नाश उसी प्रकार हो जाता है जैसे घटोदकादि के नष्ट होने के पश्चात् अर्क का प्रविलयन हो जाता है।[12]

आभासवाद के प्रवर्तक सुरेश्वराचार्य के मत में जीव-चैतन्य का आभासरूप होने के कारण मिथ्या है। उनके मत में ईश्वर भी जीव के समान आभास रूप होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। सुरेश्वराचार्य ने अविद्या में चैतन्य के आभास को ईश्वर तथा बुद्धि में चैतन्य के आभास को जीव माना है।

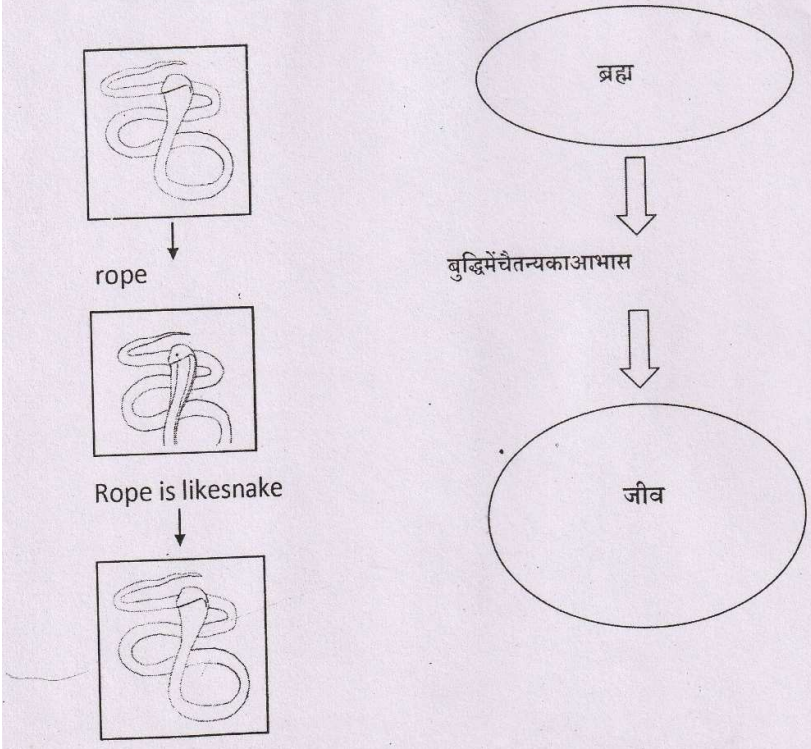

चिदाभास के द्विविध रूप : अज्ञान तथा अज्ञानज कार्यावभासित आत्माभास को सुरेश्वराचार्य ने (१) कारणाभास तथा (२) कार्याभास -इन द्विविध रूपों में प्रतिपादित किया है। [13] उनके ग्रन्थों के परिशीलन से आभास के उक्त द्विविध रूपों के स्वरूपादि की प्रतिपत्ति निम्न प्रकार से होती है-

१. कारणाभास – मोहगत आभास कारणाभास है। कारणाभास चैतन्यमात्रोपादानक है ,अतः इसे सुरेश्वराचार्य ने कूटस्थात्मैकहेतूत्थ[14] एवं प्रत्यक्प्रज्ञोत्थित [15] कहा है। आत्मा के कारणत्वादि के प्रयोजक अज्ञान में नित्य संस्थित रहने के कारण[16] इस चिदाभास को कारणाभास कहा जाता है स्वोपादान अर्थात् चैतन्यानुरोधी होने के कारण एक अन्य वार्तिक[17] में इसे चेतनाभास पद से भी निर्दिष्ट किया गया है तथा आत्मलक्षणास्पद माना गया है। आत्म लक्षणानुरोधी होने के कारणाभास का किसी भी पदार्थ से वस्तुतः सम्बन्ध नहीं हो सकता। [18] कारण चिदाभास को आत्मलक्षणास्पद कहने का अभिप्राय एतावन्मात्र है कि चिदाभास के द्वारा अज्ञान तथा अज्ञानज पदार्थ -सार्थ की सत्ता एवं स्फूर्ति होती है परन्तु यह नहीं कि कारणाभास शुद्ध -बुद्ध-मुक्त स्वभाव ब्रह्मवत् शुद्ध ,असङ्ग, उदासीन , अधिकारी ,अनन्त तथा षड्विषय विकार रहित है। इसको कूटस्थात्मैकहेतूत्थ कहने से भी यह अभिप्रेत नहीं हो सकता कि आत्मा के कारणत्वादि की प्रयोजिका अविद्या के अभाव में कारणाभास का उत्थान हो जाता है।

क्योंकि कभी-कभी सुरेश्वराचार्य ने मोहोत्थ [19] कहकर इसके अज्ञान जन्यत्व को भी समर्थित किया है। आत्मलक्षणानुरोधित्व के समान आत्मैकहेतूत्थ से अभिप्रेत तथ्य यहीं है कि यह कारणाभास चित्समविशेषणावगाहि होता हुआ जड़ पदार्थों का प्रकाशनादि करता है। मोह के साथ इसका नित्यान्वय स्वीकार करने से यह सिद्ध हो जाता है कि कारण चिदाभास का आश्रय तथा विषय अज्ञान है।[20]चैतन्य सह विद्यमान होने के कारण इसका अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य होगा।[21]

कारणाभास की चिदज्ञानोभयजन्यता का स्पष्टीकरण - कारणाभास के लिए चित् तथा अज्ञान इन दोनों की कारणता के स्वरूप का स्पष्टीकरण आवश्यक है। चिदाभास का अर्थ हे चित्प्रतियोगिक आभास। अज्ञान में सदैव संस्थित रहने के कारण इसे अज्ञानानुयोगिक कहा जायेगा। आभास अपने प्रतियोगी चित् तथा अनुयोग अज्ञान इन दोनों से जन्य होने के कारण प्रतियोग्यनुयोरयुभयोपादानक होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रतियोगी रूप से कारणाभास का जनक चित् है तथा अनुयोगी रूप से कारणाभास का जनक अज्ञान है। प्रतियोगित्वेन कारणाभास की जनकता से ब्रह्म की निर्धर्मकता का कोई विरोध नहीं क्योंकि ब्रह्म अपने तुरीय रूप में तादृश प्रतियोगित्वोपलक्षित रहता है।

२.कार्याभास- अज्ञानज वस्तु -व्रात में प्रतिफलित आभास को कार्याभास कहा गया है। नैष्कर्म्य सिद्धि [22] में सुरेश्वराचार्य ने कार्याभास का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया है - **यश्चायं क्रियाकारकफलात्मक आभास ईषदपि परमार्थवस्तु न स्पृशति तस्य मोहमात्रोपादानत्वात्।'**

उपर्युक्त पंक्ति से यह स्पष्ट होता है कि क्रिया , कारक एवं फल रूप कार्याभास का उपादान (कारण) अज्ञान है। कारणचिदाभासविशिष्टाज्ञानोपादानक होने के कारण कार्य चिदाभास से आत्मवस्तु का वस्तुतः किंचित् संस्पर्श संभव नहीं। इस कार्याभास को अविद्या का परिणाम भी कहा गया है। [23] सूक्ष्मतमादि से स्थुलतमान्त समस्त जगत् कार्याभास प्रोद्भासित होने के कारण कार्याभास व्यवदेशय है। यद्यपि कार्याभास को अचेतनाभास इस अपर पर्याय से अभिहित कर आचार्य सुरेश्वर ने अनात्मरूप कहा है [24] तथापि अनात्मरूप कहने का अभिप्राय इसे आत्मा से व्यतिरिक्त बतलाना है न कि जड़ पदार्थों से अविलक्षण मानना क्योंकि यह जड़ पदार्थों का प्रोद्भासक है और न कि उनके समान पर-प्रोद्भास्य है। विश्वरूप होने के कारण कार्याभास की अनेकता सम्मत है। [25] अज्ञानोपादानक होने के कारण सर्वाभिमान का हेतु है कार्याभास का आश्रय कारणाभास के समान अविद्या नहीं प्रत्युत् अविद्या -विजृम्भित अन्तःकरणादि है।

कारणाभास तथा कार्याभास का अन्तर एवं संबंध - यद्यपि आचार्य सुरेश्वर प्रतिष्ठापित आभास -प्रस्थान में कारणाभास या कार्याभास किसी को आत्मा की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता ,क्योंकि उन्होंने आत्मा और अनात्मा-दो ही पदार्थ निर्धारित किये है [26], तथापि उपर्युक्त आभास -द्वयसंबंधित स्वरूपानुशीलन से यह सुस्पष्ट हो

जाता है कि कारण चिदाभास प्राथमिक तथा नान्तरीयक चिदाभास है और कार्य चिदाभास पश्चाद्भाविक और व्यवहित है। कारणाभास अज्ञानगत एवम् कार्याभास वस्तुगत होता है। एक का उपादान चैतन्य हैतो दूसरे का उपादान अज्ञान। एक चैतन्यस्वभावानुरोधी तथा दूसरा मोहाद्युपाव्यनुरोधी है। अतएव कारण चिदाभास को चेतनाभास तथा कार्य-चिदाभास को अचेतनाभास भी कहा जाता है। एक आत्मरूप हैतो दूसरा अनात्मरूप। कारण चिदाभास की आत्मरूपता का तात्पर्य सत् और चित्स्वरूप आत्मा के अनुकारी होने के कारण अज्ञानादि पदार्थों में सत्ता-स्फूर्ति-प्रदत्त है उसी प्रकार कार्याभास की अनात्मरूपता का अभिप्राय अज्ञानस्वरूप होने के कारण संसार के पदार्थों में सुख -दुःख मोहादि हेतुत्वापादकत्व है। सुरेश्वर के ग्रन्थों के परिशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि कारणाभास क्रिया-कारक-फलात्मक कार्याभास की कारणता का एक सहायक तत्व है। कारण चिदाभास और कार्य चिदाभास रूप में आभास द्वेविध्य के वर्णन से यह नहीं कहा जा सकता कि आभास के ये दो भेद हैं क्योंकि एक ही चिदाभास जब अज्ञान में आभासित होता है तब उसे कारणाभास कहते हैं। और जब अज्ञान के कार्यों में प्रतिफलित होता है तब उसे कार्याभास कहते हैं।

उपसंहार - इस प्रकार स्पष्ट है की आभासवाद में जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध पर विचार किया गया है | आचार्य शंकर ने जीव को चैतन्य का आभास माना है | उनके शिष्य आभासवाद के प्रवर्तक सुरेश्वराचार्य के मत में जीव चैतन्य का आभास रूप होने के कारण मिथ्या है। उनके मत में ईश्वर भी जीव के समान आभास रूप होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। सुरेश्वराचार्य ने अविद्या में चैतन्य के आभास को ईश्वर तथा बुद्धि में चैतन्य के आभास को जीव माना है। इस प्रकार इश्वर और जीव दोनों ही आभास रूप होने के कारण अनिवर्चनीय एवं मिथ्या है| सुरेश्वर के ग्रन्थों के परिशीलन के पश्चात् आभास के उक्त द्विविध रूप से यह भी स्पष्ट हुआ है कि कारणाभास क्रिया - कारक-फलात्मक कार्याभास की कारणता का एक सहायक तत्व है। कारण चिदाभास और कार्य चिदाभास रूप में आभास द्वेविध्य के वर्णन से यह नहीं कहा जा सकता कि आभास के ये दो भेद हैं क्योंकि एक ही चिदाभास जब अज्ञान में आभासित होता है तब उसे कारणाभास कहते हैं और जब अज्ञान के कार्यों में प्रतिफलित होता है तब उसे कार्याभास कहते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

- भारतीयदर्शन, डॉ आनन्द प्रकाश त्रिपाठी , मैसर्स यूनिवर्सिटी बुक हाउस प्रा.लि. , जयपुर , २००६ , पृ०२
- वेदान्तसार, डॉ सत्य नारायण श्री वास्तव्य , चौखम्भाविद्याभवन , वाराणसी, २०१९.
- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य (रत्नप्रभाटीकासहिता) अनु०यतिवर श्री भोले बाबा, भारतीय विद्या प्रकाशन, नई दिल्ली, २००४.
- ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, सम्पा० कन्हैया लाल जोशी (भामती, कल्पतरु, परिमल, टीकाओं सहित), परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली१९८२.
- चतुःसूत्री ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् (ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका हिन्दीव्याख्यासहित), व्या० आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि, चौखम्भाविद्याभवन, वाराणसी, १९६६.
- बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक (आचार्य सुरेश्वर कृत) , आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना, १९९२.
- बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य) वार्तिक ,(सं.१९८८, वाराणसी, महेश रिसर्च इंस्टिट्यूट, सुब्रह्मण्यशास्त्री.एस.
- बृहदारण्यकसम्बन्धभाष्य वार्तिक-मु, (आचार्यसुरेश्वरकृत) श्री दक्षिणामूर्ति मठ.प्रकाशन वाराणसी ,
- मिश्र, सत्यदेव, अद्वैतवेदान्त में आभासवाद, इन्दिरा प्रकाशन, पटना, १९८६.
- शास्त्री, सत्यदेव, भामती तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन, भारतीप्रकाशन, इलाहाबाद, १९७२.
- तत्त्वचंद्रिका) पंचीकरणवार्तिक विवरण टीका,(रामतीर्थकृत.१९३० ,बम्बई ,गुजराती प्रिंटिंग प्रेस ,
- नैष्कर्म्य सिद्धि,(हिरियन्ना संपादिता ०प्रो):सुरेश्वराचार्य.१९२५ मैसूर ,
- नैष्कर्म्यसिद्धि ,(ज्ञान उत्तम मिश्र कृत चन्द्रिका संहिता) जैकोब ०ए ०कर्नल जी ०सम्पा ,चौखम्भा विद्याभवन ,वाराणसी , १९९२ .

- Ranganathananda, Swami, The Message Of The Brihadaranyaka Upanishad, Advaita Ashrama Publication, Kolkata, २००८.
- Sambandhavartika of surcavaracharya,T.M.P.Mahadevan(ed. By), madras, १९५८
- Indian Philosophy, S. Radha Krishnan, London, १९२७.
- An Introduction to Advaita Philosophy, Sri KokileshwarShashtri, Calcutta, १९२६.

सन्दर्भ

1. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक ४२७.
2. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक ४२७.
3. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक ४३६.
4. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।३।५०
5. छान्दोग्योपनिषद शांकर भाष्य ६।३।२
6. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक२।३।१९१
7. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक२।३।२१-२२
8. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक १३२९ .
9. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ३, वार्तिक ५३ .
10. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय १, ब्राह्मण ३, वार्तिक ११७४,७३ .
11. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ३, ब्राह्मण ४, वार्तिक १५१ ., अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ८३४.
12. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ११७४ .
13. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ११७४ .
14. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ४१५.
15. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक ३९० .
16. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ३५५,९९ तथा अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक ८३४ .
17. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक ४२४
18. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ४१५.
19. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ४१४ .
20. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ४१६,
21. पंचीकरणवार्तिकविवरणपररामतीर्थकृततत्त्वचंद्रिकापृष्ठ०३३.
22. नैष्कर्म्य सिद्धि:,अध्याय २, पृष्ठ ३७ .
23. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, वार्तिक ३९४ .
24. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, अध्याय २, ब्राह्मण ४, वार्तिक ४२४ .
25. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक,अध्याय १, ब्राह्मण २, वार्तिक१५७; ब्राह्मण ४, वार्तिक१३२८; अध्याय १, ब्राह्मण ४, वार्तिक४२५तथाअध्याय ३, ब्राह्मण ४, वार्तिक१०५.
26. नैष्कर्म्य सिद्धि:, अध्याय ३ पृष्ठ१०४ .

संगोष्ठी प्रमाण पत्र

VARDHMAN MAHAVEER OPEN UNIVERSITY, KOTA

Rawatbhata Road, Kota (Raj.)

One Day National Seminar

On

Contribution of Pt. Jawaharlal Nehru in making Modern India

November 14, 2019

This is to certify that Prof./Dr./Mr. निधि जैन

actively participated in the One Day National Seminar on "Contribution of Pt. Jawaharlal Nehru in making Modern India "on November 14, 2019 organized by Vardhman Mahaveer Open University, Kota as a Delegate/Keynote Speaker/ Chairperson of a session.

He/ She has presented a Research Paper entitled. भारतीय ज्ञान परम्परा के वाहक पं. जवाहर लाल नेहरू (भारत - की खोज नामक पुस्तक के विशेष संदर्भ में)

(Prof. (Dr.) R. L. Godaraa)
Vice- Chancellor

Dr. (Smt.) Kshamata Chaudhary
Convener

Dr. Kapil Gautam
Organizing Secretary

VARDHMAN MAHAVEER OPEN UNIVERSITY, KOTA

Rawatbhata Road, Kota (Raj.)

One Day

National Symposium

On

Gandhian Philosophy & Present Educational Scenario

November 19, 2019

This is to certify that Prof./Dr./Mr./Ms ....Nidhi Jain, Research Scholar, VMOU, Kota.... actively participated in the One Day National Symposium on "Gandhian Philosophy & Present Educational Scenario "on November 19, 2019 organized by Vardhman Mahaveer Open University, Kota as a Delegate/Keynote Speaker/ Chairperson of a session.

Prof. (Dr.) R. L. Godaraa
(Vice- Chancellor)

Dr. Anil Kumar Jain
(Convener)

Dr. Keerti Singh
(Organizing Secretary)

Certificate of Participation

COVID-19 AWARENESS QUIZ

This is to certify that

NIDHI JAIN

has participated in the e-quiz on Covid-19 awareness organized by

Lal Bahadur Shastri Institute of Technology and Management, Indore

Prof. Sheetal Chhabra
Coordinator

Dr. Alok Mittal
Director

Certificate No : JRRSU/D D /24-05-2020/032

National Level Webinar

Organized by Department of Darshan And IQAC

Jagadguru Ramanandacharya Rajasthan Sanskrit University

Jaipur

CERTIFICATE

This is to certify that **Nidhi Jain** of **VMOU, Kota** has participated and delivered a lecture in the National Level Webinar entitled **"Role of Ramanand Darshan in Indian Culture and Social Development"** organized by the **Department of Darshan And IQAC**, Jagadguru Ramanandacharya Rajasthan Sanskrit University on **24th May 2020**.

रामेश्वर		
Dr. Rameshwar Nath Dwivedi	**Dr. Subhash Sharma**	**Prof. Anula Maurya**
Convener,	**Convener,**	**Vice Chancellor,**
HOD, Darshan Department	**IQAC**	**J.R.Rajasthan Sanskrit University**

Deola Education Society's CLBED8-CE001210

Affiliated to SPPU NAAC B+ Grade

Kar. Ramaraoji Aher Arts, Science & Commerce College

Deola-423102, Dist: Nashik, Maharashtra, India

E-Certificate of Participation

This is to certify that, NIDHI

of Vardhman mahveer open university

College/Institution has participated in "Corona Awareness Programme" and "Survey on Impact of Covid – 19 Pandemic on Indian Economy" Conducted by Department of Economics.

DATE :-
14-5-2020

Dr.Jaywant Bhadane
Head,
Department of Economics

ID No. PU/NS/ASC/022 (1978)

Prof. Hitendra Aher
Principal.
Kar. Ramraoji Aher. Arts, Sci & Comm. College, Deola (Nashik)

CERTIFICATE FOR "काल-परिचयात्मक स्पर्धा - 17"

This is to certify that

Mr. / Ms. / Mrs. NIDHI JAIN

HOTA, VMOU

has actively participated and successfully completed the online quiz on

"काल-परिचयात्मक स्पर्धा - 17"

on "5/29/2020", with a passing score of 44%

Certificate ID JVQ3OH-CE000230

Maheshkumar C Bhatt
Quiz Coordinator

VMOU/SOCE/20/1368 (1-347)

NATIONAL WEBINAR

On

"CHALLENGES AND PROSPECTS OF MEDIA DURING COVID-19 PANDEMIC"

June 3, 2020

Organised by

Department of Journalism

Vardhman Mahaveer Open University, Kota (Rajasthan) 324010

Certificate

This is to certify that Prof./ Dr./Mr. /Mrs. NIDHI JAIN has participated / attended / delivered lecture in the National Webinar on organised by the Department of Journalism, Vardhman Mahaveer Open University, Kota (Rajasthan) on June 3, 2020. He/She has successfully completed the Webinar

Prof. R.L. Godaraa
Patron
Vice-Chancellor

Dr. Subodh Kumar
Convener
Director, SOCE

Dr. Patanjali Mishra
Organising Secretary
Dy. Director (Research)